[illegible]७ प्रतिशत परीक्षार्थी उत्तीर्ण

[illegible] श्रेणी—१९८ २०५ २०७ [illegible]

[illegible]लिया बाजार

[illegible] श्रेणी—२१८ग २२०ग रस्मा [illegible] २२६ २२८ २२२ग [illegible]

[illegible] श्रेणी—२३० २३५ २४२ [illegible]

[illegible]था नाला

[illegible] श्रेणी—२४८ग वि २५०ग [illegible] २५४ २५९ २६१ २६८ [illegible]

[illegible] श्रेणी—२४९ २६६ २६८ [illegible] २५४ २६५ २६६ २७२ २७३ २८० ।

[illegible]न्या स्कूल हरैया

[illegible] श्रेणी—२८५ २८७ ग्रा वि ।

सल्टौआ

[illegible] श्रेणी—२९० ३०२ग ३०२ [illegible] ३१५ग ३१६ग ३१९ग ३२० [illegible] ३२४ग ३२८ ।

[illegible] श्रेणी—२९२ २९२ २९३ [illegible] ३०४ ३०९ ३१० ३११ ३१८ [illegible] ३२९ ३३० ।

फत्तानगंज

[illegible] श्रेणी—३३७ग अ ३४ ग [illegible]

[illegible] श्रेणी—३३२ग ३३१ ३३४ [illegible] ३४३ ३३५ग ३५० ।

[illegible] श्रेणी—३४२ ३४५ ३४८ [illegible]

महराजगंज

[illegible] श्रेणी—३६ग ग्रा वि ।

[illegible] श्रेणी—३५९ग ३६०ग ३६१ग [illegible] ३६५ग ग्रा वि ३६६ग [illegible] ग्रा वि ३७० ३७२ ३७४ग [illegible] ३७३ग ३८०ग अ ३८१ग [illegible]

६७४ ६७६ ६८३ ६८४ग ६८६ग ६९२ ६९३ ६९४ ६९५ ६९६ ६९८ ६९९ ७००ग ७०३ग ७०५ ७ १ ७०६ग ७०९ ७१०ग ७१२ ७२० ।

तृतीय श्रेणी—६७७ ६८२ ६९६ ७१५ ७ ७ ।

बघनगर बस्ती

प्रथम श्रेणी—७३४ग ग्रा वि रस्मा व अ ७०७ग ग्रा वि रस्मा व अ ।

द्वितीय श्रेणी—७२५ ७२७ग ग्रा वि अ ७२८ग वि ७३२ग वि अ ७३३ग ७३६ग ग्रा वि ७३६ ७३८ ७३९ ७४० ७४४ रस्मी व ७४७ग रस्मी अ ग्रा वि ७४८ ७४९ग ग्रा वि अ ७५२ ७५४ ७५५ ।

तृतीय श्रेणी—७२६ ७२८ ७२९ ।

आ० स्कूल बस्ती

द्वितीय श्रेणी—७ ७ ७६९ ७६४ ७६६ ७६८ग ग्रा वि ७७४ ७८२ग वि ।

तृतीय श्रेणी—७६० ७८२ग वि ७७८ ७८१ ।

कन्या स्कूल पुरानी बस्ती

द्वितीय श्रेणी—७८७ ७८८ ।

तृतीय श्रेणी—७८६ ७८९ ७९० ।

महसों

प्रथम श्रेणी—७९४ ।

द्वितीय श्रेणी—७९९ ८००ग ८०१ग्रा वि ८०२ ८०३ग्रा वि ८०४ ८०८ ८०९ग्रा वि ८१२ग ८१३ ८१५ग ८१८ ८२०ग ग्रा वि ।

तृतीय श्रेणी—८०७ग्रा वि ।

बांसी

प्रथम श्रेणी—८२०ग ।

द्वितीय श्रेणी—८२७ग ८३० ८३१ग ८३६ग ८४२ ८४७ ८४८ग ८५० ८५४ ८७०ग ८७१ग ८९५ग ८९८ग ८९९ ९०३ग ९०५ग ९०८ ९१३ग ९१४ग [illegible]

[illegible] १२७०ग १२९८ग [illegible] १२१०ग १२९५ग ।

तृतीय श्रेणी—१२४२ १२[illegible] १२५६ १२६० १२६२ [illegible] १२६९ १२९१ ।

बेलवाह

प्रथम श्रेणी—१३९६ग ग्रा वि ।

द्वितीय श्रेणी—१३९८ १४०३ १४०७ग [illegible] १४०९ १४१० १४१३ १४१४ [illegible]

तृतीय श्रेणी—१४०१ १४[illegible] १४१३ १४१५ १४३० [illegible] १४२६ १४२९ ।

जगदीशपुर

द्वितीय श्रेणी—१४३[illegible] १४३२ [illegible] १४३४ [illegible] १४३७ १४ [illegible] ।

तृतीय श्रेणी—[illegible]

[illegible]

द्वितीय श्रेणी—[illegible] १४४८ [illegible] १४६२ १४६[illegible] ।

तृतीय श्रेणी—[illegible] १४५७ १४५९ [illegible]

[illegible]

प्रथम श्रेणी—१४९४ग १४८०ग ग्रा वि १४८७ग [illegible] १५०६ग ग्रा [illegible] १५२ ग ।

द्वितीय श्रेणी—[illegible] १४७३ग १४७[illegible] १४८८ १४९२ [illegible] वि १४९९ग्रा वि [illegible] १५२० १५२१ [illegible] १५२६ १५२८ [illegible] १ ३०ग्रा वि ।

तृतीय श्रेणी—[illegible] १४९० १५०० [illegible] १५१६ग्रा [illegible]

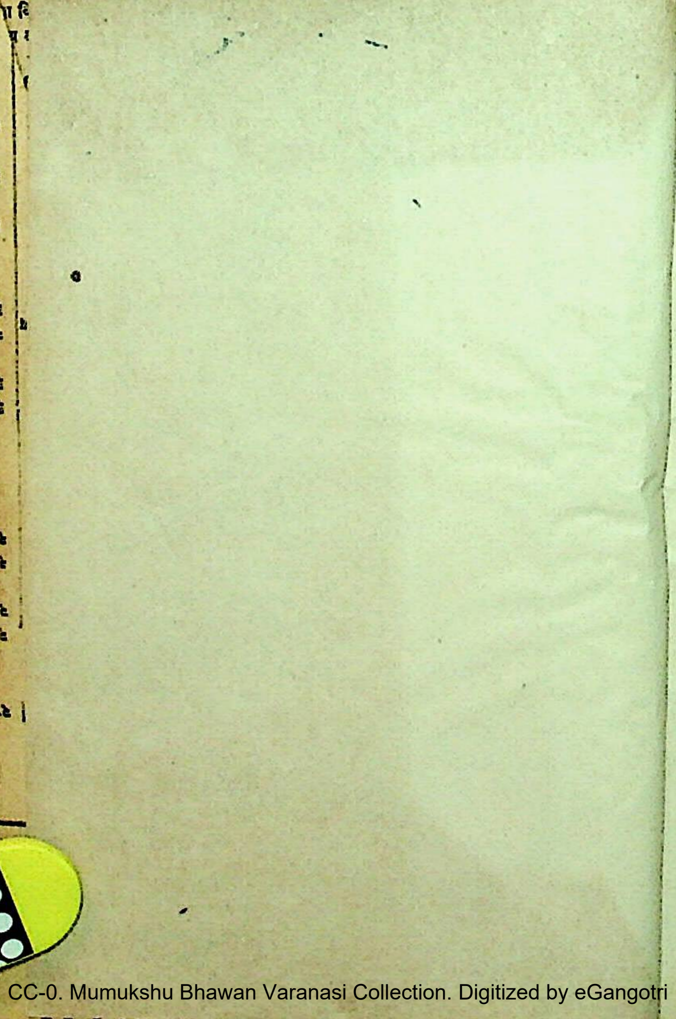
ा वि ४३५ग शा वि ।
श्रेणी—३८८ग ३९९शौ वि
४०७शा वि ४०८ ४०९ ४११ग
वि ४१५ग ४ ६ ४१७ ४१९
वि ४२२शा वि ४३६ग
४३८ ४४० ४४१ग ४४४

गाल्हारी

द्वितीय श्रेणी—१३० १३१ग १३२ग
१ ५ग १४०क १५४ग १५८ग १६४ ।
तृतीय श्रेणी—१२९ १३८ १ २
१४८ १५० १५२ १०६ १५९ १६० १६१
१६२ १६६ १६८ १६९ १७० ।

शरीर
द्रष्टा
ते हुए
रना ।
न्त के
चना ।
न पर
ना ।
नहीं
नाशी
यह
तू
ांकों
है
है

का जूनियर





श्रीविचारसागरदर्पण

लेखक
श्रीस्वामी मनोहरदासजी महाराज





प्रकाशक
श्री वेदान्त प्रचार मण्डल, अजमेर।

मिलने का पता :—

[१] श्रीगुलाबचन्द भैरवनारायण
टिम्बर मर्चेन्ट नया-बाजार अजमेर।
[२] आत्मदर्शन कार्यालय, अजमेर।
[३] सेठ हेमनदास शामदास छोटी चौपड़ जयपुर
[४] श्रीढालूमल सेवकराम लकड़ी के टाल वाला
शाहगंज पोस्ट आफिस के समीप आगरा
[५] श्रीटीजाराम धर्मदास; ब्लॉक नं० ६३८ भाग
२१ कल्याण कैम्प नं० ३ बम्बई



सं० २०११ (सन् १९५४ ई०)
प्रथम संस्करण १०००

मूल्य दो रुपया २)

Printed by Shri Melleram M. Vaswani at the
Sunder Printing Press, Kaiserganj Ajmer
and published by
Shree Bhairava Narayan Secretary Shree Vedanta Prachar
Mandal, Ajmer.

ज
६४३

सम्मति

हिन्दीभाषाभाषी, ब्रह्मनिष्ठ पंडितप्रवर स्वामी श्रीनिश्चलदासजी महाराज से अपरिचित नहीं होंगे। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे फिर भी उन्होंने अपनी दो विख्यात रचनाएँ "विचार सागर" और 'वृत्ति प्रभाकर" हिन्दी भाषा में लिखीं। ये दोनों पुस्तकें अपने विषय में बेजोड़ हैं। उसी विचारसागर ग्रन्थ का आश्रय लेकर विचारसागरदर्पण का संकलन ब्रह्मचारी मनोहरलालजी ने किया है।

"विचारसागरदर्पण" 'विचारसागर' का ही रूपान्तर है। विचारसागर की भाषा प्राचीन पद्धति की है। आधुनिक हिन्दी को पढ़ने वाले व्यक्ति, उसके पढ़ने तथा समझने में कठिनाई अनुभव करते हैं। उक्त कठिनाई के निवारण के लिये ही ब्रह्मचारीजी ने यह प्रयास किया है। आपने "विचार सागर" के गद्य-भाग को आधुनिक हिन्दी में अनुदित कर सर्व साधारण को समझने का पथ प्रशस्त कर दिया है।

इसका नामकरण भी अन्वर्थ ही समझना चाहिए। जैसे दर्पण में व्यक्ति अपने प्रतिबिंब को स्पष्ट रूप में देख सकता है उसी तरह इस दर्पण में भी "विचार

सागर" का प्रतिबिंब सम्यक्तया देखा जा सकता है। "विचारसागर" का पद्य भाग प्रायः छोड़ दिया गया है। उसमें से बहुत कम इस दर्पण में स्थान पा सका है। गद्य भाग का भी कहीं कहीं पूरा का पूरा अनुवाद नहीं कर, भावानुवाद किया गया है। जिससे उपयुक्त संदर्भ को समझने में तो कमी रहे नहीं तथा विस्तार का कुछ संक्षेप हो जाय।

जो सज्जन 'वेदान्त दर्शन' के अद्वैत सिद्धान्त जानने की आकांक्षा रखते हैं उनके लिए दर्पण, दर्पण वत् ही परम सहायक सिद्ध होगा। स्वामी निश्चल-दासजी महाराज ने इस ग्रन्थ का निर्माण इसी उद्देश्य से किया था कि जो जो जिज्ञासु संस्कृत भाषा को न समझने के कारण वेदान्त सिद्धान्त के ज्ञान से विहीन रह जाते हैं उनकी कठिनाई इस ग्रन्थ से सर्वथा दूर हो जाय। उसी ग्रन्थ की भाषा सम्बन्धी कठिनाई का परिहार कर ब्रह्मचारीजी ने आध्यात्मिक-ज्ञान-जिज्ञासुओं के लिए बहुत उपादेय कार्य सम्पन्न कर दिया है। तदर्थ ब्रह्मचारीजी उन सभी के धन्य-वादार्ह हैं। मैं आत्म-जिज्ञासुओं से निवेदन करता हूँ कि वे इस 'विचारसागरदर्पण' का अवश्य अध्ययन मनन कर अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करें। हरि ओ३म्।

सं० २०१० फा० शु० २-शुक्र
श्रीदादूमहाविद्यालय-जयपुर

मंगलदास स्वामी
(संचालकश्रीदादूमहाविद्यलय-जयपुर)

सम्मति

संसार में प्राणीमात्र सुख-प्राप्ति की चेष्टा आमरण करता रहता है। अधिकांश लोगों को जीवनावधि समाप्त होने तक इस सत्य का ज्ञान नहीं होता कि शाश्वत सुख अथवा प्रापंचिक दुःखों से निवृत्ति ऐहिक वस्तुविषयभोग से नहीं मिल सकती। परन्तु कुछ ऐसे लोग होते हैं जिनकों कि संसार के क्षणभंगुर सुखों का अनुभव करने के पश्चात् उनकी दृष्टि जीवन-पूर्ति के लक्ष्य की ओर जाती है। ऐसे लोगों के लिए महात्मा मनोहरलालजी द्वारा लिखित "विचारसागर-दर्पण" बहुत हितकर होगा। इस ग्रन्थ में लेखक ने वेदान्तसार को प्रश्नोत्तर के रूप में सात पाठों में वाचकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है।

ॐ। कि महात्माजी आरम्भ में ही कहते हैं:— "इस ग्रन्थ का विषय जीव और ब्रह्म की एकता है" इस छोटे ग्रन्थ का रूप व्यापक है। गीता, उपनिषद्, योग-शास्त्र, रामायण, और महाभारत इन सब ग्रन्थों का सार इसमें पाया जाता है। दर्शन शास्त्र के भिन्न भिन्न मतवादियों-जैसे सांख्य, द्वैतवादी और नैयायिकों की महात्माजी ने मार्मिक आलोचना की है। विषय गूढ़ होते हुए भी लेखक ने अपनी सरल तथा

ओजस्वी लेखन-शैली से व्यावहारिक दृष्टांतों द्वारा प्रकाश डाला है। स्वस्थ शरीर धर्म का सबसे बड़ा साधन है; इस उक्ति के अनुसार महात्माजी ने एक अध्याय में आत्म-जिज्ञासु के लिये मिताहार, व्यायाम, योगासनाभ्यास इत्यादि अनुशासन के विषय संक्षिप्त रूप में समझाए हैं।

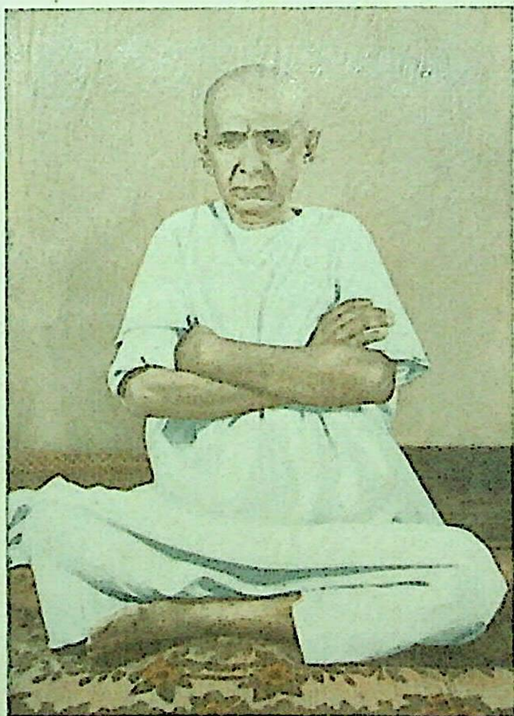
भाषा शुद्ध, सुन्दर और सरल है। स्थान स्थान पर गूढ़ शब्दों का अनुवाद दिया हुआ है।

मुझे विश्वास है कि महात्माजी की रचना उन कार्य-ग्रस्त लोगों के लिये जिनको वेदोपनिषद् आदि मूल ग्रन्थों को पढ़ने का अवकाश नहीं मिलता या जिनको संस्कृत भाषा का पर्याप्त ज्ञान नहीं है, उनके लिये यह अत्यन्त ही लाभदायक सिद्ध होगी।

अजमेर
ता० २१-१-१९५४

आ० द० पण्डित
मुख्य आयुक्त (चीफ़ कमिश्नर)
अजमेर

सद्गुरु



श्रीमत्स्वामी लीलाशाहजी महाराज
के
चरणों में

ओ३म्

दो शब्द

मैंने श्रीविचारसागरदर्पण को पढ़ा है। इसमें कोई संशय नहीं है कि लेखक ने परिश्रम करके, मूल विचार-सागर का निचोड़ निकाल कर इस पुस्तक में भर दिया है। इससे जिज्ञासु सज्जनों का अत्यन्त हित होगा; और जिन जिज्ञासुओं को मूल विचारसागर के अध्ययन करने में जो भी कठिनाइयाँ आती हैं, वे सब इस दर्पण के पढ़ने व विचार करने से दूर हो जायँगी। अतः यदि इस पुस्तक के पढ़ने के बाद, मूल विचारसागर का अध्ययन करना होगा तो सम्भव है कि श्रीमूलविचारसागर शास्त्र के अभिप्राय का सुगम रीति से ग्रहण हो सकेगा। श्रीमूलविचारसागर*

*धन्य हैं श्रीस्वामी निश्चलदासजी महाराज जिन्होंने हिन्दी भाषा के जानने वाले आत्मज्ञान के इच्छुक मुमुक्षु सज्जनों के लिये अति उत्तम वेदान्त का सुन्दर ग्रन्थ बनाया है, जिसके समान हिन्दी में वेदान्त का ऐसा अद्भुत ग्रन्थ कोई भी नहीं है।

श्रीरवीन्द्रनाथ की आत्म कथा में लिखा है कि जिसका

हिन्दी में श्रीस्वामी निश्चलदासजी महाराज ने रचा है। जो महान् विद्वान् ब्रह्मनिष्ठ थे। इस शास्त्र में वेदान्त की प्रक्रिया से अनेक युक्तियों द्वारा वेद शास्त्रों के सार 'जीव ब्रह्म की एकता' का अच्छी प्रकार से कथन किया गया है। जिसके अध्ययन करने से अधिकारी सज्जनों की वृत्ति वास्तव में ब्रह्माकार हो जाती है; अतः केवल यह पुस्तक (विचारसागरदर्पण) पढ़ कर सन्तोष करके बैठ जाना ही पर्याप्त नहीं, अपितु श्रीस्वामी निश्चलदासजी महाराज के रचे हुए श्रीविचारसागर ग्रन्थ का किसी आत्म-अनुभवी महानुभाव दिव्य दृष्टि वाले दयालु से अधिकारी जनों को अध्ययन करना उचित है। श्रीविचारसागर हिन्दी भाषा के अतिरिक्त, इंग्लिश, उर्दू, गुजराती, सिन्धी, तेलगु, तामील, कन्नड़ी इत्यादि भाषाओं में भी प्रकाशित हुआ है।

मन्दसौर (मध्यभारत) } (स्वामी) लीलाशाह
संवत् २०१० पौष कृष्णा सप्तमी

स्वयं अच्छी तरह से अनुभव किया है उसे यदि दूसरों के लिये अनुभवगम्य बना दिया जाय तो लोग उसका सम्मान करते हैं। अपनी स्मृति में जो चित्र के रूप में खिल उठा है उसे शब्दों में यदि खिला दिया जाय तो वह साहित्य में स्थान ग्रहण करने के योग्य बन जाता है।



* भूमिका *

श्री 'विचारसागरदर्पण' की भूमिका लिखने के लिए मुझ से कहा गया। इसे मैं अपना सौभाग्य ही मानता हूँ। मैं एक साधारण गृहस्थी हूँ। इसकी भूमिका के लिए किसी विद्वान्, ज्ञानी, योगी या तपस्वी का चुनाव होना चाहिए था। इन सब योग्यताओं के अभाव में मेरे दो शब्दों का क्या मूल्य होगा, यह मैं नहीं जानता। दर्पण के प्रकाशकों का मेरे प्रति प्रेमपूर्ण पक्षपात ही इसका जुम्मेदार है। अस्तु।

मैंने इस पुस्तक को कहीं-कहीं ध्यान से और अधिकांश सरसरीतौर पर देखा। मुझे कहना चाहिए कि यह 'गागर में सागर' भरने का काफी सफल प्रयत्न है। ज्ञानग्रन्थों में स्वामी श्री निश्चलदासजी के 'विचार-सागर' का बड़ा महत्त्व है। इतनी सरल भाषा में वेदान्त का सांगोपांग वर्णन शायद ही किसी दूसरे ने किया हो। उसका भी यह 'दर्पण' है, जिसको श्रीब्रह्मचारी मनोहरलालजी ने बड़ी योग्यता और परिश्रम से जिज्ञासु और साधकों के लिए तैयार किया है। उन्होंने, जहां तक बुद्धि की पहुँच है, यह समझाने

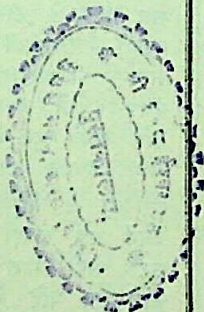
का प्रयत्न किया है कि सब में एक ही आत्मा का निवास है। साधक-बाधक सभी दृष्टियों से इस तथ्य का निरूपण किया है। जहांतक बुद्धि के परे, अनुभव का सम्बन्ध है, योग और योगाभ्यास का भी यथोचित विवेचन किया गया है, जिससे ब्रह्मप्राप्ति के इच्छुकों को काफी सहायता मिलेगी। ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मप्राप्ति दोनों के इच्छुकों के लिए यह पुस्तक अच्छी मार्गदर्शिका सिद्ध होगी, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है।

आत्म-ज्ञान और आत्म-साधना केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि व्यावहारिक जीवन में सफलता पाने के लिए भी आत्म-सुख के लिए नहीं, सांसारिक या व्यावहारिक सुख के लिए भी आवश्यक है। जो इन दोनों को एक दूसरे से पृथक् मानते हैं वे मेरी समझ से, भूल करते हैं। जिसे हम व्यावहारिक या सांसारिक जीवन कहते हैं वह आत्मिक जीवन का वाह्य या लौकिक रूप ही है। जिस प्रकार मन की उपेक्षा करके शरीर की साधना नहीं की जा सकती उसी प्रकार आत्मा की उपेक्षा करके लोक-व्यवहार सफलतापूर्वक नहीं चलाया जा सकता। आत्म-सिद्धि के बाद मनुष्य, समाज, राष्ट्र और संसार का काम चलाने के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होता है, इसलिए भी ऐसे ग्रन्थों का पठन और मनन न केवल साधु बल्कि प्रत्येक विद्यार्थी और गृहस्थ के लिए भी आवश्यक है। इस उद्देश्य की सिद्धि में यह ग्रन्थ बहुत हद तक सहायक होगा, ऐसा मुझे विश्वास है।

आशा है, इस ग्रन्थ को अपनाकर हिन्दी के पाठक, ब्रह्मचारी श्रीमनोहरलालजी को ऐसे और भी उपयोगी ग्रन्थ सरल भाषा में लिखने की, प्रेरणा देंगे।

Chief Minister's Residence
AJMER
९ मार्च १९५४

हरिभाऊ उपाध्याय
मुख्य मंत्री
अजमेर





प्राक्कथन

इस विचारसागरदर्पण के प्रकाशित होने का श्रेय अजमेर की जनता को है। मैं अजमेर में सन् १९५३ के तृतीय मास में आया था। श्रीसद्गुरु स्वामी लीलाशाहजी महाराज की आज्ञानुसार, आना-सागर की बारहदरी पर गीता व विचारसागर का प्रवचन होने लगा। यहाँ की जनता को वेदान्त में रुचि रखते हुए देख कर, जोधपुर से मूल विचार-सागर मंगवा कर बांटे गए। इस प्रकार जब स-त्संगियों में विचारसागर का प्रचार होने लगा तब उनमें यह इच्छा उत्पन्न हुई कि यह विचारसागर सरल, खड़ी भाषा में व व्यावहारिक दृष्टान्तों से स्पष्ट करते हुए यदि मेरे द्वारा लिखा जाय तो अच्छा हो। इस प्रकार अजमेरवासियों की इच्छा व भग-वत्प्रेरणा से मैंने इस कार्य को हाथ में लिया और यथाबुद्धि इसे सरल व स्पष्ट बनाने का प्रयत्न किया है।

विचारसागर दो भागों में है। एक पद्य भाग दूसरा गद्य भाग। गद्य भाग पद्य भाग से बड़ा है।

जो पद्य भाग में है उस सारे को महात्मा श्रीनिश्चलदासजी ने विस्तारपूर्वक गद्य भाग में लिख दिया है। अतः यदि कोई श्रीविचारसागर का केवल पद्य भाग पढ़े तो उसे विचारसागर का पूरा बोध नहीं होगा किन्तु यदि केवल गद्य भाग पढ़ा जाय तब तो उस एक भाग से भी पूरा बोध हो सकता है। इसी कारण व ग्रन्थ के बड़े होने के भय से हमने पद्य भाग को सम्पूर्णतया न लेते हुए गद्य भाग को ही लिया है। इसमें जहाँ शास्त्रार्थ के कठिन स्थल आते हैं, जो जन साधारण के बुद्धिगम्य नहीं हैं, उनका सारांश लेने का ही प्रयत्न किया है। पांचवें तरंग के स्त्रीनिन्दा आदि स्थानों को वैसे का वैसा न लेते हुए उसके वास्तविक अभिप्राय ब्रह्मचर्य का ही वर्णन किया है। कहीं कहीं मुख्य प्रसंगों को और अधिक स्पष्ट व प्रामाणिक बनाने के लिये व्यावहारिक दृष्टान्त व गीता, रामायण, उपनिषद्, पंचदशी आदि अन्य शास्त्रों के मूल प्रमाण भी दिये गए हैं। प्रयत्न तो यही किया गया है कि जिस वेदान्त दर्शन को लोग कठिन समझते हैं तथा जिस दर्शन के नाते विदेशी भी भारत को मानते हैं, जैसे डाक्टर गोल्डस्टकर (Dr. Goldstuker) ने लिखा है कि—"The Vedant is the sublimest machinery set into motion by oriental thought" अर्थात् वेदान्त सबसे ऊँचे दर्जे का यन्त्र है, जिसे पूर्वीय विचार धारा ने प्रिवृत्त किया है; वह वेदान्त दर्शन साधारण जनता को सरलता से समझ में आजाय।

इस कृति में मैं कितना सफल हुआ हूँ इसका निर्णय तो आप पाठकगण ही करेंगे।

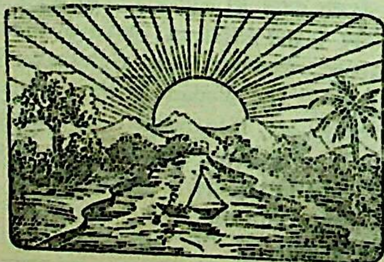
गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः॥

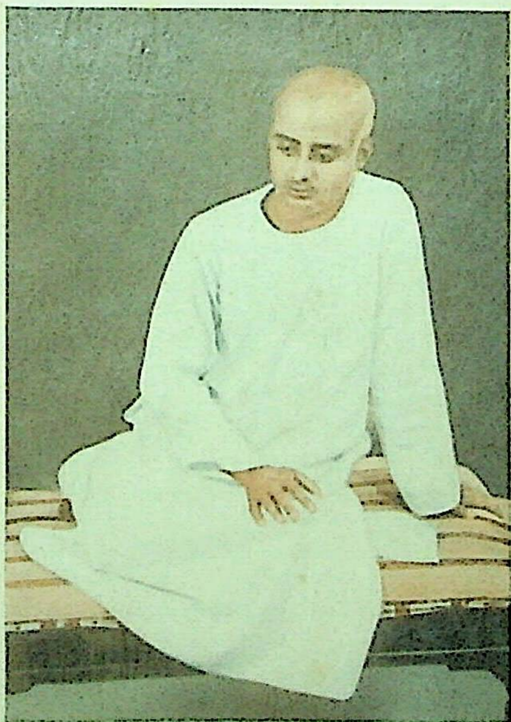
इस उक्तानुसार त्रुटियों का होना असम्भव नहीं है; अतः जिन इतरहितचिन्तक विद्वान् महात्माओं को कोई त्रुटि दृष्टिगोचर हो, वे कृपया इस पुस्तक के पते पर सूचित करके अनुगृहीत करेंगे; जिससे द्वितीय संस्करण में उन अशुद्धियों को परिमार्जित करने का प्रयास किया जाय।

इस श्रीविचारसागरदर्पण से किसी एक को भी यदि आत्मज्ञान हो गया तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

इति शुभम्

अजमेर—संवत् २०१०
माघ शुक्ला त्रयोदशी } मनोहरलाल ब्रह्मचारी





श्रीमत्स्वामी मनोहरदासजी महाराज

* विषय सूची *

नम्बर	विषय	पृष्ठ
८९.	ब्रह्मचर्य ही जीवन है	१३५
९०.	गृहस्थ में ब्रह्मचर्य	१३६
९१.	ब्रह्मचर्य-पालन के नियम	१३७
९२.	पवित्र-संकल्प	१३८
९३.	पवित्र-मातृभाव-दृष्टि	१३९
९४.	सादी रहन सहन	१४०
९५.	सत्संगति	१४१
९६.	सद्ग्रन्थाऽवलोकन	१४२
९७.	घर्षण-स्नान	१४३
९८.	सादा व ताजा अल्पाहार	१४४-१४६
९९.	निर्व्यसनता	१४७
१००.	दो बार मल-मूत्र-त्याग व इन्द्रियस्नान	१४८
१०१.	नियमित व्यायाम, जल्दी सोना व जल्दी जागना	१४९
१०२.	योगासनाभ्यास, उपवास व दृढ़प्रतिज्ञा	१५०
१०३.	सततोद्योग व ईश्वर-भक्ति	१५१
१०४.	एकान्त के आनन्द का वर्णन	१५२-१५३
१०५.	भर्तृ के दृष्टान्त को सिद्धान्त में जोड़ना	१५४
१०६.	द्वैतवादियों का संग त्याज्य है	१५५
१०७.	मिथ्या दुःख का, मिथ्या साधन से नाश	१५६
१०८.	एक राजा का स्वप्न	१५७
१०९.	मिथ्या दुःख का मिथ्या साधन से नाश	१५८
११०.	समसत्ता की आपस में साधक-बाधकता	१५९
१११.	तीन प्रकार की सत्ता	१६०
११२.	सत्ताओं का निरूपण	१६१

नम्बर	विषय	पृष्ठ
१८३.	आत्मा सर्वव्यापक है	२७६
१८४.	आत्मा असंग है	२८०
१८५.	संसार का कर्ता ईश्वर है	२८१
१८६.	ईश्वर एकदेशी नहीं किन्तु व्यापक है	२८२-२८३
१८७.	मोक्ष का साधन केवल ज्ञान है	२८४-२८५
१८८.	ज्ञान में कर्म उपासना की अपेक्षा नहीं	२८६-२८८
१८९.	ज्ञानी को कर्म-बन्धन नहीं होता	२८९
१९०.	ज्ञानी को कर्म उपासना का उपयोग नहीं	२९०
१९१.	प्रारब्धानुसार कर्म ज्ञान के विरोधी नहीं	२९१
१९२.	चेतन दृष्टि से जीव ईश्वर दोनों एक हैं	२९२-२९३
१९३.	शक्ति-वृत्ति व लक्षणा-वृत्ति	२९४
१९४.	व्याकरण मत की शक्ति का खंडन	२९५
१९५.	भट्टमत की शक्ति का खंडन	२९६-२९७
१९६.	सिद्धान्तमतानुसार शक्तिवर्णन	२९८-२९९
१९७.	शक्य व लक्ष्य अर्थ का निरूपण	३००
१९८.	जहति, अजहति व भाग-त्याग लक्षणा	३०१-३०३
१९९.	चारों वेदों के चार महावाक्य	३०४
२००.	जीव व ईश्वर के स्वरूप का वर्णन	३०५
२०१-	आभास-वाद	३०६
२०२.	प्रतिबिम्ब-वाद	३०७-३०९
२०३.	आभास-वाद की श्रेष्ठता	३०१
२०४.	महावाक्यों में भाग-त्याग-लक्षणा है	३११-३१२
२०५.	ओत-प्रोत की विधि	३११
२०६.	अगृधदेव के स्वप्न की समाप्ति	३१४





श्रीविचारसागरदर्पण

* अथ वस्तुनिर्देशरूपमंगलाचरणम् *

विघ्न अर्थात् ग्रन्थ की समाप्ति में प्रतिबन्धक (रुकावट डालने वाले) जो पाप होते हैं, उनकी निवृत्ति के लिये मन, वाणी और शरीर से व्यापार करने को कहते हैं मंगलाचरण करना।

शंका :—विघ्नों के नाश के लिए श्री निश्चलदास जी अपने मन में ही मंगलाचरण कर लेते, ग्रन्थ में दोहे रूप में लिखने की क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर :—(१) यदि श्री निश्चलदासजी मंगलाचरण

को ग्रन्थ में न लिखते, तो आस्तिक लोग (जिज्ञासु) उनको नास्तिक समझकर उनके ग्रन्थ की ओर प्रवृत्त न होते।

(२) अपने पूर्वजलोग प्रत्येक शुभ कार्य को करते समय मंगलाचरण करते थे, इस परम्परा को बताने तथा कायम रखने के लिए मंगलाचरण को ग्रन्थ में लिखना आवश्यक हुआ।

(३) ग्रन्थ के आदि, मध्य तथा अन्त में मंगलाचरण करना चाहिये, शिष्यों को ऐसी शिक्षा देने के लिये उन्हों ने ग्रन्थ के आदि, मध्य तथा अन्त में मंगलाचरण लिखा।

मंगलाचरण (१) वस्तुनिर्देशरूप (२) आशीर्वादरूप तथा (३) नमस्काररूप भेद से तीन प्रकार के होते हैं। वे फिर अवांतर भेद से सत्ताईस (२७) प्रकार के होते हैं। इनका विस्तार "बोधरत्नाकर" आदि ग्रन्थों में लिखा है।

शंका :—कृपया, इन तीनों मंगलाचरणों को संक्षेप में कहिए।

उत्तर :—सगुण अथवा निर्गुण परमात्मा को यहां वस्तु कहते हैं। उसके निर्देश अर्थात् कथन करने को कहते हैं "वस्तुनिर्देशरूपमंगलाचरण" करना। अपने इष्ट

देव अथवा गुरु आदि को नमस्कार करने को कहते हैं "नमस्काररूप मंगलाचरण" करना। अपने अथवा शिष्यों के इष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करने को कहते हैं "आशीर्वादरूप मंगलाचरण" करना।

इनमें से निर्गुणवस्तुनिर्देशरूप मंगलाचरण को पाँच दोहों में यहाँ ग्रन्थ के आरम्भ में ग्रन्थकर्ता करते हैं।

*** दोहा १ ***

जो सुख नित्य प्रकाश विभु, नामरूप आधार।
मति न लखै जिहिं मति लखै, सो मैं शुद्ध अपार॥

संक्षिप्त अर्थ :—जो सुखमय है, जो नित्य है, जो प्रकाश अर्थात् ज्ञानस्वरूप है, जो विभु अर्थात् सर्वव्यापक है, जो नामरूप जगत् का आधार अर्थात् अधिष्ठान है, जिसको बुद्धि नहीं जान सकती, तथा जो बुद्धि को जानता है, अथवा शब्द की शक्तिवृत्ति से बुद्धि जिसको नहीं जान सकती, किन्तु शब्द की लक्षणावृत्ति से बुद्धि जिसको जान सकती है, अथवा मलिन बुद्धि अर्थात् मलविक्षेप दोषसहित बुद्धि जिसको नहीं जान सकती, किन्तु शुद्धबुद्धि फलव्याप्ति से नहीं, परन्तु वृत्तिव्याप्ति से ब्रह्म के आवरणरूप अज्ञान को हटाकर जिस ब्रह्म को विषय कर सकती है; सो शुद्ध तथा अपार अर्थात् देश-काल-वस्तु के अन्त से रहित ब्रह्म मैं हूँ।

* दोहा २ *

अब्धि अपार स्वरूप मम, लहरी विष्णु महेस ।
विधि रवि चन्द्रा वरुनयम, सक्ति धनेस गनेस ॥

अर्थ :—मेरा (कूटस्थ साक्षी) का स्वरूप अब्धि अर्थात् समुद्र की तरह अपार अर्थात् अन्तरहित है। जिस प्रकार समुद्र की लहरें समुद्र से भिन्न नहीं हैं किन्तु समुद्र में ही कल्पित हैं, ठीक उसी प्रकार विष्णु, महेश, विधि (ब्रह्मा), रवि (सूर्य), चन्द्र, वरुण, यमराज, शक्तिदेवी, धनेश (कुबेर), गणेश इत्यादि सब देवता रूप लहरें समुद्ररूप मुझ शुद्ध चेतन से भिन्न नहीं हैं, किन्तु ये सब मुझ में ही कल्पित हैं।

* दोहा ३ *

जा कृपालु सर्वज्ञ को, हिय धारत मुनि ध्यान ।
ताको होत उपाधि तैं, मोमें मिथ्या भान ॥

अर्थ :—जिस कृपालु सर्वज्ञ ईश्वर का मुनिजन हृदय में ध्यान करते हैं, वे ईश्वर, जैसे रस्सी में साँप और स्वप्न में नगर इत्यादि मिथ्या प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार मुझ शुद्ध चेतन में माया-उपाधि से मिथ्या ही प्रतीत होते हैं।

* दोहा ४ *

है जिहिं जाने बिन जगत, मनहु जेवरी सांप ।
नसै भुजग जग जिहिं लहे, सोऽहं आपे आप ॥

अर्थ :---जैसे जिस रस्सी को बिना जाने सांप प्रतीत होता है, वह रस्सी उस कल्पित सांप का अधिष्ठान मानी जाती है। इसी प्रकार जिस ब्रह्म को बिना जाने यह संसार वास्तविक प्रतीत होता है, वह ब्रह्म इस कल्पित संसार का अधिष्ठान है। और जैसे रस्सी रूप अधिष्ठान के ज्ञान से कल्पित अर्थात् अध्यस्त सर्प की निवृत्ति होती है, उसी प्रकार जिस अधिष्ठानरूप ब्रह्म को जानने से इस कल्पित संसार की निवृत्ति होती है, वह अधिष्ठानरूप ब्रह्म मैं स्वयं हूँ।

※ दोहा ५ ※

बोध चाहि जाको सुकृति, भजत राम निष्काम।
सो मेरो है आतमा, काकूं करूं प्रनाम॥

अर्थ :--सुकृति अर्थात् पुण्यात्मा जिज्ञासु जन ज्ञान की इच्छा से अन्तःकरण शुद्ध करने के लिए जिस निर्गुण राम का भजन करते हैं, वह राम मेरा आत्मा अर्थात् स्वरूप ही है, अर्थात् वह राम मैं ही हूँ। फिर मैं किसको प्रणाम करूँ, अर्थात् मुझ से भिन्न और कोई वस्तु है ही नहीं जिसे मैं प्रणाम करूँ।

॥ इति वस्तुनिर्देशरूपमंगलाचरणं समाप्तम् ॥

* प्रथमस्तरङ्गः *

— अथ अनुबन्धसामान्यनिरूपणम् —

ग्रंथ के आदि में हमेशा अनुबंध बतलाए जाते हैं। अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध, इन चारों को अनुबंध कहते हैं। उनमें से पहले उत्तम अधिकारी का वर्णन करते हैं।

*** दोहा ***

मल विछेप जाके नहीं, किन्तु एक अज्ञान।
है चव साधन सहित नर, सो अधिकृत मतिमान॥

जिस पुरुष ने निष्काम कर्म और उपासना के द्वारा मल अर्थात् पाप, जिससे मन में कामादि अशुभ संकल्प उत्पन्न होते हैं, और विक्षेप अर्थात् चंचलता, इन दोनों को दूर कर दिया है और केवल अपने स्वरूप का अज्ञान ही शेष रह गया हो; तथा (१) विवेक, (२) वैराग्य, (३) षट्सम्पत्ति और (४) मुमुक्षा, इन चार साधनों से सम्पन्न हो, वह उत्तम अधिकारी कहलाता है।

(१) विवेक :– आत्मा सत् है और जगत् असत् है,

इस प्रकार सत् और असत् के विवेचन (अलग करने) को विवेक कहते हैं।

(२) वैराग्य :- ब्रह्मलोक तक जितने भी भोग हैं, उनको न चाहना, वैराग्य है।

(३) षट्सम्पत्ति :- नीचे लिखे छः साधनों को मिला कर षट्सम्पत्ति कहते हैं।

(क) शम :- मन को विषयों से रोकना।

(ख) दम :- इन्द्रियों को विषयों से रोकना।

(ग) श्रद्धा :- गुरु और वेद के वचन सत्य हैं, ऐसा विश्वास रखना।

(घ) समाधान :- गुरु के पास वेदान्त का उपदेश सुनते समय मन और किसी जगह नहीं भटके किन्तु उपदेश में ही लगा रहे।

(ङ) उपराम अथवा उपरति :- परमात्मा के अतिरिक्त सब भोग पदार्थों को दुःखरूप समझना तथा उन भोगों की प्राप्ति के हेतुभूत स्त्री, पुत्र, धन आदि साधन सहित सब कर्मों को त्यागना।

(च) तितिक्षा :- भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, मान, अपमान आदि द्वन्द्वों को सहन करने का स्वभाव।

(४) मुमुक्षा :- मोक्ष का स्वरूप है 'सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति और जन्म-मरण रूप बंधन की

निवृत्ति', इस प्रकार के मोक्ष की इच्छा। मलविक्षेप रहित और इन चार साधनों सहित पुरुष उत्तम अधिकारी कहलाता है।

इस प्रकार विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति व मुमुक्षा ये चार, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन ये तीन, तत्-त्वं पद के अर्थ का संशोधन, ये कुल मिलकर आठ ज्ञान के 'अन्तरङ्ग साधन' हैं, और यज्ञादि कर्म तथा उपासना, ये ज्ञान के बहिरङ्ग साधन कहलाते हैं।

विषय :- जीव और ब्रह्म की एकता इस ग्रंथ का विषय है।

प्रयोजन अर्थात् फल— परमानन्द की प्राप्ति और सब दुःखों की निवृत्ति इस ग्रंथ का प्रयोजन अर्थात् फल है।

सम्बन्ध :- (१) ग्रंथ का और विषय का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भाव सम्बन्ध है। ग्रंथ प्रतिपादक (बतलाने वाला) है और विषय प्रतिपाद्य (बतलाने योग्य) है।

(२) अधिकारी और फल का प्राप्य-प्रापक-भाव सम्बंध है। फल प्राप्य (पाने योग्य) है और अधिकारी प्रापक (पाने वाला) है।

(३) अधिकारी का और विचार का कर्तृ-कर्त्तव्य-भाव सम्बंध है। अधिकारी कर्त्ता (करने वाला) है और विचार कर्त्तव्य (करने योग्य) है।

(४) ग्रंथ का और ज्ञान का जन्य-जनक भाव सम्बंध है। विचार द्वारा ग्रंथ ज्ञान का जनक (उत्पन्न करने वाला) है और ज्ञान जन्य (उत्पन्न होने वाला) है।

शंका:— आपने 'दु:खों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति' ग्रंथ का प्रयोजन कहा, सो ठीक नहीं है; क्योंकि आत्मा सदा परमानन्द स्वरूप है, उसके लिए परमानन्द की प्राप्ति करना सर्वथा असम्भव है।

उत्तर:— * दोहा *

"करको कंकन खोयो ऐसो भ्रम भयो जिहिं।"
ज्ञान तैं मिलत इम प्राप्त प्राप्ति जानिये॥"

जैसे किसी के हाथ में कंगन हो, किन्तु उसे भ्रम हो जाए कि "मेरा हाथ का कंगन खो गया।" फिर किसी के बतलाने से उसे कंगन का ऐसा ज्ञान हो जाए कि कंगन मेरे हाथ में ही है, तो वह ऐसा कहेगा कि "मेरा कंगन मिल गया।" इसी प्रकार उसे पहिले से ही प्राप्त कंगन की भी जैसे प्राप्ति कही जाती है, वैसे ही परमानन्द स्वरूप आत्मा में अज्ञान से ऐसी भ्रान्ति होती है कि "आत्मा (मैं स्वयं) परमानन्द स्वरूप नहीं है किन्तु परमानन्दस्वरूप ब्रह्म है। मैं ब्रह्म से भिन्न हूँ, और उपासना करके ब्रह्म को प्राप्त करूँगा।" इस प्रकार की भ्रान्ति बहुत अज्ञ प्राणियों को हो रही है। यद्यपि बहुत पढ़े लिखे लोग भी यों ही कहते हैं, किन्तु वे भी मूर्ख ही हैं। क्योंकि जो जीव और ब्रह्म में भेद

मानते हैं, उनको शास्त्र मूर्ख कहता है। ऐसे पुरुषों को पुण्य कर्मों के उदय से यदि कदाचित् ब्रह्मज्ञानी गुरु से वेदान्त ग्रंथों के श्रवण की प्राप्ति हो जाए, तब श्रवण-मनन-निदिध्यासन से ज्ञान होने के बाद वे कहते हैं कि "हमें शास्त्र और गुरु की कृपा से परमानन्द प्राप्त हो गया।" उनके कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा तो परमानन्दस्वरूप पहिले भी था, किन्तु मेरा आत्मा परमानन्दस्वरूप है, ऐसा मुझे ज्ञान नहीं था; इसलिए वह अप्राप्त सा था; किन्तु अब गुरुद्वारा शास्त्र सुनने से आत्मा का परमानन्दपना मुझे ज्ञात हो गया है, इसलिए परमानन्द की प्राप्ति हो गयी है। तो इस प्रकार प्राप्त की भी प्राप्ति हुआ करती है। अतः परमानन्द की प्राप्ति रूप ग्रंथ का प्रयोजन सम्भव है; इसलिए उचित है, अनुचित नहीं।

जैसे रस्सी में साँप नित्य निवृत्त है (पहिले से ही नहीं है), किन्तु रस्सी के अज्ञान से ही साँप की भ्रान्ति होती है। फिर जब रस्सी का ज्ञान होता है, तो उस कल्पित सर्प की निवृत्ति होती है। इसी प्रकार आत्मा में संसार नित्य निवृत्त है, किन्तु अज्ञान से आत्मा में मिथ्या प्रतीत होता है। उस मिथ्या संसार की निवृत्ति आत्मा के ज्ञान से ही होती है। इसलिए नित्य निवृत्ति की निवृत्ति और नित्य प्राप्त की प्राप्ति इस ग्रंथ का प्रयोजन है।

इति श्रीविचारसागरदर्पणे अनुबन्ध-सामान्य-निरूपणं नामप्रथमस्तरंगः समाप्तः ॥१॥

* द्वितीयस्तरंगः *

* अथ अनुबन्ध-विशेष-निरूपणम् *

प्रथम तरंग में जिन चार अनुबन्धों का सामान्य रूप से वर्णन किया था, उन्हीं का इस द्वितीय तरंग में शंका समाधान सहित कुछ विस्तार से वर्णन करते हैं।

शंका:-- आपने प्रथम तरंग में कहा कि मल-विक्षेप रहित तथा चार साधन सहित पुरुष इस ग्रंथ का अधिकारी है। उन चार साधनों में एक मुमुक्षा भी बतलाई। मुमुक्षा अर्थात् मोक्ष की इच्छा। सो मोक्ष की इच्छा किसी को भी नहीं होती; क्योंकि मोक्ष के दो अंश हैं- (१) कारण (अज्ञान) सहित संसार की निवृत्ति और (२) ब्रह्म की प्राप्ति। इनमें से कारण सहित संसार की निवृत्ति तो कोई नहीं चाहता; किन्तु दुःखों की निवृत्ति सब चाहते हैं। दुःख तीन प्रकार के होते हैं- (१) आध्यात्मिक (रोग, भूख इत्यादि से दुःख)- (२) आधिभौतिक (चोर, शेर, सर्प आदि से दुःख) व (३) आधिदैविक (यक्ष, राक्षस आदि से तथा सर्दी गर्मी आदि से उत्पन्न दुःख)। इन तीनों दुःखों की निवृत्ति अपने अपने उपायों से हो जाती है।

और ब्रह्म की प्राप्ति भी कोई नहीं चाहता। क्योंकि हम उसी वस्तु को प्राप्त करना चाहते हैं जिस

वस्तु का हमने पहिले कभी अनुभव किया हो; परन्तु ब्रह्म का अनुभव तो किसी ने किया ही नहीं है। अतः ब्रह्म को प्राप्त करने की इच्छा भी किसी को नहीं होगी। इससे सिद्ध हुआ, कि कोई भी पुरुष न दो कारण सहित संसार की निवृत्ति चाहता है और न ब्रह्म को प्राप्त करना ही चाहता है. अपितु (वल्कि) सब विषय सुख को ही चाहते हैं, न कि मोक्ष को; अतः मोक्ष की इच्छा न होने से कोई अधिकारी नहीं है, इसलिए यह ग्रंथ बनाना ही निरर्थक है ?

उत्तरः—आपने मोक्ष के प्रथम अंश पर आक्षेप करते हुए कहा कि संसार की निवृत्ति कोई नहीं चाहता, किन्तु दुःखों की निवृत्ति सब चाहते हैं। और वह दुःखों की निवृत्ति अपने अपने उपायों से हो जाती है। किन्तु दवा आदि उपायों से भी दुःखों की निवृत्ति कभी हो जाती है, कभी नहीं भी होती। और यदि हो भी जाती है, तो भी सदा के लिए नहीं होती, तथा सब लोग यह चाहते हैं कि हमारे दुःखों की निवृत्ति ऐसी हो जाए कि दुःख फिर कभी न आएं, अर्थात् सब दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही चाहते हैं। सो जब तक जन्म मरण का चक्कर चलता रहेगा, जब तक शरीरों का धारण होता रहेगा, तब तक दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो सकती। और इसी जन्म मरण के चक्कर को ही संसार कहते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि जब तक कारण सहित संसार की निवृत्ति न होगी, तब तक दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो

सकती; और हम सब दुःखों की निवृत्ति सदा के लिए ही चाहते हैं। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि हम सब कारण सहित संसार की अत्यन्त निवृत्ति ही चाहते हैं।

शंका :--आपने कहा कि दुःखों की निवृत्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक शरीर की निवृत्ति नहीं होती। यह कैसे और यह भी बताओ कि शरीर की निवृत्ति कैसे होगी ?

उत्तर :--देखिये, सब शरीर पुण्य और पाप से ही बनते हैं। देवताओं के शरीरों की उत्पत्ति में अधिक पुण्य हेतु (कारण) पड़ते हैं. और पशु-पक्षी आदि नीच योनियों में अधिक पाप हेतु पड़ते हैं. और मनुष्य में भी जो उच्च हैं उनमें अधिक पुण्य तथा जो नीच हैं उनके शरीरों में अधिक पाप कारण पड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि सभी शरीरों में पाप भी कारण पड़ते हैं; और पाप दुःख के कारण हैं। अतः इससे सिद्ध हुआ कि सभी शरीरों में दुःखों को भोगना ही पड़ता है, अर्थात् जब तक शरीरों की निवृत्ति नहीं होगी, तब तक दुःखों की निवृत्ति भी नहीं हो सकती। और यह शरीर की निवृत्ति (जन्म मरण के चक्कर की निवृत्ति) आत्मज्ञान के बिना नहीं हो सकती और इस ग्रंथ में आत्मज्ञान का वर्णन है; इसलिये यह ग्रंथ सार्थक है।

शंका :--बिना आत्मज्ञान के शरीर की निवृत्ति नहीं होगी, सो कैसे ?

उत्तर :--शरीर बनता है पुण्य पाप कर्मों से और

पुण्य पाप बनते हैं रागद्वेष से। रागद्वेष बनते हैं अनुकूल और प्रतिकूल ज्ञान से (यह मेरे सुख का साधन है, ऐसा समझने को 'अनुकूल समझना' कहते कहते हैं और इससे मुझे दुःख मिलेगा ऐसा समझने को 'प्रतिकूल समझना' कहते हैं)। सो अनुकूल ज्ञान और प्रतिकूल ज्ञान 'भेद-ज्ञान' से उत्पन्न होता है, क्योंकि जिसको हम अपने स्वरूप से भिन्न समझते हैं उसी में अनुकूलता तथा प्रतिकूलता बन सकती है, अपने आप में तो अनुकूलपना और प्रतिकूलपना होता ही नहीं है। यह भेद-ज्ञान अपने स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न होता है, और वह स्वरूप का अज्ञान, बिना स्वरूप को पहिचाने, दूर नहीं हो सकता। जैसे रस्सी का अज्ञान रस्सी के जानने से ही निवृत्त हो सकता है, वैसे ही अपने स्वरूप का अज्ञान भी अपने आपको पहिचानने से ही निवृत्त होगा और अपने आपको पहिचानने को ही 'आत्मज्ञान' कहते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मज्ञान से आत्मा का अज्ञान नष्ट होता है और आत्मा के अज्ञान के नष्ट होने से भेद-ज्ञान (द्वैतज्ञान) की निवृत्ति होती है, और भेदज्ञान के नष्ट होने से ही अनुकूल ज्ञान और प्रतिकूल ज्ञान नष्ट होते हैं। अनुकूल और प्रतिकूल ज्ञान के नष्ट होने से रागद्वेष नष्ट होते हैं। रागद्वेष की निवृत्ति से पुण्य और पाप की निवृत्ति होती है। पुण्य-पाप की निवृत्ति से शरीर की निवृत्ति होती है। अतः यह सिद्ध हुआ कि दुःखों की निवृत्ति के लिये, जिस शरीर की निवृत्ति की आवश्यकता है, वह शरीर की निवृत्ति बिना आत्मज्ञान के नहीं हो सकती।

शंका :- यह तो समझ में आ गया कि मोक्ष का पहिला अंश संसार की निवृत्ति है, और उसको सब चाहते हैं; किन्तु ब्रह्म का जब किसीने अनुभव ही नहीं किया है, तो उसे कौन चाहेगा ?

उत्तर :- आपकी यह शंका ब्रह्म के स्वरूप को नहीं जानने से ही हो रही है। "ब्रह्म नित्य सुख-स्वरूप है," ऐसा वेद का सिद्धान्त है, और सुख का अनुभव सभीने किया है, इसलिए सभी लोग सुख-स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करना चाहते हैं । और यह जो आपने कहा कि सब लोग विषय-सुख को चाहते हैं, सो बात नहीं है, किन्तु सब लोग केवल सुख को ही चाहते हैं। वह सुख चाहे विषयों से मिले, चाहे विना विषयों के- (जैसे सुषुप्ति और समाधि में)। और जो सुख विषयों से मिलता है,वह तो क्षणिक है, और हम लोग तो नित्य सुख अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त करना चाहते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि सब लोग जन्म-मरण रूप संसार की निवृत्ति और नित्य सुख रूप ब्रह्म की प्राप्ति को चाहते हैं; और इसी को ही दूसरे शब्दों में मोक्ष कहते हैं । उसको सब लोग चाहते हैं, अर्थात् सब मुमुक्षु होने के कारण अधिकारी हैं, इसलिए यह ग्रंथ निरर्थक नहीं है ।

शंका :- आपने इस ग्रंथ का विषय, जो जीव-ब्रह्म की एकता बतलाई, वह समझ में नहीं आई; क्योंकि जीव, अविद्या, अस्मिता (बुद्धि और आत्मा की एकता की प्रतीति, सामान्य अहंकार), राग, द्वेष, और अभिनिवेश (मृत्यु के भय से शरीर की रक्षा में

आग्रह) इन पाँचों क्लेशों वाला है, और ब्रह्म इन पाँचों क्लेशों से रहित है। जीव परिच्छिन्न (सीमित) है और ब्रह्म व्यापक है। जीव अनेक हैं और ब्रह्म एक है। ऐसे बिल्कुल विरुद्ध धर्म वाले जीव का ब्रह्म से अभेद (एकता) कैसे होगा ? और यदि हम हठ से जीव ब्रह्म को एक समझने के लिए, जीव को अनेक न समझकर एक मानेंगे तो एक जीव के सुखी दुःखी होने से सभी को सुख-दुःख का भान होना चाहिए; और एक के मुक्त होने से सभी मुक्त होने चाहियें।

उत्तर :- हमारे जीव ब्रह्म की एकता के तात्पर्य को न समझने से ही आपको यह शंका उठ रही है। हम सारे जीव की ब्रह्म से एकता नहीं करते, किन्तु जीव का जो अधिष्ठान, कूटस्थ, साक्षी भाग है, उस साक्षी और ब्रह्म की आपस में एकता करते हैं। और ये जो राग-द्वेष, सुख-दुःख, बन्धन-मोक्ष हैं, ये सब अन्तःकरण के धर्म हैं, और अन्तःकरण अनेक हैं, इसलिए एक के सुखी-दुःखी होने से सब सुखी-दुःखी नहीं होते।

शंका :- आपने एकता करते समय अन्तःकरण इत्यादि को छोड़कर केवल साक्षी भाग से ब्रह्म की एकता बतलाई, सो साक्षी यद्यपि सुख दुःख से रहित है, किन्तु एक नहीं नाना है; क्योंकि जैसे मेरा साक्षी मेरे अन्तःकरण के सुख को और अन्तःकरण के धर्मों को जानता है, वह साक्षी यदि सबमें एक होता, तो सबके अन्तःकरण के धर्मों को भी जानता। किन्तु हम

देखते हैं कि सबका साक्षी अलग अलग अपने अपने अन्तःकरण के धर्मों को जानता है। इसलिए वह एक नहीं अनेक है, और ब्रह्म एक है, ऐसा वेद का सिद्धान्त है। तो फिर साक्षी और ब्रह्म की भी एकता कैसे हो सकती है ?

उत्तर– यह जानना इत्यादि अन्तःकरण के धर्म हैं, न कि साक्षी के। साक्षी तो केवल उस वृत्ति को सत्ता व स्फूर्ति देने वाला तथा उसका प्रकाशक है। उस वृत्ति की उपाधि से उस प्रकाशक चेतन का नाम साक्षी पड़ता है, और वृत्ति का जो नानापन तथा वस्तु को जानना इत्यादि क्रियाएँ हैं, उनका मिथ्या आरोप उस शुद्ध चेतन में होने से हम उस शुद्ध चेतन को भ्रान्ति से जानने वाला तथा अनेक मानते हैं। जैसे महाआकाश एक है, किन्तु हम घड़े की उपाधि से उसे घटाकाश कहते हैं। यदि घड़े अनेक हैं, और कहीं लिये जा रहे हैं, तो बच्चों को ऐसी भ्रान्ति होती है, कि घटाकाश भी अनेक हैं और कहीं लिए जा रहे हैं। किन्तु जैसे अनेकपना और लियाजानापना दोनों घड़े के धर्म हैं और हमें घटाकाश में भ्रान्ति से प्रतीत होते हैं। ठीक इसी प्रकार किसी वस्तु को जानना और नानापना ये सब अन्तःकरण की वृत्ति के धर्म हैं, परन्तु साक्षी में मिथ्या प्रतीत होते हैं। जानने वाली जो अन्तःकरण की वृत्ति है, वह सबकी भिन्न भिन्न है, क्योंकि अन्तःकरण भी सबके भिन्न भिन्न हैं; इसीलिए हम एक दूसरे के सुख-दुःख को नहीं जान सकते;

किन्तु साक्षी जो शुद्ध चेतन है, वह तो सबमें एक है। अतः उस प्रकाशरूप एक साक्षी की ब्रह्म से एकता हो सकती है।

जैसे सामान्य प्रकाश-रूप बिजली सब लट्टुओं में एक है, किन्तु लट्टुओं की उपाधि से जो विशेष प्रकाश बनता है, वह भिन्न भिन्न होता है। लाल लट्टू की उपाधि से लाल, हरे की उपाधि से हरा तथा सफेद की उपाधि से सफेद प्रकाश दीखता है और ये भिन्न भिन्न प्रकाश भिन्न भिन्न पदार्थों को प्रकाशित करते हैं। अब यदि कोई ऐसा कहे कि सामान्य प्रकाशरूप बिजली सब जगह एक है तो जिस समय मेरे इस मकान में जैसा लाल प्रकाश करती है, उसी समय सभी मकानों में मेरे जैसा लाल प्रकाश क्यों नहीं होता, तो हम कहेंगे कि यद्यपि वह सामान्य प्रकाश तो सब जगह एक है, किन्तु मकान को प्रकाशित करना उसका धर्म नहीं है। वह तो केवल लट्टुओं को सत्ता देने वाला तथा प्रकाशित करने वाला है। किन्तु मकान में प्रकाश फैलाने वाले लट्टू सबके भिन्न भिन्न हैं, इसलिए एक लट्टू को जलाने से सब लट्टू नहीं जलते। इसी प्रकार सामान्य-चेतन-रूप साक्षी के एक होने पर भी अन्तःकरण रूप लट्टू सबके भिन्न भिन्न हैं और अन्तःकरण के धर्म भी सबके भिन्न भिन्न हैं तथा उन धर्मों का ज्ञान भी भिन्न भिन्न होता है। जैसे बटन दबाने से पहिले भी, सामान्य बिजली तो मौजूद ही रहती है, किन्तु ज्यों ही बटन को दबाया जाता है त्यों ही

लट्टू के हरे स्वरूप और मकान की वस्तुओं का प्रकाश होता है, वैसे ही इस जाग्रत् अवस्था रूपी बटन के दबने के पहिले भी सामान्य चेतन साक्षी तो मौजूद ही रहता है, किन्तु ज्यों ही जाग्रत् अवस्थारूपी बटन दबता है, अर्थात् ज्यों ही जाग्रत् अवस्था आती है, त्यों ही अन्तःकरण के धर्मों का तथा बाह्य संसार के पदार्थों का ज्ञान होने लगता है। अब यह जाग्रत् अवस्था अथवा स्वप्न अवस्था रूपी बटन जिस जिसका, जहाँ जहाँ और जब जब दबता रहता है, उस उसको वहाँ वहाँ और तब तब ज्ञान होता रहता है, किन्तु साक्षी चेतन तो बिजली की तरह सदैव निर्विकार तथा सामान्य प्रकाश रूप से स्थित (कायम) रहता है। उस साक्षी और ब्रह्म की एकता होती है। और वह साक्षी जीव का लक्ष्यार्थ है। इसी नाते हम जीव और ब्रह्म की एकता का वर्णन करते हैं। वह संगत है असंगत नहीं, अर्थात् उचित है, अनुचित नहीं।

शंका :— आपने परमानन्दस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति और जन्म-मरण रूप संसार की निवृत्ति इस ग्रंथ का प्रयोजन बतलाया था, और यह कहा कि संसार रूपी बन्धन की निवृत्ति आत्मज्ञान से ही हो सकती है, जैसे रस्सी में कल्पित सर्प की निवृत्ति रस्सी के ज्ञान से ही हो सकती है। किन्तु यह बात वहीं घट सकती है जहाँ सर्प मिथ्या हो। सच्चे सर्प की निवृत्ति तो चाहे कितना ही रस्सी का ज्ञान करते रहो, नहीं होगी। इस प्रकार यदि यह संसार भी मिथ्या होता तो इसकी निवृत्ति

आत्मज्ञान से हो सकती। किन्तु यह संसार तो सत्य है, इसलिए इसकी निवृत्ति किसी के ज्ञान से नहीं होगी, क्योंकि जैसे घड़ा बनाने के लिए मिट्टी, कुम्हार, चक्र, डंडे इत्यादि की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार किसी भी वस्तु को मिथ्या सिद्ध करने के लिए पांच कारणों को बतलाने की आवश्यकता पड़ती है :– (१) सत्यवस्तु के ज्ञानजन्य संस्कार—जैसे सर्प की भ्रान्ति उसी को हो सकती है, जिसने पहिले कभी सच्चा सर्प देखा हो, इसी प्रकार यदि संसार से पहिले कोई सच्चा संसार होता तो हम मानते कि उस सच्चे संसार के ज्ञान के जो संस्कार हैं, उनसे इस संसार की भ्रान्ति हो रही है; किन्तु आपके मत में तो ब्रह्म के अतिरिक्त कोई सत्य है ही नहीं, और जब इस संसार से पहिले कोई दूसरा सत्य संसार ही नहीं था तो उसके संस्कार भी न होंगे; तो फिर उसके (इस संसार से पहिले किसी दूसरे सत्य संसार के) संस्कारों के न होने से, इस संसार की भ्रान्ति कैसे हो सकती है? इसलिए यह संसार मिथ्या नहीं, किन्तु सत्य है।

(२) प्रमेय-दोष अर्थात् अधिष्ठान में सादृश्य दोष–जैसे रस्सी जो सर्प का अधिष्ठान है, उसमें सर्प की भ्रान्ति इसलिए होती है कि वह भी सर्प के सदृश लम्बी टेढ़ी रखी हुई है, किन्तु पत्थर में कभी सर्प की भ्रान्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार आत्मा में संसार की भ्रान्ति हम तभी मान सकते हैं, जब आत्मा भी संसार के सदृश हो, किन्तु आत्मा और संसार

तो विल्कुल अंधकार और प्रकाश की तरह आपस में विपरीत स्वाभाव वाले हैं। आत्मा अन्दर है और संसार वाहर है। आत्मा प्रकाशक है और संसार प्रकाश्य अर्थात् प्रकाशित होने योग्य है। इस प्रकार जब दोनों में एक जैसापन नहीं है, तो फिर आत्मा में संसार की भ्रान्ति कैसे हो सकती है ?

(३) प्रमाता का दोष अर्थात् प्रमाता (अन्तःकरण) में भय इत्यादि दोष—जैसे डरपोक आदमी को ही सर्प की भ्रान्ति होती है, न कि शूरवीर को।

(४) प्रमाण का दोष अर्थात् प्रमाण (नेत्र-आदि इन्द्रियों) में धुंधलापन इत्यादि दोष—जैसे रस्सी में सर्प की भ्रान्ति उसी को हो सकती है, जिसके नेत्र में धुंधलापन हो, अथवा कुछ अंधेरे के कारण धुंधलापन हो। किन्तु यहाँ तो ये प्रमाता और प्रमाण दोष दोनों ही नहीं दीखते क्योंकि अन्तःकरण तथा नेत्रादिक इन्द्रियाँ तो सृष्टि के पहिले थी ही नहीं; फिर यह सृष्टि की भ्रान्ति किसको होती है ?

(५) अधिष्ठान के विशेष रूप का अज्ञान अर्थात् अधिष्ठानरूप आत्मा का अज्ञान। सो आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, उसका अज्ञान कैसे हो सकता है, क्योंकि ज्ञान और अज्ञान दोनों प्रकाश और अंधकार की तरह एक दूसरे के विरोधी हैं। और दूसरा जैसे रस्सी में सर्प की भ्रान्ति उसी को हो सकती है जिसको रस्सी रूपी अधिष्ठान के विशेष रूप (सूक्ष्म तन्तु, उमेठापन, वट इत्यादि रस्सीपन) का अज्ञान हो, और

साथ साथ उस रस्सी के सामान्य रूप (लम्बापन, पतलापन, यह-पन और है-पन) का ज्ञान भी हो किन्तु ब्रह्म में तो सामान्यपन और विशेषपन है ही नहीं । वह तो निर्विशेष है । इसलिए जब ब्रह्म का सामान्यरूप से ज्ञान और विशेष रूप से अज्ञान सिद्ध नहीं होता है तो फिर उसमें संसार की भ्रान्ति भी सिद्ध नहीं हो सकती ।

जब यह सिद्ध हुआ कि संसार भ्रान्ति नहीं है, तो फिर इसकी निवृत्ति आत्मा के ज्ञान से नहीं हो सकती; जैसे सच्चे सर्प की निवृत्ति रस्सी के ज्ञान से नहीं हो सकती । यदि सच्चे सर्प को निवृत्त करना है तो डण्डे से भगाना अथवा मारनारूपी कर्म करने की आवश्यकता है । इसी प्रकार इस सच्चे संसार से यदि हम मोक्ष चाहते हैं तो वह कर्म से ही हो सकता है, न कि ज्ञान से; क्योंकि मोक्ष का अर्थ है दुःखों से छूटना । सो जब तक शरीर कायम रहेगा, तब तक मोक्ष नहीं हो सकता , और यह शरीर पुण्य तथा पाप कर्मों का फल है । अब हम नये पुण्य और पाप नहीं करेंगे तो उनका आगे के लिए सम्बन्ध नहीं बनेगा और यदि भूल में कुछ पाप कर्म हो भी जाएँ तो उनका प्रायश्चित्त कर लेंगे, जो प्रायश्चित्त शास्त्र ने असाधारण रूप से (खास खास) बतलाए हैं । और जो पहिले जन्मों के पाप कर्म हैं तथा जिनका हमें पता नहीं कि कौनसा प्रायश्चित्त करें, उनके लिए साधारण प्रायश्चित्त रामनाम का जप, गंगा–स्नान आदि करने

से वे नष्ट हो जाएँगे; तथा जो इस जन्म के और पहिले जन्मों के पुण्य कर्म हैं, हम उनके फल की इच्छा न रखेंगे तो वे अपने आप नष्ट हो जाएँगे। जैसे आप लोग कहा करते हो कि निष्काम कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है, और सकाम कर्म करने से अपना अपना फल प्राप्त होता है। तो हम भी यदि निष्काम हो जाएँगे, तो हमें उनका फल नहीं मिलेगा। बाकी रहे नित्य और नैमित्तिक कर्म, जिनके नहीं करने से पाप लगता है, और करने से कोई फल नहीं होता, उनको तो हम करते रहेंगे; जिससे उनके नहीं करने से जो पाप लगता है, वह नहीं लगेगा।

और जो काम्य कर्म भिन्न भिन्न कामनाओं से किये जाते हैं, वे हम करेंगे नहीं, जिससे हमें किसी लोक इत्यादि की प्राप्ति हो। और जो प्रारब्ध कर्म हैं, उनको हम इसी जन्म में भोग लेंगे।

इस प्रकार करने से जब सब पुण्य-पाप कर्म शान्त हो जायेंगे, तब हमारा अपने आप मोक्ष हो जायगा। अतः ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है। और आपने आत्म-ज्ञान द्वारा इस जन्म मरण रूपी बन्धन की निवृत्ति, जो इस ग्रन्थ का प्रयोजन (फल) बतलाया, सो गलत दीखता है, क्योंकि मोक्ष ज्ञान का फल नहीं किन्तु कर्म का फल है।

उत्तर :– आपने जो, किसी वस्तु को मिथ्या सिद्ध करने के लिए पाँच कारण बताए और कहा कि इनके बिना कोई वस्तु मिथ्या सिद्ध नहीं हो सकती है, सो

ठीक नहीं; क्योंकि इन पांच कारणों के विना भी भ्रान्ति देखी जाती है। आपने पहिला कारण वताया, सत्य वस्तु के ज्ञान के संस्कार; किन्तु यह नियम नहीं है। क्योंकि हम देखते हैं कि जिस पुरुष ने सिनेमा में अथवा किसी चित्र में कोई सर्प देखा हो, जो सत्य नहीं है, तो उसको भी उस मिथ्या सर्प के ज्ञान के संस्कारों से, रस्सी में सर्प की भ्रान्ति हुआ करती है। और इस मिथ्या संसार का प्रवाह तो अनादि काल से चलता आ रहा है। जब नई सृष्टि होती है, तो पहिले की सृष्टि के संस्कार रहते ही हैं, जिन संस्कारों से हमें फिर संसार के सत्यत्व की भ्रान्ति उत्पन्न होती रहती है। जैसे इस जन्म से पहिले जन्म में जो मिथ्या शरीर, पुत्र, स्त्री, इत्यादि भोग-सामग्री थी, उसमें सत्यत्व भ्रान्ति के संस्कारों से, इस जन्म में प्राप्त हुए शरीर पुत्र, स्त्री इत्यादि भोग सामग्री में भी सत्यत्व की भ्रान्ति हो रही है। इससे यह सिद्ध होता है कि, संसार को सत्य समझना भ्रान्ति है; और इस भ्रान्ति की निवृत्ति उसके अधिष्ठानरूप आत्मा के ज्ञान से ही हो सकती है। क्योंकि भ्रान्ति की निवृत्ति अधिष्ठान के ज्ञान से ही हुआ करती है।

आपने दूसरा कारण वताया प्रमेय का दोष अर्थात् अधिष्ठान के सदृशपने का दोष। किन्तु यह भी कोई नियत कारण नहीं है। क्योंकि हम देखते हैं कि सदृशता के विना भी भ्रान्ति हो सकती है; जैसे आत्मा में जाति की भ्रान्ति (जैसे मैं ब्राह्मण हूँ, स्त्री

हूँ, इत्यादि)। आत्मा में जाति की (ब्राह्मणपने आदि की) सदृशता किसी भी प्रकार से नहीं है, तो भी भ्रान्ति तो होती ही है। और जैसे शंख में पीलेपन की भ्रान्ति, मिश्री में कडुवेपन की भ्रान्ति और आकाश में तम्बूपने व नीलेपने की भ्रान्ति होती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि, विना सादृश्य दोष के भी भ्रान्ति हो सकती है।

तीसरा कारण आपने प्रमाता (अंतःकरण) में भय आदि दोष बतलाए। किन्तु यह भी नियम नहीं है। क्योंकि हम देखते हैं कि शूरवीर को भी रस्सी में साँप की भ्रान्ति और विरक्त (लोभ रहित) को भी सीपी में चाँदी की भ्रान्ति हो जाती है।

चौथा कारण आपने बताया था प्रमाण दोष, अर्थात् आँख आदि इन्द्रियों में दोष। किन्तु यह भी नियम नहीं है। क्योंकि हम देखते हैं, कि सभी पुरुषों को आकाश में नीलेपन की, तथा तम्बू के आकार की भ्रान्ति होती है; तो क्या सबकी आँखें खराब हो गयी हैं ? किन्तु यह तो हो ही नहीं सकता कि सबकी आखों में धुंधलापन आ जाए। इससे यह सिद्ध होता है कि विना इन्द्रिय दोष के भी भ्रान्ति हो सकती है।

पाँचवां कारण अधिष्ठान के विशेष रूप का अज्ञान बतलाते हुए, आपने कहा कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इस लिये उसका अज्ञान हो नहीं सकता, क्योंकि ये ज्ञानरूप आत्मा और अज्ञान दोनों परस्पर विरोधी हैं। किन्तु

यह आपका कहना ठीक नहीं है । क्योंकि जैसे लकड़ी में व्यापक सामान्य अग्नि लकड़ी की विरोधी नहीं है, किन्तु विशेष रूप से प्रगट हुई अग्नि ही लकड़ी की विरोधी है, उसी प्रकार आत्मा अर्थात् व्यापक सामान्य चेतन अज्ञान का विरोधी नहीं है, किन्तु अन्तःकरण की वृत्ति सहित चेतन (विशेष चेतन) ही अज्ञान का विरोधी है । जैसे हम देखते हैं कि सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान भी है और सामान्य चेतन भी साक्षी रूप से विराजमान है, किन्तु वहाँ अन्तःकरण की वृत्ति के न होने के कारण विशेष चेतन है नहीं, जो अज्ञान को नष्ट करे । वहाँ तो केवल सामान्य चेतन है, जो अज्ञान का विरोधी नहीं अपितु (वल्कि) प्रकाशक है ।

और आपने यह कहा था कि "जिस वस्तु का सामान्यरूप से ज्ञान हो और विशेष रूप से अज्ञान हो, उसी वस्तु में ही भ्रान्ति होती है, किन्तु आत्मा में तो सामान्य पना और विशेषपना है नहीं। इसलिए उसमें संसार की भ्रान्ति नहीं हो सकती ।" सो आपका यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि किसी भी वस्तु का जो स्वरूप अधिक समय में और अधिक देश में रहता है वह उस वस्तु का सामान्य स्वरूप कहलाता है । और जो स्वरूप कम समय में और कम देश में रहता है, वह उस वस्तु का विशेष-स्वरूप कहलाता है । आत्मा का जो सत् स्वरूप (है-पन) है, वह अधिक समय में और अधिक मनुष्यों को प्रतीत होता है; क्योंकि हम देखते हैं कि ज्ञानी अथवा अज्ञानी, सभी

को, सदा "मैं हूँ", ऐसी अपने "है-पन" की प्रतीति तो होती ही है। इस से यह सिद्ध हुआ कि यह "है-पन" (सत्-पना) आत्मा का सामान्य स्वरूप है और उस सामान्य स्वरूप का ज्ञान सभी को रहता है। और आत्मा का जो चेतन, आनन्द, नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध और नित्य मुक्त स्वरूप है, सो कम समय में (केवल ज्ञान होने के बाद) और कम मनुष्यों को (केवल ज्ञानियों को ही) प्रतीत होता है; इसलिए वही आत्मा का विशेष स्वरूप है। और उस विशेष स्वरूप का सबको ज्ञान नहीं है। इसलिए जो आपने पाँचवा कारण बताया, कि अधिष्ठान के सामान्य-रूप का ज्ञान और विशेष-रूप का अज्ञान होना चाहिए, वह कारण तो यहाँ घटता है। क्योंकि संसार के अधिष्ठान आत्मा के सामान्य स्वरूप (है-पन) का ज्ञान और विशेष स्वरूप (चेतन, आनन्द आदि) का अज्ञान होने से आत्मा में संसार की भ्रान्ति सिद्ध होती है। जिस वस्तु की भ्रान्ति होती है, उसे मिथ्या कहते हैं तथा मिथ्या वस्तु की निवृत्ति उसके अधिष्ठान के ज्ञान से ही होती है। इसलिए संसार की निवृत्ति आत्मज्ञान से ही हो सकती है, न कि किसी दूसरे उपाय से। अतः आत्मज्ञान द्वारा संसार की निवृत्ति करना इस ग्रंथ का प्रयोजन (फल) ठीक ही है, गलत नहीं।

और जो आपने कर्म से मोक्ष का प्रतिपादन करते हुए कहा कि "मुमुक्षु पाप कर्म और सकाम कर्मों को छोड़ दे, जिससे उसको नीचलोक अथवा उत्तमलोक की

प्राप्ति नहीं होगी। और नित्य नैमित्तिक कर्मों को नहीं करने से जो पाप लगता है, वह उनके करते रहने से नहीं लगेगा। इस जन्म में अथवा इससे पहिले के जन्मों में जो पाप किये हैं, उनका, साधारण और असाधारण प्रयाश्चित्त करने से नाश हो जायगा। तथा पहिले किये हुए जो सकाम कर्म हैं उनके फल की इच्छा छोड़ देने से उनका फल मिलेगा नहीं, तो इस प्रकार आत्मा के ज्ञान के बिना ही जन्म का अभावरूप मोक्ष मिल जायगा।" सो आपका यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि नित्य नैमित्तिक कर्मों का भी स्वर्ग-रूप फल है, यह बात भाष्यकार श्री स्वामी शंकराचार्य-जी ने युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध की है। इसलिए नित्य नैमित्तिक कर्मों को करने से उत्तम लोक की प्राप्ती तो होगी, परन्तु मोक्ष नहीं हो सकता। और यह जो आपने कहा कि नित्य नैमित्तिक कर्म नहीं करने से पाप लगता है इसलिये उस पाप को हटाने के लिए नित्य और नैमित्तिक कर्म करने चाहिये सो ठीक नहीं हैं। क्योंकि नित्य नैमित्तिक कर्मों का नहीं करना, यह एक प्रकार का अभाव है, व पाप का उत्पन्न होना एक प्रकार का भाव है; भगवान् ने गीता के दूसरे अध्याय में कहा है कि "नासतो विद्यते भावः" अर्थात् अभाव से कभी भाव की उत्पत्ति नहीं होती। इससे यह सिद्ध हुआ कि नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का फल, पाप की अनुत्पत्ति नहीं है किन्तु उनका स्वर्ग इत्यादि फल है, न कि मोक्ष।

और जो आपने यह कहा, कि पहिले जन्मों के सकाम कर्मों के फल की इच्छा को छोड़ देने से, उनका फल नहीं मिलेगा, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि यदि इच्छा के नहीं रहने से ही फल न मिलता, तो दुःख की इच्छा तो किसी को होती ही नहीं, फिर पाप कर्मों का फल दुःख भी किसी को नहीं मिलना चाहिये। और "नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प-कोटि-शतैरपि" यह शास्त्र का सिद्धान्त है, कि सैकड़ों कोटि कल्प बीतने पर भी कर्म विना फल दिये, नष्ट नहीं होता। इस शास्त्र के अनुसार भी "केवल इच्छा मात्र के न रहने से कर्म फल नहीं देता", यह आपका कहना ठीक नहीं है।

आत्मज्ञानी के तो कर्म नष्ट हो सकते हैं। क्योंकि कर्म, कर्त्ता, और फल ये वास्तव में तो हैं ही नहीं; केवल अज्ञान से ही कल्पित हैं। उस अज्ञान का विरोधी केवल ज्ञान है। इसलिए अज्ञान से कल्पित जो कर्मादिक हैं, उनका नाश भी केवल ज्ञान से ही होता है। जैसे सपने में निद्रा के दोष से जो पदार्थ प्रतीत होते हैं, उनका जाग्रत् में निद्रा के उड़ जाने से अभाव हो जाता है। उसी प्रकार अज्ञान रूप निद्रा से प्रतीत होने वाले जो कर्म कर्त्ता और फल हैं, उनका भी ज्ञान-अवस्था रूप जाग्रत् के आने पर, अविद्या रूप निद्रा के टूट जाने से, नाश हो जाता है। इस से यह सिद्ध हुआ कि, ज्ञानी के कर्मादिक तो, ज्ञान रूपी जाग्रत् अवस्था के आने पर, नष्ट हो सकते हैं,

किन्तु जब तक आत्मज्ञान उत्पन्न नहीं होगा तब तक कर्मादिकों का अभाव रूप मोक्ष कभी नहीं हो सकता ।

और जो आपने यह कहा, कि "निष्काम कर्म करने से और कोई फल नहीं मिलता किन्तु उससे केवल अन्तःकरण की शुद्धि होती है, यह बात जैसे वेदान्त में मानते हैं, वैसे हम भी पहले किये हुए कर्मों के फल की इच्छा नहीं रखेंगे, तो हमें भी कर्मों का फल नहीं मिलेगा ।" यह ठीक नहीं है । क्योंकि वेदान्त का तात्पर्य यह है कि जो निष्काम कर्म करता है उसका अंतःकरण भी शुद्ध होता है और यदि अंतःकरण शुद्ध होने के बाद ज्ञान द्वारा मोक्ष हो गया तब तो कर्म अपना फल नहीं देंगे। क्योंकि मोक्ष होने के बाद, संसार के साथ साथ सूक्ष्म शरीर का भी अभाव हो जाता है । और जब सूक्ष्म शरीर ही नहीं रहता तो फिर पुण्य-पाप कर्म अपना फल सुख दुःख किसको देंगे। किन्तु यदि ज्ञान न होकर मोक्ष न हुआ, तब तो कर्म अपना फल अवश्य ही देंगे। और जो सकाम भाव से कर्म करता है उसको तो केवल कर्म का फल ही मिलेगा, न कि अंतःकरण की शुद्धि । इस से यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष तो केवल ज्ञान से ही हो सकता है न कि कर्म से। क्योंकि निष्काम कर्म अंतःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्त करवा कर परम्परा से मोक्ष के साधन बन सकते हैं । किन्तु मोक्ष का साक्षात् साधन तो केवल ज्ञान ही है । इसी प्रकार,

ग्रंथ के अधिकारी, विषय और प्रयोजन बन सकते हैं और इनके बनने से जो हमने पहिले तरंग में संबन्ध बतलाये हैं, उन पर कोई शंका नहीं हो सकती। इस लिए इस ग्रंथ का आरंभ सफल है।

इति श्रीविचारसागरदर्पणे अनुबन्ध-विशेष-निरूपणं नाम द्वितीयस्तरंगः समाप्तः ॥ २ ॥



* तृतीयस्तरंगः *

अथ श्रीगुरुशिष्यलक्षण
* तथा *
गुरुभक्ति प्रकार निरूपणम्

प्रथम तरंग में जो अधिकारी के लक्षण बताये थे, वे लक्षण जिसमें हों वही शिष्य कहलाता है। जिस प्रकार समुद्र का जल यों पीने से तो खारा लगता है और पेट में गड़बड़ करके दुःखी करता है, किन्तु बादलों द्वारा बरसने के बाद वही जल मीठा हो जाता है और प्यास भी बुझा देता है। इसी प्रकार वह चार साधन सम्पन्न शिष्य इस ग्रंथ को यदि गुरु मुख से सुनेगा, तभी आत्मशांति प्राप्त कर सकेगा, अन्यथा नहीं। क्योंकि इस ग्रंथ में जो कहीं कहीं कठिन कड़ियाँ आती हैं, उनका अपने आप अर्थ करने से अनर्थ भी हो सकता है। परन्तु गुरु मुख द्वारा सुनने से ही उनके वास्तविक अर्थ का ज्ञान प्राप्त करके, जिज्ञासु, जीवनमुक्ति का आनन्द लूट कर विदेह-मोक्ष (कैवल्य-मोक्ष) को प्राप्त हो सकता है।

शंका :- यह तो आपने केवल शिष्य का लक्षण बतलाया, और कहा कि इस ग्रंथ को गुरु-मुख से अवश्य पढ़ना चाहिये। किन्तु जब तक हम गुरु को

पहिचानेंगे ही नहीं तो उसे प्राप्त कैसे करेंगे ? इसलिए कृपया यह बतलाइये कि गुरु के लक्षण क्या हैं, तथा हम उनके पास कैसे जावें और कैसे उनके उपदेश सुनें ?

उत्तर :—गुरु के लक्षण तो शास्त्रों में अनेक कहे हैं किन्तु उनमें प्रधान पांच लक्षण हैं।

(१) ब्रह्म-श्रोत्रिय (वेद पढ़ा हुआ) (२) ब्रह्म-निष्ठ (ब्रह्म और आत्मा के अभेद ज्ञान में जिसकी निष्ठा हो) (३) शिष्य की बुद्धि में जो पांच प्रकार की भेद भ्रान्ति है [(१) जीव ईश्वर का भेद (२) जीवों का परस्पर भेद (३) जीवों का जड़ से भेद (४) ईश्वर का जड़ से भेद (५) जड़ का परस्पर भेद] उसको नाना युक्तियों से दूर करने में समर्थ हो। (४) द्वैत को हटाकर अद्वैत, अमल (शुद्ध), असंग ब्रह्म का आत्मरूप से साक्षात्कार करावे, और (५) वास्तव में सारा संसार मिथ्या है, ऐसा दृढ़ निश्चय करानेवाला, गुरु (आचार्य) कहलाता है।

आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति भी शास्त्र में इस प्रकार बतलाई गई है कि:—

"आचिनोति च शास्त्रार्थम् आचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कथ्यते॥"

अर्थात् जो शास्त्र के अर्थ (रहस्य) को जानकर, उस पर चलता है, और दूसरों को भी चलाता है, वही आचार्य है। क्योंकि स्वयं शास्त्रोक्त आचरण करने से और दूसरों को वैसा आचरण करवाने से ही आचार्य नाम पड़ता है।

इस प्रकार के गुरु (आचार्य) को प्राप्त करने के बाद, श्रद्धा से उन्हें नमस्कार इत्यादि करके अपने तन मन धन को उनके चरणों में अर्पण करना चाहिये। [तन मन धन अर्पण करने का तात्पर्य यह है कि गुरु जैसी आज्ञा दें, उसी प्रकार तन से सेवा करना, मन से उनके सद्विचारों को भली प्रकार ग्रहण करके उन्हें सर्वत्र समाज में प्रचारित करना तथा धन को उनके आदेशानुसार सामाजिक सेवा के कार्यों में लगाना] और गुरु की आज्ञा में उसे सदा तत्पर रहना तथा गुरु में ईश्वर से भी अधिक भक्ति रखकर ही उनसे वेदान्त का उपदेश सुनना चाहिए।

इति श्रीविचारसागरदर्पणे गुरुशिष्यलक्षण गुरुभक्तिप्रकारनिरूपणं नाम तृतीयस्तरंगः समाप्तः॥३॥

❀ चतुर्थस्तरंगः ❀

❀ अथ उत्तमाधिकारी-उपदेश-निरूपणम् । ❀

इस चतुर्थ तरंग से गुरु और शिष्यों के वार्तालाप की एक कथा चलती है । उस कथा में, तीन प्रकार के अधिकारी कौन २ से होते हैं और उनको कैसे उपदेश दिया जाता है यह बतलाया जायगा ।

एक शुभसन्तति नाम के राजा थे । उनके तीन पुत्र थे । एक का नाम तत्वदृष्टि था (जिसकी सदा तत्व पर ही दृष्टि रहती थी) । वह उत्तम अधिकारी था । दूसरे का नाम अदृष्टि था [जिसकी कोई खास दृष्टि (ज्ञान) न थी] । वह मध्यम श्रेणी का अधिकारी था । तीसरे का नाम था तर्क-दृष्टि [जिस की हमेशा तर्क प्रधान दृष्टि रहती थी अर्थात् वह सबको तर्क से ही देखना चाहता था] वह कनिष्ठ अधिकारी था । उन तीनों पुत्रों को एक दिन राजा ने एकान्त में बुलाकर कहा कि "मैं अब इस राज्य के व्यवहार से बहुत तंग आ गया हूँ, अब इस राज्य को आप ही सम्हालो । मैं तो आत्मज्ञान प्राप्त करके, संसार के दुःखों से छूट कर, परमानन्द रूप मोक्ष को प्राप्त करना चाहता हूँ ।" उन लड़कों के कोई पुण्यकर्म उदय हो रहे थे व उन पुण्यकर्मों के प्रताप से उन लड़कों को ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि यदि राज्य का व्यवहार दुःखदायक है

और आत्मज्ञान को प्राप्त करने से ही परमानन्दरूप मोक्ष प्राप्त होगा तो फिर हम सब इस दुःखरूप राज्य बंधन में क्यों बंधें। हम ही क्यों न चलकर किसी योग्य गुरु की तलाश करें और उनके उपदेश द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करें। ऐसा सोच कर वे तीनों गुरु की तलाश में निकल पड़े। तलाश करते करते उन्होंने किसी तपोवन में गंगा के किनारे पर शिष्यों को आत्मज्ञान का उपदेश देते हुए एक ब्रह्मनिष्ठ तथा ब्रह्मश्रोत्रिय महात्मा के दर्शन किए। वहाँ उन के उपदेश को सुन कर तीनों को बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ और ऐसी अटूट श्रद्धा उत्पन्न हुई कि इन से ही हमारा कल्याण हो सकता है। ऐसा निश्चय करके वे वहीं आश्रम में गुरुसेवा करने लगे। उनको बड़ी श्रद्धा से सेवा करते हुए देखकर महात्मा ने उनसे वहाँ आने का कारण पूछा। जब उनकी बातचीत से महात्मा जी ने यह देखा कि ये तीनों भाई जिज्ञासु हैं, तब उनसे कहा कि "यदि तुम्हें कोई शंका हो तो पूछो"। तब तत्वदृष्टि, जो उन सब भाइयों में बड़ा था हाथ जोड़कर कहने लगा कि भगवन् !—

शंका:—मैंने तो कर्म और उपासना का अभ्यास बहुत ही किया है किन्तु मुझे तो संसार की फांसी अधिक लग रही है, अर्थात् संसार के (झंझट) तो बढ़ ही रहे हैं। इस लिए मेरी यह इच्छा है कि मुझे कोई ऐसा रास्ता बतलाइए जिससे मेरे संसार के दुःख नष्ट हों व परमानन्द प्राप्त हो।

उत्तर :–हे शिष्य ! यह परमानन्द की प्राप्ति और जन्म-मरण रूपी दुःख की निवृत्ति की जो इच्छा तुझे हो रही है, वह भ्रान्ति से उत्पन्न हुई है, क्योंकि तुम्हारा असली स्वरूप तो स्वयम् परमानन्द–स्वरूप ही है। तुझ में तो जन्म-मरण इत्यादि दुःख हैं ही नहीं। तूँ तो शुद्ध चेतन रूप ब्रह्म है।

शंका :–यदि मैं स्वयं परमानन्द-स्वरूप ही हूँ तो फिर मुझे विषयों के संग से आनन्द का भान क्यों होता है ?

उत्तर :–यह शंका तुझे इसलिए हो रही है कि तुझे यह पता नहीं है कि आनन्द किसको आता है ? कब आता है ? और कहां से आता है ? सुख और दुःख यह दोनों मन को होते हैं। जब मन की वृत्ति किसी विषय में तल्लीन हो जाती है अर्थात् एकाग्र हो जाती है तब सर्वत्र व्यापक व आनन्दस्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब उसी समय मन (अन्तःकरण) में पड़ता है। ऐसा नियम है कि जैसा बिम्ब होता है वैसा ही प्रतिबिम्ब पड़ता है क्योंकि हम देखते हैं कि यदि बिम्ब काला हो तो प्रतिबिम्ब भी काला, बिम्ब गोरा हो तो प्रतिबिम्ब भी गोरा, बिम्ब जड़ हो तो प्रतिबिम्ब भी जड़, बिम्ब प्रकाशरूप हो तो प्रतिबिम्ब भी प्रकाश-रूप और बिम्ब आनन्द स्वरूप हो तो प्रतिबिम्ब भी आनन्द स्वरूप ही पड़ता है। अतः उस आनन्द स्वरूप आत्मा का जब विषयों में एकाग्र हुए मन में प्रतिबिम्ब पड़ता है तब मन में आनन्द की झलक आती है।

किन्तु वह विषयी समझता है कि यह आनन्द विषयों से आ रहा है। परन्तु वस्तुतः वह आनन्द तो प्रतिबिम्ब रूप से, आत्मा से ही आता है। यदि उसी समय (विषय भोगते समय) किसी दुःखजनक समाचार को सुनें अथवा किसी कारण यदि हमारी वृत्ति उस विषय में एकाग्र न होकर चंचल हो जाय, तब तो उसी समय आनन्दस्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब ज्यों का त्यों पड़ना बन्द हो जायगा और उसी समय आनन्द की झलक न आकर दुःख ही प्रतीत होगा। इस से यह सिद्ध हुआ कि हमारा असली स्वरूप तो आनन्दस्वरूप है, किन्तु उस आनन्द की झलक मन में तभी आती है जब मन एकाग्र होता है। यदि विषय स्वयं आनन्दस्वरूप होते तो दुःख का समाचार सुनने पर भी आनन्द आता ही रहता; अथवा जब तक विषय रहते तब तक भी आनन्द आता ही रहता। किन्तु हम देखते हैं कि खीर से तृप्त (धापे) हुए मनुष्य को यदि उसी समय, और दूसरी कितनी ही बढ़िया खीर क्यों न दी जाय, उसे आनन्द नहीं आएगा। और यदि विषयों में ही आनन्द होता तो विषयों के बिना कभी आनन्द आता ही नहीं। किन्तु हम देखते हैं कि एकान्त में, सुषुप्ति अवस्था (गहरी नींद) में अथवा समाधि में जहां विषयों का नाम भी नहीं होता है; ऐसी अवस्था में स्थित पुरुष को भी आनन्द आता ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि विषय स्वयं

आनन्दस्वरूप नहीं हैं, किन्तु अपना असली स्वरूप (आत्मा) ही आनन्दस्वरूप है।

ऐसा जिसको ज्ञान हो जाता है वह ज्ञानी पुरुष हमेशा अन्तर्मुख वृत्ति द्वारा अपने स्वरूप का आनन्द लेता रहता है। और विषय भोगते समय भी जो आनन्द आता है उसको भी वह समझता है कि यह तो मेरे स्वरूपानन्द की ही छाया है। इसी प्रकार सदा उसकी स्वरूपाकार ही वृत्ति बनी रहती है। किन्तु कभी कभी प्रारब्ध वश, व्यवहार में तल्लीन होने के कारण वह ज्ञानी अपने स्वरूप को भूल भी जाता है; अर्थात् उसको कभी कभी अपने स्वरूप का अज्ञान भी हो जाता है। उसको कहते हैं लेश-अज्ञान। किन्तु यह लेश-अज्ञान उसके आत्मस्वरूप के निश्चय में बाधक नहीं पड़ता है। जैसे सिनेमा को देखते समय कभी कभी लोग भूल से उस खेल को थोड़े समय के लिए सच्चा मानकर ताली बजाने, हंसने अथवा रोने लगजाते हैं, किन्तु उस थोड़े समय का हंसना रोना इत्यादि उनके सिनेमा के असली स्वरूप के निश्चय में अर्थात् यह केवल झूठा खेल मात्र है, इस निश्चय में बाधक नहीं पड़ता है, अर्थात् उसका सिनेमा का मिथ्यात्व निश्चय टूटता नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानी को भी उस लेश-अज्ञान से अपने स्वरूप का निश्चय टूटता नहीं है। परन्तु जो अज्ञानी लोग हैं वे तो हमेशा बहिर्मुख ही रहते हैं अर्थात् अपने आत्म-स्वरूप को भूले हुए ही रहते हैं।

शंका :--भगवन् ! आपकी कृपा से 'मैं परमानन्द-स्वरूप हूँ' यह तो मेरी समझ में आगया। परन्तु यह जो आपने पहिले कहा, कि जन्म-मरण से लेकर जितना भी दुःखरूप संसार है वह मुझ में नहीं है; तो फिर किस में है यह कृपा करके समझाइये।

उत्तर--हे शिष्य ! जैसे रस्सी में कल्पित सर्प वास्तव में होता ही नहीं है उसी प्रकार यह सारा जन्म-मरण रूप कल्पित संसार भी वस्तुतः कहीं है ही नहीं। यह न तुझ में है, न मुझ में है, व न कहीं और में है।

शंका :--प्रभो ! यदि यह जन्म-मरण आदि दुःख-रूप संसार कहीं है ही नहीं, तो फिर प्रत्यक्ष प्रतीत क्यों हो रहा है ?

उत्तर :--हे प्रिय शिष्य ! जैसे स्वप्न का संसार आकाश में नीलापन, सीपी में चांदी, और रस्सी में सर्प ये सब वास्तव में नहीं होते हुए भी अपने अपने अधिष्ठान रस्सी इत्यादि के अज्ञान से मिथ्या प्रतीत होते हैं; ठीक उसी प्रकार यह जन्म-मरण आदि दुःख-रूप संसार, वास्तव में नहीं होता हुआ भी अधिष्ठान रूप आत्मा के अज्ञान से (आत्मा और ब्रह्म के अभेद को न जानने से) ही मिथ्या प्रतीत हो रहा है।

शंका :--आपने संसार को मिथ्या बतलाने के लिए जो रस्सी में सर्प इत्यादि के उदाहरण दिये, वे उदाहरण ही मुझे पूरे समझ में नहीं आ रहे हैं कि रस्सी इत्यादि में सर्प आदि की भ्रान्ति कैसे

होती है। और जब तक ये दृष्टान्त ही समझ में नहीं आऐंगे तब तक संसार की मिथ्या प्रतीति कैसे होती है यह भी समझ में नहीं आसकता। क्योंकि रस्सी में सर्प की भ्रान्ति का कथन करने वाले चार मत मैंने सुने हैं, जिनको ख्याति (प्रतीति और कथन) भी कहते हैं। अब उन चार मतों में कौनसा मत ठीक है यह मेरी समझ में नहीं आता।

(१) शून्यवादी बौद्ध तो कहते हैं कि "रस्सी में तथा अन्य सब जगह सर्प अत्यन्त असत् है (बिल्कुल है ही नहीं)। उस अत्यन्त असत् सर्प की रस्सी में प्रतीति होती है"। इस कथन को असत्-ख्याति कहते हैं।

[२] क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं कि "यह असत्-ख्याति गलत है। क्योंकि अत्यन्त (बिल्कुल) असत्त् पदार्थ की भी यदि प्रतीति हुआ करती, तो वन्ध्या (बांझ) के पुत्र और खरगोश के सींगों की भी प्रतीति होती। इसलिए वास्तव में बुद्धि ही सर्प के आकार को धारण करती है अर्थात् बुद्धि में ही सर्प है और वह बुद्धि क्षणिक विज्ञान रूप आत्मा है। इसलिये वस्तुतः क्षण क्षण में बदलने वाली बुद्धि जिसको हम आत्मा कहते हैं उसी की ही सर्प रूप से प्रतीति होती है।" इस प्रकार के कथन को आत्मख्याति कहते हैं।

(३) नैयायिक और वैशेषिक मत वाले कहते हैं कि "यदि क्षणिक बुद्धि ने ही सर्प का रूप धारण किया होता तो क्षण मात्र से अधिक समय तक प्रतीति

नहीं होती। इसलिए यह आत्मख्याति ठीक नहीं है, किन्तु अन्यथा-ख्याति ही माननी चाहिये।" उनका कहना यह है कि "जैसे कभी पित्त के दोष से ऐसा रोग हो जाता है कि मनुष्य चौगुना भोजन कर लेता है अर्थात् उसकी पाचन-शक्ति बढ़ जाती है उसी प्रकार आँखों के दोष से नजर बढ़ जाने के कारण जंगल में बिल में पड़ा हुआ सर्प ही नजदीक पड़ी हुई रस्सी में दीखता है।" इस कथन को अन्यथा-ख्याति कहते हैं क्योंकि सर्प है एक जगह और दिखता है दूसरी जगह। इस पर नव्य नैयायिक चिन्तामणिकार आक्षेप (एतराज) करते हुए कहते हैं कि "यदि आँखों के दोष से, दूर जंगल वाला सर्प यहाँ नजदीक रस्सी में दीखता है, तो रास्ते के जो वृक्ष इत्यादि पदार्थ हैं वे क्यों नहीं दीखते। इसलिए यह कहना भी गलत है। वास्तव में अन्यथा-ख्याति का अर्थ यह है कि वस्तु हो कुछ और दीखे कुछ। जैसे यहाँ है रस्सी किन्तु दीखती है सर्प रूप से"।

(४) इस पर प्रभाकर और सांख्यमत वाले कहते हैं कि "यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि पदार्थ हो एक और ज्ञान हो दूसरे का यह असंभव है। क्योंकि ज्ञान हमेशा ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थ) के अनुसार ही होता है, अर्थात् जैसा ज्ञेय होगा वैसा ही ज्ञान होगा। इसलिए अन्यथा-ख्याति को न मानकर अख्याति को ही मानना चाहिए"। वे अख्याति का इस प्रकार कथन करते हैं कि "जिस समय रस्सी में सर्प की प्रतीति

होती है, उस समय अंधकार और भय इत्यादि दोषों के कारण दो ज्ञानों का आपस में अविवेक (मिलान) होकर हमें "यह सर्प है" ऐसी प्रतीति होती है। वे दो ज्ञान हैं (१) रस्सी के सामान्य-अंश अर्थात् यह-पन और है-पन (यह है) का आँखों से प्रत्यक्षज्ञान, व (२) उसी समय पहिले देखे हुए सर्प का स्मृति-रूप ज्ञान (सर्प की यादास्त)। इन दोनों ज्ञानों (रस्सी के यह-पन, और है-पन तथा सर्प की यादास्त) के मिलने से "यह सर्प है" ऐसी प्रतीति होती है"। इस प्रकार के कथन को अख्याति कहते हैं। तो हे भगवन्! इस प्रकार रस्सी में सर्प की प्रतीति के विषय में मैंने ये चार मत सुने हैं; अब इन में से कौनसा मत ठीक है, यह आप कृपा करके बताएँ।

उत्तर:—हे शिष्य! ये चारों मत युक्ति-हीन तथा असंगत हैं। पहिले के तीनों मतों में तो तुमने दोष देख ही लिए, अब इस अख्याति मत में जो दोष हैं वे भी सुनो। एकतो वे जो यह कहते हैं कि "जिस समय रस्सी में सर्प दीखता है उस समय सर्प की यादास्त होती है" वह ठीक नहीं है; क्योंकि सर्प की यादास्त से कभी भय नहीं होता, किन्तु उस समय तो भय होता है। और भ्रम की निवृत्ति होने के बाद ऐसा कहा जाता है कि "मुझे रस्सी में मिथ्या सर्प दिखाई दिया था" 'मुझे सर्प की स्मृति (यादास्त) हुई थी" ऐसा कोई नहीं कहता। इसलिए उस समय सर्प की स्मृति-मानना ठीक नहीं है। और दूसरा दोष

यह भी है कि "यह सर्प है" यहाँ ज्ञान एक ही प्रतीत होता है, दो नहीं। तीसरा दोष यह है कि एक ही समय अंतःकरण में स्मृतिरूप और प्रत्यक्षरूप ये दो ज्ञान नहीं हो सकते, क्योंकि हम देखते हैं कि जब हमें किसी की याद आती है तो उसी समय सामने रखी हुई वस्तु नहीं दीखती और जिस समय हम सामने किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं तो उस समय हम दूसरी बातें भूल जाते हैं। इसलिए जब एक समय स्मृति और प्रत्यक्ष ये दो ज्ञान हो ही नहीं सकते तो फिर उनके अविवेक से (आपस में मिलने से) सर्प की प्रतीति कैसे हो सकती है? इस प्रकार हे शिष्य ! ये चारों ख्यातियाँ गलत हैं। इसलिए सर्प की भ्रांति कैसे होती है यह समझाने के लिए मैं तुम्हें वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार अनिर्वचनीय ख्याति बतलाता हूँ।

जिस प्रकार अंधकार में किसी वस्तु को देखने के लिए जब हम टार्च जलाते हैं तब टार्च के काच में से जो प्रकाश निकलता है वह पहिले अंधकार को चीरता है (हटाता है) फिर वस्तु को जनवाता है। इसी प्रकार किसी वस्तु को जानने के लिए जब अंतःकरण की वृत्ति आँखों के द्वारा बाहर निकलकर वस्तु तक पहुँचती है तो उस समय दो काम होते हैं। एक तो वृत्ति उस वस्तु के अज्ञान को हटाती है और दूसरा उस वृत्ति में आया हुआ चिदाभास वस्तु को जनवाता है। जब वृत्ति अज्ञान को हटाती

है तो उस अज्ञान के हटाने को कहते हैं वृत्ति-व्याप्ति और जब वृत्ति में आया हुआ चिदाभास (फल= प्रतिबिंब) पदार्थ को जनवाता है तो उस जनवाने को कहते हैं फलव्याप्ति। किन्तु ये वृत्तिव्याप्ति और फल-व्याप्ति वहीं होती हैं जहाँ वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है। परन्तु जहाँ वस्तु का यथार्थ ज्ञान न होकर, कुछ भ्रांति होती है (जैसे रस्सी में सर्प की भ्रांति) तो वहाँ मंद अंधकार के कारण अथवा आँखों में धुंधलेपन के कारण अंतःकरण की वृत्ति आँखों से बाहर निकलकर रस्सी तक जाती तो है, किन्तु वहाँ अज्ञान को नष्ट नहीं कर पाती; इसलिए रस्सी का ज्ञान नहीं होता; बल्कि रस्सी के स्वरूप को ढकने वाला अज्ञान का आवरण (पर्दा) रह ही जाता है। अज्ञान जितना भी है वह सारा चेतन के आश्रित है, यह वेदान्त का सिद्धान्त है। और वह चेतन सर्व-व्यापक होने के कारण जितने देश में रस्सी है उतने देश में भी मौजूद ही है। उस चेतन को रस्सी-उपहित-चेतन कहते हैं। उस रस्सी-उपहित-चेतन के आश्रित जो अज्ञान है जिसको अंधकार इत्यादि दोषों के कारण वृत्ति नष्ट नहीं कर पाती, उसमें पहिले देखे हुए सर्प के संस्कारों के कारण क्षोभ (परिवर्तन) होता है और वह अज्ञान क्षुब्ध होकर (बदलकर) सर्प और सर्पज्ञान के आकार को धारण करता है अर्थात् वह अज्ञान ही सर्प और सर्पज्ञान के रूप में बदल जाता है। उस

सर्प और सर्प ज्ञान को अनिर्वचनीय, मिथ्या, कल्पित, अध्यास और भ्रांतिज्ञान भी कहते हैं।

वह भ्रान्ति-ज्ञान अंतःकरण की वृत्तिरूप तो है ही नहीं; क्योंकि वृत्ति तो अंधकार इत्यादि दोषों के कारण वेकार हो जाती है, इसलिए उसको अज्ञान की वृत्तिरूपज्ञान अर्थात् भ्रान्तिज्ञान कहते हैं। हे शिष्य ! इस प्रकार आपने यह सुना कि सर्प और सर्प का अधिष्ठान, रस्सी-उपहित-चेतन है। अथवा यों दूसरा पक्ष समझो कि सर्प और सर्प-ज्ञान का अधिष्ठान एक साक्षी चेतन ही है। क्योंकि रस्सी के समीप पहुँची हुई जो अंतःकरण की इदमाकार-वृत्ति (यह है ऐसी वृत्ति) है, उसमें स्थित चेतन के आश्रित जो अविद्या है, वही सर्पाकार और सर्प के ज्ञानाकार परिणाम को प्राप्त होती है।

वृत्ति-उपहित-चेतन साक्षी के आश्रित जो अज्ञान है उसका तमोगुण-अंश तो सर्परूप में पलटता है और सत्वगुण-अंश सर्प के ज्ञानरूप में पलटता है; इसलिए सर्प और सर्पज्ञान का अधिष्ठान वृत्ति-उपहित-चेतन साक्षी ही है। उस सर्प भ्रान्ति को अनिर्वचनीय तो इसलिए कहते हैं कि उसका निर्वचन (कथन) सत् और असत् इन शब्दों से हो ही नहीं सकता। क्योंकि रस्सी के ज्ञान के बाद सर्प भ्रान्ति की निवृत्ति हो जाती है इसलिए उसको हम सत् भी नहीं कह सकते और यदि असत् कहें तो वंध्या (बांझ) के पुत्र और खरगोश के सींगों की तरह उसकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए, किन्तु प्रतीति

तो होती है इसलिए हम उस कल्पित सर्प और सर्प ज्ञान को अनिर्वचनीय कहते हैं। जैसे रस्सी के अज्ञान से सर्प और सर्प-ज्ञान ये दोनों अनिर्वचनीय उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार संसार और संसार का ज्ञान ये दोनों भी अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए ये दोनों वास्तव में आपके असली स्वरूप (आत्मा) में हैं ही नहीं, केवल मिथ्या (आत्मा के अज्ञान से) ही प्रतीत हो रहे हैं।

वह रस्सी में कल्पित सर्प और उसका ज्ञान दोनों अविद्या (अज्ञान) के परिणाम और चेतन के विवर्त हैं। जब उपादान कारण बदलकर दूसरा रूप धारण करता है, जैसे दूध जब दही में बदलता है, तब हम उस दही को दूध का परिणाम कहते हैं; उसी प्रकार जब अज्ञान बदलकर सर्प और सर्प-ज्ञान का रूप धारण करता है, तब हम उसको (उस सर्प और सर्प-ज्ञान को) अज्ञान का परिणाम कहते हैं। और अधिष्ठान स्वयं न बदलकर यदि दूसरे रूप में दीखे तो उस दूसरे कल्पित स्वरूप को अधिष्ठान का विवर्त कहते हैं, जैसे तन्तु अपने स्वरूप को न छोड़कर कपड़े रूप में दीखते हैं तो कपड़ा तन्तुओं का विवर्त कहलाता है, और जैसे जेवर स्वर्ण के विवर्त हैं, उसी प्रकार सर्प और सर्प-ज्ञान ये दोनों रस्सी-उपहित-चेतन के विवर्त हैं। क्योंकि सर्प की उत्पत्ति होने पर भी रस्सी-उपहित-चेतन में कोई परिवर्तन नहीं होता है। तो जिस

प्रकार सर्प और सर्प ज्ञान ये दोनों अज्ञान (रस्सी-उपहित-चेतन के आश्रित अज्ञान) के परिणाम और चेतन (रस्सी-उपहित-चेतन) के विवर्त हैं, ठीक उसी प्रकार संसार और संसार का ज्ञान, ये दोनों अज्ञान (समष्टि अज्ञान अर्थात् माया) के परिणाम और शुद्ध चेतन के विवर्त हैं।

यह नियम है कि जो वस्तु अज्ञान का परिणाम और चेतन का विवर्त होती है, (जैसे रस्सी में सर्प और सर्प का ज्ञान, अथवा सपना और सपने का ज्ञान) तो वह वस्तु मिथ्या अर्थात् अधिष्ठान में कल्पित ही हुआ करती है। और जो वस्तु अधिष्ठान में कल्पित होती है, उस कल्पित की सत्ता उसके अधिष्ठान की सत्ता से भिन्न नहीं होती हैं; अर्थात् अधिष्ठान के अतिरिक्त वास्तव में कुछ होता ही नहीं है। ठीक इसी प्रकार यह संसार और इसका ज्ञान ये दोनों अज्ञान के परिणाम और चेतन के विवर्त होने के कारण मिथ्या हैं, अर्थात् अधिष्ठान, जो ब्रह्मस्वरूप आत्मा तेरा असली स्वरूप है, उसमें ये दोनों कल्पित हैं। इसलिए इस कल्पित संसार की सत्ता, अधिष्ठान की सत्ता से, (तेरे असली स्वरूप ब्रह्म की सत्ता से) कोई अलग सत्ता नहीं है, अर्थात् अधिष्ठानरूप ब्रह्म के सिवाय वास्तव में कुछ है ही नहीं।

इसी दृष्टि से श्रीरामचन्द्रजी को 'योगवासिष्ठ' में श्रीगुरुवसिष्ठजी महाराज ने कहा है कि, "हे रामचन्द्रजी ! आपके असली स्वरूप (ब्रह्मस्वरूप आत्मा)

में, यह संसार तीनों कालों में बना ही नहीं है। यह तो केवल अज्ञान से ही प्रतीत हो रहा है। और रस्सी में कल्पित सर्प, जैसे रस्सी के अज्ञान से प्रतीत होता है, व रस्सी के ज्ञान से ही नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार यह सारा जन्म मरण आदि दुःखरूप कल्पित संसार भी अपने स्वरूप के अज्ञान से, अर्थात् आत्मा के अज्ञान से ही प्रतीत होता है और आत्मा के ज्ञान से ही निवृत्त हो जायगा"। इसी बात को समझाने के लिये वेद ने भी कहा है कि "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" अर्थात् बिना आत्मज्ञान के जन्म मरण रूपी संसार से मुक्ति नहीं मिल सकती है। "नान्यः पन्थाः विद्यते अयनाय" अर्थात् उस मोक्षरूपी अयन (घर) को प्राप्त करने के लिए आत्मज्ञान के अतिरिक्त और कोई रास्ता साधन) है ही नहीं।

शंका :—भगवन् ! आपकी कृपा से अब मुझे यह समझ में आ गया, कि यह सारा संसार मिथ्या है। किन्तु जो वस्तु मिथ्या (कल्पित) होती है, उसका कोई न कोई आधार और अधिष्ठान भी होता ही है। इसलिए इस संसार का आधार और अधिष्ठान कौन है, यह कृपा करके मुझे बतलाइये।

उत्तर :—हे शिष्य ! भ्रान्ति का आधार उसे कहते हैं, जिसको बिना जाने भ्रान्ति न हो सके, और जो भ्रान्ति के समय भी प्रतीत हो, तथा जो भ्रान्ति के नष्ट होने पर भी प्रतीत होता रहे; जैसे रस्सी का सामान्य-अंश (है-पन और यह-पन) रस्सी में कल्पित

साँप का आधार है। और अधिष्ठान उसको कहते हैं जो अंश भ्रान्ति के समय प्रतीत न हो और जिसको जानने से भ्रान्ति नष्ट हो जाय; जैसे रस्सी का विशेष-अंश (सूक्ष्म तन्तु वल दिया हुवा इत्यादि), रस्सी में कल्पित साँप का अधिष्ठान है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म का (तेरे असली स्वरूप आत्मा का) सामान्यस्वरूप अस्तित्व (सत्पना अर्थात् हैपना) इस कल्पित संसार का आधार है। क्योंकि "मैं यज्ञदत्त हूँ" और "यह संसार सत्य है" इस प्रकार यह-पन और है-पन (सामन्यस्वरूप) तो भ्रान्ति के समय भी रहता है और ब्रह्मज्ञान होने के बाद भ्रान्ति के नष्ट होने पर भी "मैं ब्रह्म हूँ" और "यह संसार मिथ्या है" इस प्रकार यहपन और हैपन (सामान्यस्वरूप) तो कायम रहता ही है। और ब्रह्म का (तेरे असली स्वरूप आत्मा का) असंगपना, कूटस्थपना अर्थात् निर्विकारपना और नित्यमुक्तपना आदि जो विशेषस्वरूप हैं वह इस कल्पित संसार का अधिष्ठान है; क्योंकि इस विशेष-स्वरूप को जानने से ही यह भ्रान्तिरूप संसार नष्ट होता है।

शंका:-हे भगवन् ! यदि इस सारे संसार का आधार व अधिष्ठान भी मेरा असली स्व-रूप आत्मा ही है तो फिर इसका द्रष्टा मुझ से अलग कोई दूसरा होना चाहिये; जैसे कल्पित सर्प का द्रष्टा भी उसके आधार और अधिष्ठानरूप रस्सी से भिन्न कोई पुरुष ही होता है।

उत्तर :—हे शिष्य ! जहाँ अधिष्ठान जड़ होता है वहीं अधिष्ठान से भिन्न और कोई दूसरा द्रष्टा माना जाता है। जैसे, सर्प का अधिष्ठान जो रस्सी है वह जड़ है तो वहाँ रस्सी से भिन्न किसी और चेतन पुरुष इत्यादि को ही द्रष्टा माना जाता है। किन्तु जहाँ अधिष्ठान स्वयं चेतन होता है, वहाँ वह चेतन-अधिष्ठान ही स्वयं द्रष्टा भी माना जाता है। जैसे सपने का अधिष्ठान, जो साक्षी चेतन है, वही सपने का द्रष्टा भी है। (यह शंका और समाधान स्थूल दृष्टि से रस्सी को सर्प का अधिष्ठान मानकर ही कह रहे हैं वास्तव में सिद्धान्त में तो सर्प का अधिष्ठान भी साक्षी-चेतन ही है और वही सर्प का द्रष्टा भी है। इस प्रकार सभी कल्पित पदार्थों का अधिष्ठान जो चेतन है वही उन सभी कल्पित पदार्थों का द्रष्टा भी है। इसलिये वास्तव में यह शंका बनती ही नहीं है) । तो इस प्रकार हे शिष्य ! यह सिद्ध हुआ कि यह सारा सुख-दुःख और जन्म-मरणरूप संसार तुझ में (आत्मस्वरूप में) भ्रान्ति-मात्र ही है, और जो वस्तु भ्रान्ति-मात्र अर्थात् कल्पित होती है उसकी निवृत्ति की इच्छा भी भ्रान्ति ही होती है। क्योंकि कभी कोई व्यक्ति सिनेमा वाले कल्पित शेर को देखकर नहीं डरता है और न उसे हटाने की इच्छा ही करता है।

शंका :—हे भगवन् ! आपका यह कहना सही है किन्तु जैसे किसी पुरुष को प्रतिदिन यदि भयानक

सपने आते हैं और वे यद्यपि मिथ्या ही होते हैं तो भी उनको दूर करने के लिए जप करना अथवा पाँव इत्यादि धोकर सोना; इस प्रकार कई साधन वह पुरुष करता है। इसी प्रकार यह संसार यद्यपि मिथ्या ही है तो भी मुझे जन्म-मरण इत्यादि दुःखों का कारण प्रतीत हो रहा है इसलिए मैं चाहता हूँ कि इस संसार से मुझे मोक्ष मिल जाय। अतः आप कृपा करके मोक्ष का कोई उपाय बताएँ।

उत्तरः—हे शिष्य ! यह तो मैंने तुझे पहिले ही बता दिया है, कि यह कल्पित संसार तेरे असली स्वरूप आत्मा के अज्ञान से ही प्रतीत हो रहा है। इसलिए इसकी निवृत्ति भी तभी होगी जब तुम अपने वास्तविक स्वरूप को पहिचान लोगे।

सो तेरे असली स्वरूप के बारे में तो मैंने पहिले ही बतला दिया है कि "तू ही इस सारे कल्पित संसार का अधिष्ठान है और वास्तव में तेरे असली स्वरूप आत्मा में यह संसार तीनों कालों में बना ही नहीं है। और जैसे कल्पित साँप अपने अधिष्ठान रस्सी का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह कल्पित संसार भी तेरे असली स्वरूप की कोई हानि नहीं कर सकता है। तू तो सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप ब्रह्म है।" इस प्रकार अपने असली स्वरूप को पहिचानने को ही आत्मज्ञान कहते हैं, व यही मोक्ष का साधन है, और कोई नहीं।

शंकाः—प्रभो ! यह तो आपकी कृपा से मेरी

समझ में आ गया है कि यह जन्म-मरणरूप संसार अज्ञान से ही प्रतीत हो रहा है, और ज्ञान से ही निवृत्त होगा। और ज्ञान का जो वास्तविक स्वरूप है वह भी मेरी समझ में आ गया है कि 'यह सारा जगत् मेरे असली स्वरूप आत्मा में कल्पित है, और मैं वास्तव में सच्चिदानन्द-स्वरूप हूँ।' किन्तु यह समझ में नहीं आ रहा है कि मैं ब्रह्म कैसे हूँ, क्योंकि मैं तो जीव हूँ, और पुण्य-पाप का कर्ता, सुखी-दुःखी, जन्मने-मरने वाला अज्ञानी और ज्ञान को चाहने वाला हूँ, और ब्रह्म में तो न पुण्य है न पाप है, न जन्म है न मरण है, न सुख है न दुःख है, न अज्ञान है और न ज्ञान की इच्छा ही है। तो इस प्रकार ब्रह्म का और मेरा स्वरूप परस्पर विरुद्ध होने के कारण दोनों की एकता कैसे बन सकती है ?

उत्तर :—हे शिष्य ! हम जीव और ब्रह्म के वाच्य-अर्थ की एकता नहीं करते, किन्तु उनके लक्ष्य-अर्थ कूटस्थ और शुद्ध ब्रह्म की ही आपस में एकता करते हैं। सो कूटस्थ तो ब्रह्म की तरह पुण्य-पाप, जन्म-मरण सुख-दुःख तथा अज्ञान आदि सब धर्मों से रहित है; इसलिए कूटस्थ और ब्रह्म की आपस में एकता बन सकती है।

शंका—भगवन् ! क्या कूटस्थ और जीव में कोई अन्तर है ? यदि कोई अन्तर है तो कृपा करके बतलाइये।

उत्तर :—हे शिष्य ! इन दोनों में वास्तव में तो

कोई अन्तर है ही नहीं, किन्तु अन्तःकरण की उपाधि के भेद से ही इन में भी कल्पित भेद प्रतीत होता है। और केवल ये दोनों ही नहीं, अपितु जीव, कूटस्थ, ईश्वर और ब्रह्म, ये चारों वास्तव में शुद्ध चेतन ही हैं, अर्थात् वास्तव में इनमें कोई भेद है ही नहीं; केवल माया और अविद्या की उपाधि से ही ये चारों अलग अलग प्रतीत होते हैं।

शंका :—भगवन् ! ये चारों एक होते हुए भी अलग अलग कैसे प्रतीत होते हैं, यह समझ में नहीं आता; कृपा करके उदाहरण देकर समझाइये।

उत्तर :—हे शिष्य ! जैसे एक ही आकाश, घड़े, जल और बादल की उपाधि से घटाकाश, जलाकाश, मेघाकाश और महाकाश कहलाता है, उसी प्रकार एक ही चेतन, माया और अविद्या की उपाधि से जीव कूटस्थ, ईश्वर और ब्रह्म कहलाता है।

शंका :—भगवन् ! ये उदाहरण मेरी समझ में नहीं आ रहे हैं, कृपा करके इन्हें संक्षेप में समझाइये।

उत्तर :—हे शिष्य ! मान लो जैसे कोई घड़ा है, उसमें हमने जल भर दिया है; तो वहाँ जलाकाश भी है और घटाकाश भी है। घटाकाश तो उसे कहते हैं, जिस आकाश ने जल से भरे हुए घड़े को, (जल को और घड़े को दोनों को) जगह दी है। तथा (१) घटाकाश, (२) उसके आश्रित जल (३) उस जल में छाया

हुआ आकाश का प्रतिबिम्ब, इन तीनों को मिलाकर जलाकाश कहते हैं।

शंका:—भगवन्! आपने जो जल में आकाश का प्रतिबिम्ब बतलाया वह समझ में नहीं आया; क्योंकि प्रतिबिम्ब सदा रूप वाली वस्तु का ही पड़ा करता है, आकाश नीरूप है, उसका प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है?

उत्तर:—हे शिष्य! तुमने कभी देखा होगा कि घुटने जितने जल में भी मनुष्य से अधिक गहराई नज़र आया करती है। वह गहराई क्या है? वह गहराई आकाश का प्रतिबिम्ब है। इससे यह सिद्ध होता है कि नीरूप आकाश का भी प्रतिबिम्ब पड़ा करता है। और रूप हमेशा किसी न किसी द्रव्य का ही होता है, अर्थात् द्रव्य ही रूप वाला होता है, किन्तु रूप तो स्वयं नीरूप है। और हम देखते हैं कि जैसे द्रव्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही नीला पीला इत्यादि नीरूप रूप का भी प्रतिबिम्ब पड़ा करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे नीरूप रूप का प्रतिबिम्ब पड़ा करता है वैसे नीरूप आकाश का भी प्रतिबिम्ब पड़ता है।

शंका:—भगवन्! घटाकाश और जलाकाश ये तो समझ में आगये, किन्तु ये दोनों उदाहरण चेतन के किस भाग को समझाने के लिए दिये हैं, यह मेरी समझ में नहीं आया?

उत्तर :-घटाकाश का उदाहरण, कूटस्थ (साक्षी) को समझाने के लिए, और जलाकाश का उदाहरण जीव को समझाने के लिए दिया है। मानलो यह शरीर एक प्रकार का घड़ा है उसमें व्यष्टि अविद्या का परिणाम बुद्धिरूप (यहाँ बुद्धि से सारा सूक्ष्म शरीर लिया गया है) जल भरा हुआ है। इस बुद्धिरूपी जल से भरे हुए स्थूल शरीर रूपी घड़े में घटाकाश रूपी कूटस्थ (साक्षी चेतन) और जलाकाश रूपी जीव, ये दोनों मौजूद हैं।

कूटस्थ साक्षी-चेतन:- जो शुद्ध चेतन बुद्धि रूपी जल से भरे हुए स्थूल शरीर रूपी घड़े का [बुद्धि (सूक्ष्म शरीर) और स्थूल शरीर इन दोनों का] अधिष्ठान है, वह कूटस्थ कहलाता है। कूटस्थ का अर्थ है निर्विकार। जैसे, कूट=ऐरन पर जितने भी जेवरादि बनते हैं, उन सब का अधार ऐरन होता हुआ भी, वह ऐरन स्वयं नहीं बदलता, इसीप्रकार वह शुद्ध चेतन स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दोनों का अधिष्ठान होते हुए भी उन शरीरों के विकारों से स्वयं विकृत नहीं होता है। इसलिए अधिष्ठान-रूप शुद्ध चेतन को कूटस्थ कहते हैं।

जीव:-(१) कूटस्थ (अधिष्ठान रूप साक्षी चेतन) (२) अविद्या अथवा अविद्या का परिणाम रूप बुद्धि (सूक्ष्म शरीर) (३) उस अविद्या में अथवा उसके

परिणामरूप बुद्धि में आया हुआ शुद्ध चेतन का प्रतिबिम्ब-इन तीनों को मिलाकर जीव कहते हैं।

शंका :-भगवन् ! चेतन का तो कोई रूप ही नहीं है, फिर उसका प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है ?

उत्तर :-हे शिष्य ! यह बात तो मैंने तुम्हें आकाश का उदाहरण देकर पहिले ही समझा दी है, कि नीरूप का भी प्रतिबिम्ब पड़ा करता है। सो जैसे नीरूप आकाश का जल में और नीरूप रूपका भी दर्पण इत्यादि स्वच्छ पदार्थों में प्रतिबिम्ब पड़ा करता है उसी प्रकार नीरूप चेतन (ब्रह्म) का भी बुद्धि में प्रतिबिम्ब पड़ता है।

शंका :-प्रभो ! यह बात तो समझ में आगई कि नीरूप का भी प्रतिबिम्ब पड़ा करता है। किन्तु जिसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है उसका तो कोई न कोई रूप होता ही है। परन्तु बुद्धि का तो कोई स्वरूप ही नहीं है; तो फिर नीरूप बुद्धि में नीरूप चेतन का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है ?

उत्तर :-इस बात को समझने के लिए पहिले यह समझो कि प्रतिबिम्ब किसको कहते हैं। प्रतिबिम्ब एक प्रकार की प्रतिक्रिया (Reaotion) होती है। और यह नियम है कि जैसी क्रिया होती है वैसी ही प्रतिक्रिया हुआ करती है अर्थात् जैसा बिंब होता है वैसा ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। नये मकान में जब हम कोई ध्वनि अर्थात् आवाज़ करते हैं तो उसकी प्रतिध्वनि

(Echo) आया करती है अर्थात् वह आवाज़ लौट कर फिर हमें सुनाई देती है। वह प्रतिध्वनि एक प्रकार का, शब्द का प्रतिबिम्ब है। और वह प्रतिबिम्ब आकाश में पड़ा करता है; क्योंकि प्रतिध्वनि आकाश का गुण माना गया है। अब जैसे नीरूप शब्द का नीरूप आकाश में प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार नीरूप चेतन का नीरूप बुद्धि में भी प्रतिबिम्ब पड़ा करता है। तो इस प्रकार हे शिष्य ! मैंने तुझे घटाकाश और जलाकाश के उदाहरण देकर, कूटस्थ (साक्षी) और जीव के स्वरूप समझाए, अब ईश्वर के स्वरूप को समझाने के लिये मैं तुझे पहिले मेघाकाश का उदाहरण समझाता हूँ।

मेघाकाश :—(१) मेघ अर्थात् बादल को, जगह देने वाला आकाश, (२) मेघ, (३) मेघ में आया हुआ आकाश का प्रतिबिम्ब—ये तीनों मिलकर मेघाकाश कहलाते हैं।

शंका :—भगवन् ! आकाश का जल में तो प्रतिबिम्ब पड़ता है, किन्तु बादलों में प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है ?

उत्तर :—हे शिष्य ! बादल जल का ही तो एक दूसरा स्वरूप है, जिसको हम भाप अथवा जल का सूक्ष्म स्वरूप कहते हैं। तुमने देखा होगा कि कभी २ तुम्हें सफेद बादल चमकते हुए नजर आते हैं, वह चमक बादलों की खुद की नहीं है, किन्तु उनमें आया

हुआ सूर्य का प्रतिविम्ब है। जैसे बादलों में सूर्य का प्रकाशमय प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही आकाश का गहराईरूप प्रतिविम्ब भी पड़ा करता है। सो हे शिष्य ! यह मेघाकाश का उदाहरण आपको ईश्वर का स्वरूप समझाने के लिये ही दिया है।

ईश्वर :-(१) ब्रह्म (व्यापक शुद्ध-चेतन) (२) माया (३) उस ब्रह्म के आश्रित माया में आया हुआ ब्रह्म (शुद्ध-चेतन) का प्रतिविम्ब-इन तीनों को मिलाकर ईश्वर कहते हैं।

शंका :-भगवन् ! जैसे आपने जीव में तीन पदार्थ [(१) मलिन-सत्वगुण-प्रधान-प्रकृति अर्थात् अविद्या, अथवा उसका परिणामरूप बुद्धि, (२) कूटस्थ (शुद्धचेतन, साक्षी) (३) उस शुद्ध चेतन का आया हुआ अविद्या में प्रतिविम्ब] बताए, उसी प्रकार ईश्वर में भी आपने तीन ही पदार्थ [(१) शुद्ध-सत्व-गुण-प्रधान-प्रकृति अर्थात् माया, (२) ब्रह्म (चेतन), (३) चेतन का आया हुआ माया में प्रतिविम्ब] बताए हैं। किन्तु भगवन् ! मुझे तो ये तीनों पदार्थ एक से ही प्रतीत होते हैं। केवल इतना ही अन्तर प्रतीत होता है कि जीव की उपाधि जो प्रकृति है, वह मलिन-सत्वगुण वाली है, अर्थात् उसमें रजोगुण और तमोगुण बढ़े हुए हैं, तथा सत्वगुण दबा हुआ है. और ईश्वर की उपाधि जो प्रकृति है, वह शुद्ध-सत्वगुण वाली है, अर्थात् उसमें रजोगुण और

तमोगुण दबे हुए हैं, तथा सत्वगुण बढ़ा हुआ है। तो फिर इतने थोड़े से (प्रकृति की केवल मलिनता और शुद्धता के) अन्तर से ही ईश्वर और जीव में इतना महान् भेद क्यों माना जाता है, और ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतंत्र इत्यादि धर्मों वाला, तथा जीव को अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, परतंत्र इत्यादि धर्मोंवाला क्यों माना जाता है ?

उत्तर :-यद्यपि जीव और ईश्वर दोनों में तीनों पदार्थ एक से ही हैं, तथापि जीव की उपाधि और ईश्वर की उपाधि जो प्रकृति है, उसमें मलिनता और शुद्धता के अन्तर से ही इन दोनों में महान् अन्तर आगया है। जैसे एक चंचल और मलिन जल से भरी हुई कूण्डी और दूसरी स्वच्छ तथा स्थिर जल से भरी हुई कूण्डी को यदि हम धूप में रखें तो दोनों में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ेगा तो सही, किन्तु स्वच्छ और स्थिर जल में पड़कर, उस जल के असली स्वरूप को मिटाकर अपने जैसा गोल प्रकाशमय बना लेगा, या दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिये कि वह स्वच्छ और स्थिर जल में आया हुआ सूर्य का प्रतिबिम्ब उस जल को अपने वश में कर लेगा। और मलिन तथा चंचल जल में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब अपने असली स्वरूप को मिटाकर, उस जल जैसा मलिन तथा चंचल अर्थात् चर्रा चर्रा हो जाता है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि वह मलिन और चंचल जल

अपने में आए हुए सूर्य के प्रतिबिम्ब को अपने जैसा बना लेता है, अर्थात् उसे अपने वश में कर लेता है।

तो जिस प्रकार एक ही सूर्य का प्रतिबिम्ब मलिन जल के अन्दर पड़कर उसके वश में हो जाता है और स्वच्छ तथा स्थिर जल में पड़कर उल्टा उसे वश में कर लेता है, ठीक उसी प्रकार एक ही शुद्ध-चेतन का प्रतिबिम्ब मलिन-प्रकृति अर्थात् अविद्या में पड़कर उस अविद्या के वश में हो जाता है। इसलिए उसे परतंत्र, अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् इत्यादि धर्मों वाला जीव कहते हैं। और वही शुद्धचेतन का प्रतिबिम्ब शुद्ध-प्रकृति अर्थात् माया में पड़कर उसे अपने जैसा बनाकर सृष्टि की उत्पत्ति, पालन व संहार करता है, अर्थात् उस माया को अपने वश में कर लेता है। इसीलिए उसे माया का प्रेरक, स्वतंत्र, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् इत्यादि धर्मोंवाला ईश्वर कहते हैं। किन्तु, हे शिष्य! इन दोनों में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि अल्पज्ञ होना, पुण्य-पाप कर्मों को करना, उसका फल सुख-दुःख भोगना और अपने में बंधन-मोक्ष को मानना, ये सब धर्म जीव के तीन हिस्सों में से जो प्रतिबिम्ब का हिस्सा है अर्थात् जो अविद्या अथवा अविद्या के परिणामरूप बुद्धि में आया हुआ चिदाभास है, उसके धर्म हैं। और सर्वज्ञ होना, सर्वशक्तिमान् होना, पुण्य-पाप कर्मों का सुख-दुःख फल देना इत्यादि सब धर्म, ईश्वर के तीन हिस्सों में से जो माया में आया हुआ

प्रतिबिम्ब का हिस्सा है, उसके अर्थात् माया में आए हुए चिदाभास के हैं। किन्तु इन दोनों के अधिष्ठान जो कूटस्थ और शुद्ध-चेतन (ब्रह्म) हैं, वे दोनों एक तथा सब धर्मों से रहित हैं।

इस प्रकार हे शिष्य ! मैंने तुम्हें घटाकाश, जलाकाश व मेघाकाश के उदाहरणों से कूटस्थ, जीव व ईश्वर के स्वरूप समझाए; अब महाकाश का उदाहरण देकर तुम्हें ब्रह्म का स्वरूप समझाता हूँ। जैसे महाकाश, घड़े में, बादल में, मकान में, और उनसे बाहर अर्थात् सब जगह एक रस व्यापक है उसी प्रकार ब्रह्म भी जीव में, ईश्वर में, तथा उनसे बाहर अर्थात् माया में और माया से बाहर सब जगह, एक रस, निर्विकार रूप से व्यापक है। और जैसे घटाकाश तथा महाकश वस्तुतः एक ही हैं, वैसे ही कूटस्थ और ब्रह्म भी वास्तव में एक ही हैं। इसीलिए जब जीव और ईश्वर की एकता कही जाती है, तब उनके तीनों हिस्सों को न लेकर केवल जो शुद्ध-चेतन का हिस्सा, कूटस्थ तथा ब्रह्मरूप है, उन दोनों की ही आपस में एकता की जाती है।

शंका :—भगवन् ! यदि जीव और ब्रह्म दोनों एक ही हैं, तो फिर वेदों में जो कर्म और उपासना का विधान आया है, वह सब निष्फल हो जायगा। क्योंकि जीव को यदि ब्रह्म-स्वरूप ही मान लें, तो फिर जीव कर्म किसके लिये करेगा ? और परमात्मा के अलग न होने से जीव उपासना किसकी करेगा ?

और ब्रह्म को यदि जीव स्वरूप मान लें तो फिर जीव को कर्मों का फल कौन देगा ? तथा वेदों के अन्दर ऐसा प्रसंग भी आया है कि "एक बुद्धिरूपी वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। एक तो कर्म करता है, और उसका फल सुख-दुःख भोगता है, दूसरा अकर्ता भोग रहित, निर्विकार, असंग तथा भोगनेवाले पक्षी को प्रकाशित करने वाला है।" वेद के इस कथन से भी ऐसा प्रतीत होता है कि भोगने वाला जो जीव है, वह भोग-रहित परमात्मा से भिन्न है; तो फिर आप जीव और ब्रह्म की एकता कैसे कहते हैं ?

उत्तर :-हे शिष्य ! यह जो वेदों में दो पक्षियों का वर्णन आया है, वह कूटस्थ और आभास के बारे में आया है, न कि जीव और ब्रह्म के बारे में। और यह तो मैंने तुझे पहिले ही बतला दिया है कि जितने भी कर्म करना और फल भोगना इत्यादि धर्म हैं, वे सब, जीव के आभास के हिस्से में हैं, न कि कूटस्थ के हिस्से में। कूटस्थ तो सब धर्मों से रहित व केवल साक्षी-मात्र है। सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार करना, जीवों को अपने अपने कर्मों का फल देना इत्यादि सब धर्म भी ईश्वर के आभास के हिस्से में हैं न कि शुद्ध-चेतन ब्रह्म के हिस्से में। क्योंकि शुद्धचेतन ब्रह्म तो सब धर्मों से रहित, निर्विकार और ईश्वर का भी केवल साक्षी-स्वरूप ही है। अतः एकता सदा जीव-साक्षी और ईश्वर-साक्षी की ही आपस में की जाती है, न कि

माया और अविद्या अथवा उसके परिणामरूप बुद्धि में आए हुए चिदाभास की। जीव और ईश्वर के चिदाभास तो परस्पर भिन्न हैं; इसलिए वेदों में कर्म और उपासना का कथन भी सही है। क्योंकि कर्म और उपासना करने वाला बुद्धि में आया हुआ चिदाभास दूसरा है और फल देने वाला तथा उपास्य (उपासना करने योग्य) माया में आया हुआ चिदाभास दूसरा है। और वेदों ने कर्म करने और फल देने के बारे में जो कथन किया है वह जीव तथा ईश्वर के आभास-अंश को लक्ष्य करके ही किया है तथा अकर्ता, अभोक्ता, उदासीन, साक्षी और शुद्ध-चेतन का जो कथन किया है, वह ब्रह्म से अभिन्न कूटस्थ को लक्ष्य करके ही किया है। जब वेद कहता है "तत्त्वमसि" अर्थात् तू ब्रह्म है, तो उस समय तू शब्द से वेद का अभिप्राय जीव का नहीं है, किन्तु कूटस्थ का है। क्योंकि तेरा असली स्वरूप कूटस्थ (साक्षी) है, सो कूटस्थ और ब्रह्म दोनों एक हैं। उनका जो भेद आपको प्रतीत हो रहा है, वह केवल अविद्या अथवा अविद्या के परिणाम स्थूल-शरीर और सूक्ष्म-शरीर की उपाधि से ही प्रतीत हो रहा है। इसलिए "मैं (साक्षी) ब्रह्म हूँ" ऐसा जब तक तुम नहीं जानोगे, तब तक अपने को दीन और दुःखी मानते रहोगे। इसलिए यदि तुम इस जन्म-मरणरूपी संसार के भय से मुक्त होना चाहते हो, तो अपने असली स्वरूप को पहिचानो।

शंका:-गुरुजी ! अब कृपा करके यह बताइये कि "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान किसको होता है। आपके कथनानुसार मुझे जीव के दो प्रधान-भाग समझ में आए हैं। एक कूटस्थ (साक्षी-चेतन), दूसरा उसका अविद्या अथवा अविद्या के परिणामरूप बुद्धि में आया हुआ आभास; जिसे चिदाभास भी कहते हैं। अब यह समझ में नहीं आ रहा है कि यह ज्ञान कूटस्थ को होता है कि चिदाभास को होता है ? यदि कूटस्थ को होता है तो क्या पहिले कूटस्थ में अज्ञान था ? यदि अज्ञान मान करके फिर ज्ञान मानेंगे तो कूटस्थ विकारी सिद्ध हो जायगा। और कूटस्थ में "मैं ब्रह्म हूँ" यह कहना भी नहीं बन सकता; क्योंकि कहना सुनना इत्यादि सब क्रियाएँ सूक्ष्म-शरीर में आए हुए चिदाभास की ही हुआ करती हैं। यदि यह कहें कि ज्ञान चिदाभास को होता है तो यह भी नहीं बन सकता। क्योंकि चिदाभास तो मिथ्या है; क्योंकि जब तक अविद्या है तब तक उसमें चिदाभास पड़ सकता है, और जब मोक्ष अवस्था में अविद्या का अत्यन्त-अभाव हो जाता है तो वहां चिदाभास भी नहीं रहता, केवल शुद्ध-चेतन ही रहता है। वह शुद्ध-चेतन अविद्या के रहने पर अथवा नहीं रहने पर भी कायम रहता है, इसलिए सत् है, और चिदाभास अविद्या के नष्ट होने पर नहीं रहता इसलिये मिथ्या है। सो मिथ्या-चिदाभास यदि अपने को कहे कि "मैं ब्रह्म हूँ" तो वह ज्ञान मिथ्या-ज्ञान कहलाएगा, फिर उस मिथ्या-ज्ञान

से मोक्ष कैसे मिल सकता है ? इसलिए हे भगवन् ! इस दास पर कृपा करके यह बताएँ कि "मैं ब्रह्म हूँ", यह ज्ञान किसको होता है ?

उत्तर :—हे शिष्य ! इस बात को समझाने के लिए मैं तुम्हें चिदाभास की सात अवस्थाएँ बतलाता हूँ। वे ये हैं (१) अज्ञान, (२) आवरण, (३) भ्रान्ति अथवा शोक, (४) परोक्ष-ज्ञान, (५) अपरोक्ष-ज्ञान, (६) भ्रान्ति-नाश अथवा शोक-नाश और (७) अतिहर्ष अथवा निरंकुश-तृप्ति।

(१) अज्ञान :—अपने स्वरूप को नहीं पहिचानना। इस अज्ञान के कारण ही "मैं ब्रह्म को नहीं जानता" ऐसा लोग कहा करते हैं।

(२) आवरण :—आवरण कहते हैं पर्दे को, जो अज्ञान का कार्य है। क्योंकि उस अज्ञान के कारण ही लोग ऐसा कहा करते हैं कि "कूटस्थ (ब्रह्म) न तो है ही, और न प्रतीत ही होता है।" ऐसा व्यवहार (कहना) अज्ञान की दो शक्तियों के कारण ही हुआ करता है। एक असत्वापादक-शक्ति और दूसरी अभानापादक-शक्ति।

(क) "ब्रह्म है ही नहीं" ऐसी प्रतीति कराने वाली जो शक्ति है वह, असत्वापादक-शक्ति कहलाती है।

(ख) "ब्रह्म का भान (प्रत्यक्ष-ज्ञान) नहीं होता है" ऐसी प्रतीति कराने वाली जो शक्ति है वह अभाना-

पादक-शक्ति कहलाती है। इन दोनों शक्तियों को मिलाकर आवरण कहते हैं।

(३) भ्रांति अथवा शोकः—उस अज्ञान के आवरण से अपने असली स्वरूप कूटस्थ में जन्म-मरण, दुःख-सुख इत्यादि संसार मानना अर्थात् मैं (कूटस्थ-साक्षी) कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ, जन्मता हूँ, मरता हूँ, इस प्रकार मानने को भ्राँति अथवा शोक कहते हैं।

(४) परोक्ष-ज्ञानः—"ब्रह्म है" ऐसे जानने को कहते हैं ब्रह्म का परोक्ष-ज्ञान। इस ज्ञान से "ब्रह्म नहीं है", यह अज्ञान की असत्वापादक-शक्ति नष्ट होती है।

(५) अपरोक्ष-ज्ञानः—मैं (कूटस्थ) ब्रह्म हूँ अर्थात् मेरा असली स्वरूप ब्रह्म है, इस प्रकार के ज्ञान को ब्रह्म का अपरोक्ष-ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान से "मुझे ब्रह्म का भान (प्रत्यक्ष) नहीं हो रहा है", यह अज्ञान की अभानापादक-शक्ति अर्थात् आवरण का अभानापादक अंश नष्ट होता है।

(६) भ्राँति-नाश अथवा शोक-नाशः—ब्रह्म के अपरोक्ष-ज्ञान होने के बाद अर्थात् अपने असली स्वरूप को पहिचानने के बाद, मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं जन्मता हूँ, मैं मरता हूँ, इस प्रकार की भ्राँति नष्ट हो जाती है। इसी को भ्राँति-नाश, शोक-नाश, विक्षेप-नाश, संसार-नाश इत्यादि शब्दों से कहा करते हैं।

(७) अतिहर्ष अथवा निरंकुश-तृप्ति :–जब भ्रांति नष्ट हो जाती है तब ज्ञानी को यह निश्चय हो जाता है कि मैं (मेरा असली स्वरूप साक्षी) जन्म-मरण, सुख-दुःख इत्यादि सब धर्मों से रहित, असंग, निर्विकार, अद्वितीय सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म हूँ। ऐसा निश्चय होने के बाद ज्ञानी को जो महान् आनन्द का अनुभव होता है, उसको अतिहर्ष अथवा निरँकुश-तृप्ति (असीम-तृप्ति) कहते हैं। क्योंकि उसका (ज्ञानी की तृप्ति का) नाप-तौल नहीं हो सकता। हे शिष्य ! ये ऊपर कही हुई सातों अवस्थाएँ चिदाभास-अंश की हैं न कि शुद्ध चेतन (कूटस्थ-साक्षी) की। और इन सातों अवस्थाओं में ज्ञान भी आगया। इसलिए तुमने जो यह पूछा था कि "मैं ब्रह्म हूँ" यह अपरोक्ष-ज्ञान किसको होता है", उसका उत्तर तो तुम्हें मिल गया कि "मैं ब्रह्म हूँ" यह अपरोक्ष-ज्ञान चिदाभास को ही होता है न कि कूटस्थ को।

शंका :–मेरी शंका तो पूरी हल हुई ही नहीं; क्योंकि आपने कहा था कि कूटस्थ और ब्रह्म तो दोनों एक ही हैं किन्तु आभास (चिदाभास) ब्रह्म से न्यारा है, क्योंकि ब्रह्म सत्य है और चिदाभास मिथ्या है। वह मिथ्या चिदाभास यदि अपने आपको कहे कि "मैं ब्रह्म हूँ", तो वह भ्राँति कहलाएगी। अब उस भ्राँति को यदि आप ब्रह्मज्ञान कहेंगे तो ठीक नहीं है। क्योंकि भ्राँति से कभी मोक्ष नहीं हो सकता। इसलिए कृपया

यह समझाइये कि "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान किसको होता है।

उत्तर:—हे शिष्य ! "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान तो बुद्धि-सहित-चिदाभास को ही होता है और "मैं ब्रह्म हूँ" यह कहता भी चिदाभास ही है। किन्तु यह कहते समय अपने असली स्वरूप कूटस्थ को लक्ष्य करके ही चिदाभास कहता है। जैसे दर्पण में चमकता हुआ विशेष-प्रकाश यदि कहे कि "मैं सूर्य हूँ" तब यह समझना चाहिये कि वह दर्पण में आया हुआ प्रतिबिम्ब-रूप विशेष-प्रकाश अपने विशेष-स्वरूप का बाध करके (उस विशेष चमक को मिथ्या समझ करके) और अपने असली स्वरूप (बिम्ब सूर्य) को लक्ष्य करके ही कहता है कि "मैं सूर्य हूँ।"

अथवा जब कोई पुरुष अपने मुख को दर्पण में देखकर कहता है कि "मैं तो अब मोटा हो गया हूँ" तो क्या वह दर्पण वाले मुख को मोटा कह रहा है ? नहीं। क्योंकि वह पुरुष तो यह समझता है कि मेरा मुख तो मेरी गर्दन पर है और दर्पण में केवल उसका प्रतिबिम्ब ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि जब वह पुरुष अपने मुख के प्रतिबिम्ब को देखकर कहता है कि "मैं मोटा होगया हूँ" तो उस समय वह प्रतिबिंब-रूप उस मुख को बाध करके (उस प्रतिबिंबित-रूप मुख को मिथ्या समझ करके कुछ महत्त्व न देकर) अपने

गर्दन वाले बिंबरूप असली मुख को ही लक्ष्य करके कहता है। इस प्रकार प्रतिबिम्ब को बाध करके अर्थात् मिथ्या समझकरके, बिंब को सत्य समझकर शेष रखना भी एक प्रकार की एकता मानी जाती है। इस प्रकार की एकता को बाध-एकता, बाध-अभेद अथवा बाध-सामानाधिकरण्य भी कहते हैं। क्योंकि यह एकता (प्रतिबिम्ब और बिम्ब की एकता) प्रतिबिम्ब को बाध कर और प्रतिबिंब का असली स्वरूप बिम्ब समझकरके ही की जाती है। इस प्रकार चिदाभास और ब्रह्म की भी आपस में बाध-एकता ही मानी जाती है। क्योंकि जब चिदाभास कहता है कि "मैं ब्रह्म हूँ" तो उस समय अपने आभास-रूप को बाध करके, अपने असली स्वरूप बिंबरूप कूटस्थ (ब्रह्म) को लक्ष्य करके ही कहता है कि "मैं ब्रह्म हूँ"।

और जब हम साक्षी (कूटस्थ) की ब्रह्म से एकता करते हैं तो उस एकता को मुख्य-सामानाधिकरण्य, मुख्य-अभेद अथवा मुख्य-एकता भी कहते हैं। क्योंकि वह एकता किसी का बाध न करके ही की जाती है। और कूटस्थ तथा चिदाभास ये दोनों 'अहम्' शब्द के अर्थ हैं, अर्थात् "अहम्" शब्द का उच्चारण करते समय इन दोनों का एक ही साथ भान होता है। इसलिए ज्ञानी जब "अहम् ब्रह्मास्मि" अर्थात् "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा कहता है तो उस समय "मैं" शब्द का उच्चारण करते ही उसे कूटस्थ व आभास इन दोनों का

भान हो जाता है और इन दोनों की ही वह ब्रह्म से एकता करता है। परन्तु "अहम्" शब्द के अर्थ कूटस्थ की जो ब्रह्म से एकता होती है वह सीधी एकता होने के कारण मुख्य-एकता कहलाती है। और अहं शब्द के अर्थ, चिदाभास की जो ब्रह्म से एकता होती है, उसमें आभास का बाध होने के कारण वह बाध-एकता कहलाती है। तो हे शिष्य ! अपने आभास-स्वरूप का बाध करके व अपने असली स्वरूप कूटस्थ को लक्ष्य करके, "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान चिदाभास को किस प्रकार होता है, यह तुम्हारी समझ में आगया होगा।

शंका :—भगवन् ! यह तो मेरी समझ में आगया कि चिदाभास को "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान हो सकता है किन्तु यह जो आपने कहा कि "मैं" शब्द का उच्चारण करते समय चिदाभास और कूटस्थ (साक्षी) का एक ही साथ भान होता है, इसमें मुझे यह कृपा करके समझाइये कि इन दोनों का भान (ज्ञान) अपने आपही होता है वा और किसी के द्वारा होता है।

उत्तर :—हे शिष्य ! अन्तःकरण-सहित-चिदाभास का भान तो साक्षी द्वारा होता है; किन्तु साक्षी स्वयं-प्रकाश है इसलिए उसका भान तो अपने आप ही होता है न कि वृत्ति-द्वारा। वृत्ति तो केवल आवरण-रूप अज्ञान को ही नष्ट करती है। जैसे अंधकार में कूण्डे से ढकी हुई मणि का डण्डे से कूण्डे को फोड़ने के बाद, बिना किसी दीपक इत्यादि की सहायता के

ही अपने आप प्रकाश हो जाता है, इसी प्रकार अज्ञान से ढके हुए अपने असली स्वरूप साक्षी का "अहं ब्रह्मास्मि" इस वृत्ति रूपी डण्डे से अज्ञान रूपी कूण्डे को फोड़ने के बाद, बिना किसी की(वृत्ति इत्यादि की) सहायता के ही अपने आप प्रकाश हो जाता है; क्योंकि साक्षी स्वयं प्रकाश है। किन्तु जो वस्तु स्वयं प्रकाश नहीं होती, जैसे घड़ा इत्यादि जड़ पदार्थ, तो उनको जनवाने के लिये केवल वृत्ति से अज्ञान को ही नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है अपितु (बल्कि) चिदाभास की सहायता भी आवश्यक है।

जैसे अंधकार में कूण्डे से ढके हुए मिट्टी के बर्तन को डण्डे से कूण्डे को फोड़ने के बाद भी बिना किसी प्रकाश की सहायता के हम नहीं देख सकते हैं। क्योंकि वहाँ दो काम होते हैं (१) डंडे से ढकन को फोड़ना (२) दीपक इत्यादि के प्रकाश द्वारा मिट्टी के बर्तन को जनवाना। इसी प्रकार जितनी भी जड़ वस्तुएँ हैं उनको जनवाने के लिये पहिले वृत्ति अज्ञान को नष्ट करती है फिर उस वृत्ति में आया हुआ चेतन का आभास उस जड़ वस्तु को जनवाता है। इस प्रकार के जनवाने को प्रत्यक्ष-ज्ञान कहते हैं। आत्मा के प्रत्यक्ष में तो, केवल अज्ञान के आवरण को दूर करने के लिये वृत्ति की ही आवश्यकता पड़ती है न कि चिदाभास की। क्योंकि आत्मा स्वयं प्रकाश होने के कारण चिदाभास का उसके साक्षात्कार में कोई उपयोग नहीं होता। किन्तु आत्मा से भिन्न

जितनी भी अनात्म जड़-वस्तुएँ हैं उन सब के प्रत्यक्ष-ज्ञान में वृत्ति-व्याप्ति (वृत्ति से अज्ञान को नष्ट करना) और फल-व्याप्ति (चिदाभास का उस वस्तु को जनवाना) इन दोनों की आवश्यकता पड़ती है।

शंका :— भगवन् ! जिस प्रकार प्रत्यक्ष-ज्ञान भी एक प्रकार का ज्ञान है, उसी प्रकार और कितने ज्ञान हैं यह कृपा करके बतलाइये।

उत्तर :— हे शिष्य ! कुल छः प्रकार के ज्ञान होते हैं। (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमिति, (३) शाब्द (४) उपमिति, (५) अर्थापत्ति और (६) अभाव। इनको छः प्रकार की प्रमा भी कहते हैं। प्रमा अर्थात् वह यथार्थ-ज्ञान जो स्मृति भी न हो और जिसके अर्थ का कभी बाध भी न हो सके अर्थात् जो कभी झूठा सिद्ध न हो सके। और उस प्रमा-ज्ञान के करण को कहते हैं प्रमाण। करण कहते हैं असाधारण-कारण को। कारण दो प्रकार के होते हैं (१) साधारण-कारण (२) असाधारण-कारण। जो सब कार्यों का कारण होता है वह साधारण-कारण कहलाता है। जैसे धर्म, अधर्म, ईश्वर इत्यादि, सब कार्यों के प्रति कारण हैं इसलिये वे साधारण-कारण कहलाते हैं। और जो सब कार्यों के प्रति कारण न हो, केवल किसी विशेष कार्य का ही कारण हो, वह असाधारण-कारण कहलाता है। जैसे कुम्हार का डंडा सब कार्यों का तो कारण नहीं है केवल घड़ा इत्यादि जो कार्य-विशेष हैं उनका ही कारण है। इसलिए डंडा घड़े का असाधारण-कारण

अर्थात् करण कहलाता है। अतः जितने प्रमा-ज्ञान मैंने तुम्हें बतलाये हैं उनके असाधारण-कारणों (करणों) को प्रमाण कहते हैं।

शंका :— गुरुजी ! वे प्रमाण कितने हैं, और कौन कौन से होते हैं यह कृपा करके बताएँ।

उत्तर :— हे शिष्य ! जिस प्रकार प्रमा-ज्ञान छः प्रकार के होते हैं वैसे प्रमाण भी छः प्रकार के होते हैं।

(१) प्रत्यक्ष-प्रमाण (२) अनुमान-प्रमाण (३) शब्द-प्रमाण (४) उपमान-प्रमाण (५) अर्थापत्ति-प्रमाण और (६) अनुपलब्धि-प्रमाण।

(१) प्रत्यक्ष-प्रमाण :–जो चार्वाक हैं (जो आकाश के बिना बाकी वायु, तेज, जल और पृथ्वी इन चार भूतों को मानने वाले तथा शरीर को ही आत्मा मानने वाले हैं) वे एक प्रत्यक्ष-प्रमाण को ही स्वीकार करते हैं। प्रत्यक्ष-प्रमाण कहते हैं प्रत्यक्ष-ज्ञान के करण (साधन) को। प्रत्यक्ष-ज्ञान सभी विषयों का हुआ करता है; जैसे शब्द का प्रत्यक्ष, स्पर्श का प्रत्यक्ष, रूप का प्रत्यक्ष, रस का प्रत्यक्ष और गंध इत्यादि का प्रत्यक्ष। इन प्रत्यक्षों के करण (प्रमाण) भी अलग अलग होते हैं; जैसे शब्द के प्रत्यक्ष का प्रमाण श्रोत्र-इन्द्रिय (कान) व रूप के प्रत्यक्ष का प्रमाण (करण) नेत्र-इन्द्रिय। इसी प्रकार सभी इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष-प्रमाण कहलाती हैं।

(२) अनुमान-प्रमाण :- वैशेषिक-शास्त्र के कर्त्ता कणाद जिसको कणभुक् भी कहते हैं वे और सुगत मत के अनुयायी अर्थात् बौद्ध मत वाले कहते हैं कि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त एक दूसरा अनुमान-प्रमाण भी होता है। क्योंकि पहाड़ में से धूएँ को निकलता हुआ देखकर हम बिना अग्नि के देखे ही पहाड़ में अग्नि का अनुमान लगा लेते हैं। तथा भोजन को दूर से देखकर ही ऐसा अनुमान लगा लेते हैं कि इस भोजन से हमें तृप्ति हो जायगी। और ऐसा अनुमान लगाने के बाद ही हम भोजन में प्रवृत्त हुआ करते हैं। इसलिए दूसरा अनुमान-प्रमाण भी मानना आवश्यक है।

(३) शब्द-प्रमाण :- सांख्य-शास्त्र के कर्त्ता जो कपिल हैं, उनके मत का अनुसरण करने वाले तीसरा शब्द-प्रमाण भी मानते हैं। वे कहते हैं कि, यदि शब्द-प्रमाण हम नहीं मानेंगे तो विदेशों में होने वाली घटनाओं का, जिनका हम प्रत्यक्ष अथवा अनुमान भी नहीं कर सकते, कैसे पता लग सकता है। क्योंकि उन घटनाओं का पता तो, रेडियो, टेलीग्राम, वायरलेस अथवा वहाँ से आये हुए किसी मनुष्य के शब्दों को सुनने से ही लगा करता है। इसलिये तीसरा शब्द-प्रमाण भी मानना आवश्यक है।

(४) उपमान-प्रमाण :- न्याय-शास्त्र के कर्त्ता

गौतम के मत को मानने वाले चौथा उपमान-प्रमाण भी मानते हैं। वे कहते हैं कि जिस पुरुष ने गवय (रोज) को नहीं देखा हो, किन्तु किसी वनवासी पुरुष से ऐसा सुन रक्खा हो कि "गऊ जैसी शक्ल का रोज होता है," वह पुरुष यदि कभी वन में चला जाय और रोज को देख ले, तो उसी समय उसे वनवासी पुरुष के कहे हुए शब्द याद आते हैं। और उन शब्दों के याद आते ही उस पुरुष को यह ज्ञान हो जाता है कि "यह पशु रोज है"। इसी ज्ञान को उपमिति-ज्ञान कहते हैं। और इस ज्ञान के करण (असाधारण-कारण) को अर्थात् गवय में गो-सादृश्य के ज्ञान को ("यह पशु गौ जैसा है" इस ज्ञान को) उपमान-प्रमाण कहते हैं। अतः यदि केवल प्रत्यक्ष आदि तीन प्रमाण ही होते तो फिर उपमिति-ज्ञान नहीं होना चाहिये। इसलिये इन तीनों के अतिरिक्त चौथा उपमान-प्रमाण भी मानना आवश्यक है।

(५) **अर्थापत्ति-प्रमाण :—** पूर्व-मीमांसा के एक-देशी जो भट्ट के शिष्य प्रभाकर हैं, वे पांचवा अर्थापत्ति-प्रमाण भी मानते हैं। वे कहते हैं, कि यदि कोई मोटा ताजा पुरुष ऐसा कहे कि "मैं कभी भोजन ही नहीं करता हूँ" तो उसके कहने पर कोई विश्वास नहीं करेगा। क्योंकि उसकी मोटाई और स्फूर्ति को देखकर, ऐसा ज्ञान हो जाता है कि 'यह पुरुष यदि दिन में भोजन नहीं करता है तो रात्री में कहीं न कहीं छिपकर अवश्य भोजन करता ही है।'

वह रात्रि के भोजन का ज्ञान, प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान इन चारों प्रमाणों से तो हो ही नहीं सकता, केवल उसकी मोटाई को देखकर ही हो सकता है। और उस मोटाई के ज्ञान को, जिससे रात्रि के भोजन का ज्ञान होता है, अर्थापत्ति-प्रमाण कहते हैं। इसलिये इन चारों प्रमाणों के अतिरिक्त, यह पाँचवा अर्थापत्ति-प्रमाण भी मानना आवश्यक है।

(६) **अनुपलब्धि-प्रमाण :-** पूर्व-मीमांसक जो भट्ट हैं वे छठा अनुपलब्धि-प्रमाण भी मानते हैं, और वेदान्त-दर्शन में भी छहों ही प्रमाण अंगीकार किये गए हैं। अनुपलब्धि-प्रमाण को सिद्ध करने के लिये वे इस प्रकार उदाहरण द्वारा समझाते हुए कहते हैं, कि किसी पिताने अपने लड़के को कमरे में गीता की पुस्तक लाने के लिये भेजा। वहाँ वह पुस्तक नहीं थी। उस लड़के ने वापिस आकर कहा, "पिता जी! वहाँ तो पुस्तक है ही नहीं"। पिताजी ने पूछा कि "पुस्तक के अभाव (नहीं होने) को तुमने कैसे जाना"? पुत्र ने उत्तर दिया, "पिताजी! उस पुस्तक की अनुपलब्धि (अप्रतीति अर्थात् नहीं दीखने) से ही मैंने उस पुस्तक के अभाव को जाना"। इससे सिद्ध हुआ कि किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान उस वस्तु की अनुपलब्धि (अप्रतीति) द्वारा ही हुआ करता है। इसलिये अनुपलब्धि-प्रमाण भी मानना आवश्यक है। यों कुल छः प्रमाण माने जाते हैं।

शंका :- भगवन्! आपने जो यह छः प्रमाण

बतलाए, उनमें प्रत्यक्ष-ज्ञान का प्रमाण (साधन) ज्ञान-इन्द्रियों को बतलाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान, इन्द्रियों-द्वारा उत्पन्न होता है। किन्तु आपके मत (वेदान्त मत) में तो ज्ञान को आत्मा का स्वरूप माना जाता है। और उस आत्म-स्वरूप-ज्ञान की कभी उत्पत्ति व नाश तो होता ही नहीं है; तो फिर ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियाँ करण (साधन) कैसे बन सकती हैं ?

उत्तर :- हे शिष्य ! इस ज्ञान शब्द से मेरा तात्पर्य आत्म-स्वरूप-ज्ञान से नहीं है किन्तु वृत्ति-रूप-ज्ञान से है। क्योंकि वेदान्त-मत में वृत्ति को भी वस्तु के ज्ञान की उत्पादक होने के नाते ज्ञान कहते हैं। उस वृत्ति-रूप-ज्ञान के करण (साधन) इन्द्रियाँ हैं ; क्योंकि वृत्ति, ज्ञान-इन्द्रियों द्वारा ही बाहर निकला करती है। इसी लिये ज्ञान-इन्द्रियों को प्रत्यक्ष-प्रमाण कहा जाता है।

शंका :-भगवन् ! आपके मत में तो ज्ञान एक ही माना जाता है फिर आपने वृत्ति-ज्ञान और आत्म-स्वरूप-ज्ञान ये दो ज्ञान कैसे बताए ?

उत्तर :-हे शिष्य ! वास्तव में तो ज्ञान (चेतन) एक ही है, किन्तु अन्तःकरण, वृत्ति और विषय की उपाधि से वह चार प्रकार का माना जाता है। (१) प्रमाता-चेतन, (२) प्रमाण-चेतन, (३) प्रमिति-चेतन अथवा प्रमा-चेतन और (४) प्रमेय-चेतन अथवा विषय-

चेतन। अब चेतन के इन चार प्रकारों को समझाने के लिए मैं तुम्हें पहिले वेदान्त-मतानुसार प्रत्यक्ष-ज्ञान की विधि बतलाता हूँ।

जब किसी घटादिक वस्तु का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है तब अंतःकरण की वृत्ति, आँख आदि ज्ञान-इन्द्रियों द्वारा बाहर निकल कर उस ज्ञेय वस्तु तक पहुँच करके अज्ञान को (उस ज्ञेय वस्तु से अवच्छिन्न-चेतन के आश्रित अज्ञान को) नष्ट करने के बाद, उस वस्तु को व्याप्त करके, उसके समान आकार वाली बन जाती है; तब (वृत्ति और विषय के आपस में मिलने पर अर्थात् वृत्ति व विषय दोनों उपाधियों के एक देश में होने पर) वृत्ति-अवच्छिन्न-चेतन व विषय-अवच्छिन्न-चेतन दोनों का अभेद होता है, और तभी उस ज्ञेय वस्तु का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है।

इस प्रकार जहाँ २ विषय का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है वहाँ २ यही प्रक्रिया (सिलसिला) मानी जाती है। और यही वेदान्त-मतानुसार प्रत्यक्ष-ज्ञान की विधि है।

हे शिष्य ! अब यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि जो सामान्य-चेतन (ब्रह्म) है, वह सर्वत्र व्यापक होने के कारण, अन्तःकरण में भी है, व ज्ञानेन्द्रियों द्वारा निकला हुआ अन्तःकरण का परिणाम रूप जो वृत्ति है उसमें भी है, फिर वह वृत्ति जब विषय के समान आकार को धारण कर लेती है तो उस विषया-कार वृत्ति में भी मौजूद है और वह वृत्ति जिस

विषय को जनवाने के लिये ज्ञानेन्द्रियों से बाहर निकलती है, उस विषय में भी व्यापक है अर्थात् वह एक ही चेतन सब में व्यापक है; किन्तु उन अँतःकरण आदि भिन्न २ उपाधियों के कारण उस एक चेतन के नाम भी भिन्न २ पड़ जाते हैं जैसे :—

(१) प्रमाता-चेतन :- शरीर के अन्दर जो आभास-सहित-अन्तःकरण है उससे अवच्छिन्न चेतन अर्थात् जो अन्तःकरण-विशिष्ट-चेतन है, वह प्रमाता (ज्ञाता) कहलाता है।

(२) प्रमाण-चेतन :- जैसे पानी से भरी हुई टंकी में से जल, छिद्र द्वारा बाहर निकल कर, लंबे नाले का आकार धारण करके बगीचे की क्यारी में जाता है, और क्यारी में जाकर उसी के आकार वाला बन जाता है; उसी प्रकार जब चिदाभास-सहित-अंतःकरण, ज्ञानेन्द्रिय-रूपी छिद्र द्वारा नालाकार-वृत्ति के रूप में बाहर निकलकर ज्ञेय (जानने योग्य) वस्तु तक पहुँचता है, तब उस वृत्ति से अवच्छिन्न चेतन को अर्थात् जितने हिस्से में वृत्ति है उतने हिस्से वाले सामान्य-चेतन को प्रमाण-चेतन कहते हैं।

(३) प्रमिति-चेतन :— जैसे जल, क्यारी तक पहुँच करके, उसे व्याप्त करने के बाद उस क्यारी के समान आकार को धारण कर लेता है। उसी प्रकार जब वह वृत्ति रूप में आया हुआ साभास-अन्तःकरण अर्थात् आभास-सहित-अन्तःकरण

का परिणाम-रूप आभास-सहित-वृत्ति, ज्ञेय-वस्तु तक पहुँच करके, उसको व्याप्त करने के बाद, उस ज्ञेय-वस्तु के समान आकार को प्राप्त कर लेती है, [जब वृत्ति उस ज्ञेय वस्तु को विषय करती है, अर्थात् जब उस ज्ञेय-वस्तु का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है,] तब उस ज्ञेय-वस्तु के समान आकार को धारण करने वाली वृत्ति से अवच्छिन्न चेतन को अर्थात् उस विषयाकार वृत्ति में आरूढ़ चेतन को प्रमिति-चेतन, प्रमा-चेतन अथवा यथार्थ-ज्ञान भी कहते हैं।

(४) **प्रमेय-चेतन** :-ज्ञेय (जानने योग्य) वस्तुओं से अवच्छिन्न जो चेतन है, वह प्रमेय-चेतन अथवा विषय-चेतन कहलाता है।

यद्यपि चेतन-रूप-प्रमा तो नित्य है, वह कभी आँख इत्यादि ज्ञान-इन्द्रिय-द्वारा उत्पन्न नहीं हो सकती, अर्थात् आँख इत्यादि ज्ञान-इन्द्रियाँ उस चेतन-रूप-प्रमा की करण (असाधारण कारण) नहीं बन सकती; किन्तु यहाँ प्रमा शब्द का तात्पर्य शुद्ध-चेतन से नहीं है, अपितु विषय-आकार-वृत्ति-अवच्छिन्न-चेतन से है। और वृत्ति ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही बाहर निकला करती है, अर्थात् वृत्ति की करण (साधन) ज्ञानेन्द्रियाँ ही हैं। इसलिये विषयाकार-वृत्ति-अवच्छिन्न-चेतन-रूप-प्रमा की करण भी ज्ञान-इन्द्रियाँ मानी जाती हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष-प्रमा की करण होने के नाते, ज्ञान-इन्द्रियों को प्रत्यक्ष-प्रमाण कहा जाता है।

ऊपर कहे हुए प्रकार से कुल छः प्रमाण सिद्ध होते हैं ।

हे शिष्य ! ऊपर जो मैंने तुम्हें चेतन के ४ भेद सुनाये, उनमें जो प्रमाता-चेतन बतलाया है उसी को कर्त्ता भोक्ता तथा जीव भी कहते हैं । इस प्रमाता के विषय में अवच्छेद-वाद और आभास-वाद में कुछ मत भेद (अन्तर) है । अवच्छेद-वाद वाले कहते हैं कि अंतःकरण-विशिष्ट जो चेतन है, अर्थात् जिस चेतन का अन्तःकरण विशेषण है, वह चेतन प्रमाता है, और वही कर्त्ता भोक्ता है । और अन्तःकरण-उपहित जो चेतन है, अर्थात् जिस चेतन का अन्तःकरण उपाधि है, वह चेतन साक्षी है । इसी प्रकार एक ही अन्तःकरण प्रमाता का तो विशेषण है और साक्षी की उपाधि है ।

शंका :—भगवन् ! विशेषण और उपाधि } का कृपा करके अर्थ बतलाइये ?

उत्तर :—हे शिष्य ! जिसका अपने आश्रय के स्वरूप में प्रवेश हो अर्थात् अपने आश्रय के कार्य से सम्बन्ध हो, और जो दूसरे पदार्थों से अपने आश्रय को भिन्न करके बतलाए, उसे विशेषण कहते हैं । जैसे-नीले घड़े का नीला-पन विशेषण है, क्योंकि उस नीले-पन का अपने आश्रय नीले घड़े में प्रवेश है, अर्थात् उस नीलेपन का नीले घड़े से सम्बन्ध है, और वह नीला-पन लाल पीले इत्यादि घड़ों से नीले घड़े

को भिन्न करके जनवाता है। इसलिए नीले-पन को नीले घड़े का विशेषण कहते हैं। इसी प्रकार प्रमाता का विशेषण अन्तःकरण है, क्योंकि प्रमाता के स्वरूप में अन्तःकरण का प्रवेश है, अर्थात् प्रमाता के कार्यों से (धर्मों से) अन्तःकरण का सम्बन्ध है। और अन्तःकरण प्रमाता के स्वरूप को प्रमेय-चेतन (विषय-चेतन) से भिन्न करके जनवाता है। इसलिये अन्तःकरण प्रमाता का विशेषण कहलाता है।

उपाधि :- जिस वस्तु का अपने आश्रय के स्वरूप में प्रवेश न हो, अर्थात् जिसका अपने आश्रय के कार्यों से (धर्मों से) कोई सम्बन्ध न हो और जो दूसरे पदार्थों से अपने आश्रय को भिन्न करके जनवाए, उसे उपाधि कहते हैं। जैसे :— घटाकाश की उपाधि घड़ा है; क्योंकि उस घड़े का अपने आश्रय आकाश में कोई प्रवेश नहीं है, अर्थात् उस घड़े का अपने आश्रय आकाश के कार्यों से [किसी पदार्थ को अवकाश देना (जगह देना) इत्यादि कार्यों से] व प्रतिध्वनि (Echo) इत्यादि गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं है और वह घड़ा उस घटाकाश को, व्यापक महाकाश से भिन्न करके भी जनवाता है। इसलिए वह घड़ा घटाकाश की उपाधि है।

इसी प्रकार अन्तःकरण-उपहित-चेतन (साक्षी की उपाधि अन्तःकरण है। क्योंकि अन्तःकरण का अपने आश्रय (अधिष्ठान) साक्षी के स्वरूप में कोई प्रवेश नहीं है, अर्थात् अन्तःकरण का अपने आश्रय-रूप

साक्षी के धर्मों से (नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्त-असंग-निर्विकार-सत्-चित्-आनंद आदि धर्मों से) कोई सम्बन्ध नहीं है और वह अन्तःकरण साक्षी के स्वरूप को प्रमेय-चेतन (विषय-चेतन) से भिन्न करके भी जनवाता है। इसलिए अन्तःकरण साक्षी की उपाधि कहलाता है।

और आभास-वाद वाले कहते हैं कि यद्यपि एक ही अन्तःकरण प्रमाता का विशेषण और साक्षी की उपाधि है, किन्तु अन्तःकरण को अकेला न मान करके आभास-सहित ही मानना चाहिये। क्योंकि जहाँ अन्तःकरण होगा वहाँ उसमें चेतन का आभास भी अवश्य पड़ेगा। इसलिए यों कहना चाहिये कि आभास-सहित-अन्तःकरण-विशिष्ट-चेतन, अर्थात् साभास-अन्तःकरण जिसका विशेषण है वह चेतन, प्रमाता (जीव) है। और आभास-सहित-अन्तःकरण-उपहित-चेतन, अर्थात् साभास-अन्तःकरण जिसकी उपाधि है वह चेतन साक्षी है।

शंका :- भगवन् ! मैं इन दोनों मतों में से किस को ठीक मानूँ ? अर्थात् अवच्छेद-वादानुसार अन्तःकरण-विशिष्ट-चेतन को जीव, तथा अन्तःकरण-उपहित-चेतन को साक्षी मानूँ, अथवा आभास-वादानुसार साभास-अन्तःकरण-विशिष्ट-चेतन को जीव, तथा साभास-अन्तःकरण-उपहित-चेतन को साक्षी मानूँ ?

उत्तर :- हे शिष्य ! वैसे तो दोनों मतों में

प्रमाता-चेतन को विशेष्य (अन्तःकरण रूपी विशेषण वाला) मान कर उसमें जन्म-मरण आदि संसार नहीं मानते हैं। क्योंकि वे कहते हैं कि विशेषण के धर्मों का विशिष्ट में (विशेषण-सहित में) भी व्यवहार (प्रतीति और कथन) हुआ करता है। जैसे किसी ने डंडे से घड़े को फोड़ दिया। यह देख कर लड़के ने अपने पिता से कहा कि, "पिताजी ! अब घड़ा नष्ट हो गया, तो फिर उसमें जो घटाकाश था वह भी नष्ट हो गया होगा" ? तब पिता ने कहा, कि "हे पुत्र ! यह नाश हुआ है घड़े रूपी विशेषण का, और तुझे प्रतीत हो रहा है घटाकाश रूपी विशिष्ट (विशेष्य) में; (यहाँ घड़ा विशेषण है और घटाकाश विशिष्ट है)। क्योंकि विशेषण के धर्म विशिष्ट में भी प्रतीत हुआ करते हैं। जैसे हरा रंग है लट्टू रूपी विशेषण का, और प्रतीत होता है लट्टू-विशिष्ट-प्रकाश में। इसी प्रकार वास्तव में जन्म-मरणादि-संसार है विशेषण में (अन्तःकरण अथवा साभास-अंतःकरण में) किन्तु भ्रान्ति से उसका व्यवहार (प्रतीति और कथन) होता है, विशिष्ट-चेतन (प्रमाता) में।

परन्तु दोनों वादों में से आभास-वाद को ही श्रेष्ठ माना जाता है। क्योंकि (१) मन्द-बुद्धि वाले जिज्ञासुओं को यह जल्दी समझ में आ जाता है। इस दृष्टि से (सरलता की दृष्टि से) भाष्यकार श्रीस्वामी शंकराचार्य-जी ने भी आभास-वाद को ही अंगीकार किया है।

(२) पंचदशीकार श्रीविद्यारण्यस्वामीजी ने

अवच्छेद-वाद में कुछ दोष भी बतलाए हैं। वे कहते हैं कि जैसे काच और ढक्कन दोनों यद्यपि मिट्टी से ही बनते हैं, किन्तु काच स्वच्छ है, इसलिए उसमें तो मुख आदि का आभास (प्रतिबिम्ब) पड़ता है, और ढक्कन स्वच्छ नहीं है, इसलिए उसमें किसी का भी आभास नहीं पड़ता। इसी प्रकार अन्तःकरण सत्व-गुण का कार्य होने से स्वच्छ है, इसलिए उसमें तो चेतन का आभास पड़ता है। किन्तु स्थूल-शरीर और घटादिक पदार्थ तमोगुण के कार्य होने से स्वच्छ नहीं हैं, इसलिये उनमें चेतन का आभास नहीं पड़ता।

अब यदि अवच्छेद-वादानुसार आभास-रहित-अन्तःकरण-विशिष्ट-चेतन को प्रमाता मानेंगे तो आभास-रहित-घट अथवा स्थूल-शरीर-विशिष्ट-चेतन भी प्रमाता होना चाहिये। क्योंकि जैसे अन्तःकरण पञ्चभूतों का कार्य है, वैसे घड़ा अथवा स्थूल-शरीरादिक जड़ पदार्थ भी पाँच भूतों के ही कार्य हैं। किन्तु घट अथवा स्थूल शरीर इत्यादि से विशिष्ट-चेतन, प्रमाता (ज्ञाता) नहीं है। यह बात तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसलिए अन्तःकरण को अवच्छेद-वादानुसार आभास-रहित न मान करके, आभास-वादानुसार आभास-सहित ही मानना चाहिए।

(३) अवच्छेद-वाद के अनुसार अन्तःकरण में चेतन के आभास को नहीं मानने से यह प्रश्न उठता

है कि, जैसे अन्तःकरण भूतों का कार्य है, वैसे घड़ा, मकान, स्थूल शरीर इत्यादि भी तो भूतों के कार्य हैं। और जैसे सामान्य-चेतन अन्तःकरण में व्यापक है, वैसे सर्वव्यापक होने के नाते वह घड़े, मकान स्थूल शरीर इत्यादि में भी व्यापक है। तो फिर जहाँ अन्तःकरण है, उसे चेतन कहते हैं (जैसे चलते फिरते मनुष्य को) और जहाँ अन्तःकरण नहीं है, उसे जड़ कहते हैं (जैसे घड़े, मकान, मुर्दे इत्यादि को) सो क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर तो केवल आभास-वाद ही दे सकता है कि जहाँ अन्तःकरण है, वहाँ सामान्य-चेतन के साथ २ उसमें चेतन के आभास के पड़ने से अनिर्वचनीय [मिथ्या] विशेष-चेतना भी उत्पन्न होती है। और जहाँ अन्तःकरण नहीं है, वहाँ चेतन के आभास के पड़ने के कारण केवल सामान्य-चेतन तो है, किन्तु विशेष-चेतना उत्पन्न नहीं होती।

इसलिए जहाँ, अन्तःकरण के होने से उसमें आभास के कारण विशेष-चेतना उत्पन्न होती है, उसे लोक में चेतन कहते हैं। और जहाँ, अन्तःकरण न होने के कारण आभास के अभाव से विशेष-चेतना उत्पन्न नहीं होती, उसे जड़ कहते हैं। इसलिए आभास-सहित-अन्तःकरण–विशिष्ट-चेतन प्रमाता (जीव) है, और आभास-सहित-अन्तःकरण-उपहित-चेतन साक्षी है। यह जो आभास-वाद है वही श्रेष्ठ माना जाता है।

हे शिष्य ! जैसे तुमने आभस-वादानुसार अन्तः-

करण को आभास-सहित सुना, इसी प्रकार जो अन्तः-करण की वृत्ति ज्ञेय-वस्तु तक पहुँचती है, वह भी आभास-सहित ही होती है। उस आभास-सहित वृत्ति से विशिष्ट-चेतन को प्रमाण-चेतन कहते हैं। और वह साभास-वृत्ति जब ज्ञेय (जानने योग्य) वस्तु के आकार को धारण कर लेती है, तब उस ज्ञेय वस्तु के आकार वाली आभास-सहित-वृत्ति से विशिष्ट-चेतन को प्रमा-चेतन, प्रमिति-चेतन अथवा यथार्थ-ज्ञान भी कहते हैं।

किन्तु यह जो मैंने तुझे प्रमा-चेतन अर्थात् यथार्थ-ज्ञान का प्रकार बतलाया है, वह बाहर के पदार्थों के प्रत्यक्ष के बारे में ही है। क्योंकि जब बाहर के पदार्थों का ज्ञान करना होता है, तभी वृत्ति ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाहर निकला करती है। किन्तु जब शरीर के अन्दर ब्रह्म-स्वरूप-आत्मा का प्रत्यक्ष करना होता है, तब अन्तःकरण की वृत्ति बाहर नहीं निकलती, किन्तु शरीर के अन्दर ही वृत्ति आत्माकार हुआ करती है। अर्थात् उस समय वह वृत्ति आत्मा के आश्रित अज्ञान (अज्ञान के आवरण) को ही केवल दूर करती है। और आत्मा स्वयं प्रकाश होने के कारण उसका अपने आप ही वृत्ति में प्रकाश होता है। अर्थात् जैसे जड़ वस्तुओं के ज्ञान में पहिले वृत्ति अज्ञान को नष्ट करती है, और फिर वृत्ति में आया हुआ चिदाभास उस वस्तु को जनवाता है, वैसे आत्मा के ज्ञान में नहीं होता। वहाँ तो जिस क्षण में वृत्ति अज्ञान को नष्ट करती है,

इसी क्षण आत्मा का अपने आप प्रकाश होने लग जाता है, अर्थात् उसे प्रकाशित करने (जनवाने) के लिए चिदाभास की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि आत्मा स्वयं प्रकाश है। इसी दृष्टि से शास्त्र में कहा है कि आत्म-ज्ञान में वृत्ति-व्याप्ति तो होती है, अर्थात् वृत्ति अज्ञान को नष्ट तो करती है, किन्तु फल-व्याप्ति नहीं होती अर्थात् जैसे दर्पण में आया हुआ सूर्य का आभास सूर्य को प्रकाशित नहीं करता उसी प्रकार वृत्ति में आया हुआ चिदाभास आत्मा को प्रकाशित नहीं करता।

हे शिष्य ! ब्रह्म-स्वरूप साक्षी (आत्मा) का, स्वयं प्रकाश रूप से भान (प्रत्यक्ष) किस प्रकार होता है, यह तो अब तुम्हारी समझ में आगया होगा।

शंका:—भगवन् ! आपने तो यह कहा कि ब्रह्म-रूप-आत्मा के प्रत्यक्ष-दर्शन के लिये वृत्ति इन्द्रियों द्वारा बाहर नहीं निकलती किन्तु जब अन्तर्मुख हो कर अज्ञान को तोड़ कर के ब्रह्म को निरावरण कर लेती है, तब उसी स्वयं प्रकाश ब्रह्म का स्वयं (अपने आप) ही भान होता है।

किन्तु पुराणों में तो भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तथा श्रीकृष्णचन्द्रजी इत्यादि अवतारों का ब्रह्मरूप से वर्णन आया है। और जब राम-कृष्ण-आदिकों के शरीर ब्रह्म-रूप थे, तो उनके दर्शन के लिये आँख इत्यादि इन्द्रियों की सहायता मानना आवश्यक है, फिर आप कैसे कहते हैं कि ब्रह्म

दर्शन के लिये वृत्ति के अन्तर्मुख होने की आवश्यकता है, न कि इन्द्रियों की ?

उत्तर :—हे शिष्य ! पुराणों में जो रामकृष्णादिकों का ब्रह्मरूप से वर्णन आया है, वह उनके शरीरों की दृष्टि से नहीं किन्तु उनके असली स्वरूप (अधिष्ठान) शुद्ध-चेतन की दृष्टि से ही आया है।

शंका :—भगवन् ! यों तो सभी का असली स्वरूप (अधिष्ठान) शुद्ध चेतन ब्रह्म है अर्थात् अधिष्ठान की दृष्टि से तो सारा संसार [मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी] ब्रह्म-स्वरूप है, तो फिर रामकृष्णादिकों में और हम साधारण प्राणियों में अन्तर ही क्या हुआ ? यदि कोई अन्तर नहीं है तो पुराणों में जैसे रामकृष्णादिकों का ब्रह्म-रूप से वर्णन आया है, वैसे उनके साथ रहने वाले और प्राणियों का भी ब्रह्म रूप से वर्णन क्यों नहीं आया ? इसलिये यह मानना चाहिये कि रामकृष्णादिकों के शरीर ही ब्रह्म-रूप थे।

उत्तर :—हे शिष्य ! ब्रह्म का तो कभी अन्त होता ही नहीं है। वेद ने भी कहा है कि, "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" अर्थात् ब्रह्म सत् है, ज्ञान-स्वरूप है और अनन्त है, अर्थात् उसका कभी अन्त ही नहीं होता। इसलिये रामकृष्णादिकों के शरीर ही यदि ब्रह्म तो होते उनका कभी अन्त नहीं होता। और—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ (मु० उ० २।२।८)

यह श्रुति भी कहती है कि, "उस परावर ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर, इस ब्रह्म-ज्ञानी के हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशय कट जाते हैं, तथा समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं"।

इस वेद के कथनानुसार, ब्रह्म के दर्शन के वाद तो सभी संशय नष्ट हो जाते हैं। और कृष्णादिकों के शरीर ही यदि ब्रह्म होते, तो अर्जुनादिकों को उनके दर्शन के वाद, संशय न रहते। और सभी लोग उनके शरीरों के देखने मात्र से ही ब्रह्म-ज्ञानी बन जाते, फिर गीता इत्यादि सुनाने की कोई आवश्यकता ही न थी। किन्तु भगवान् ने गीता इत्यादि का उपदेश, ब्रह्म-ज्ञान करवाने के लिये अर्जुन को अपने श्रीमुख से ही सुनाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि राम कृष्णादिकों के शरीर ब्रह्म-रूप नहीं थे।

शंका :- भगवन् ! वेदान्त-मत में तो "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् यह सब (सारा संसार) ब्रह्म-रूप है। यदि सारा संसार ब्रह्म-रूप है तो फिर राम-कृष्णादिकों के शरीर ब्रह्म-रूप कैसे नहीं हैं ?

उत्तर :- हे शिष्य ! वेदान्त ने जो सारे संसार को ब्रह्म-रूप कहा है वह नाम रूप का बाध करके अर्थात् नाम रूप को मिथ्या सिद्ध करके, और अधिष्ठान शुद्ध चेतन को लक्ष्य करके ही कहा है।

जैसे किसी सराफ़ के पास यदि शुद्ध सोने का बना हुआ चूड़ा और तांबे मिश्रित सोने का बना हुआ

गणेश ले जाकर यह पूछा जाय कि "इन दोनों में किसका मूल्य अधिक है" ? तो वह सराफ चूहे का ही मूल्य अधिक बताएगा। यदि उससे पूछा जाय कि "गणेश को आपने चूहे से कम कैसे बताया" ? तो वह उत्तर देगा कि "मूल्य बतलाते समय मेरी दृष्टि गणेश और चूहे पर नहीं थी, किन्तु सोने पर ही थी अर्थात् उस समय में गणेश और चूहे के नाम रूपों का बाध करके केवल उनके अधिष्ठान सोने को ही देख रहा था।" इसी प्रकार वेदान्ती (ब्रह्म-ज्ञानी) भी जब यह कहता है कि "यह सारा संसार ब्रह्म है" तब यह समझना चाहिये कि वह संसार के नाम रूप को बाधकर व संसार के अधिष्ठान शुद्ध चेतन ब्रह्म को लक्ष्य करके ही कह रहा है।

इस प्रकार हे शिष्य ! यदि तुम राम-कृष्णादिकों के शरीरों को बाध करके, फिर ब्रह्म कहोगे तो भी ठीक नहीं; क्योंकि यों तो सभी शरीर नाम रूप को बाध करके ब्रह्म कहला सकते हैं। और यदि बिना बाध किये ही राम-कृष्णादिकों के शरीरों को ब्रह्म कहोगे तो भी ठीक नहीं है; क्योंकि दूसरों के शरीरों की तरह हाथ पाँव आदि अवयवों वाले, रूप वाले, व क्रिया वाले शरीर का निरवयव, नीरूप, अक्रिय ब्रह्म से अभेद नहीं बन सकता।

इससे यह सिद्ध हुआ कि राम-कृष्णादिक अवतारों के शरीर ब्रह्म-रूप नहीं होते हैं, किन्तु मायिक ही (माया से रचे हुए ही) होते हैं। और पुराणों में जहाँ

राम-कृष्णादिकों के ब्रह्म-रूपता का वर्णन आया है, वहाँ शरीर का तो नाम ही नहीं है। इसलिये यह समझना चाहिये कि पुराणों का अभिप्राय राम-कृष्णादिकों के असली स्वरूप को ब्रह्म बतलाने में है, न कि उनके शरीरों को।

शंका :- प्रभो ! आपकी कृपा से यह तो समझ में आ गया कि राम-कृष्णादिकों के शरीर ब्रह्म नहीं थे। किन्तु वह शंका तो मेरी रह ही गई कि जैसे कृष्णादिकों के शरीर ब्रह्म-रूप नहीं थे, वैसे उनके साथ रहने वालों के भी शरीर ब्रह्म-रूप नहीं थे। फिर पुराणों ने ऐसी क्या विशेषता देखी कि जो कृष्णादिकों को तो ब्रह्म शब्द से वर्णन किया, और दूसरों को ब्रह्म शब्द से वर्णन नहीं किया।

उत्तर :- हे शिष्य ! राम-कृष्णादिकों के शरीर तो अवतारी-शरीर थे, और दूसरों के अवतारी-शरीर नहीं थे। इसी विशेषता को लक्ष्य करके ही, पुराणों ने राम-कृष्णादिकों का ब्रह्म शब्द से कीर्तन किया है।

शंका :- भगवन् ! अवतारी-शरीरों में और साधारण-प्राणियों के शरीरों में कोई भेद तो दीखता ही नहीं है, फिर हम कैसे समझें कि कृष्णादिकों के शरीर तो अवतारी थे और अर्जुनादिकों के शरीर अवतारी नहीं थे ?

उत्तर :- हे शिष्य ! यह तो कोई नियम नहीं है कि जहाँ तुम्हें कोई भेद नहीं दीखता है वहाँ

भेद है ही नहीं। क्योंकि ऐसे भी कई स्थल होते हैं, जहाँ भेद होता हुआ भी नहीं दीखता। जैसे हम ऊँचे मकान के ऊपर हरे रंग का बड़ा हजार वाट्स (Wotts) का गोल बल्ब जलता हुआ देखते हैं, तो वह हमें चन्द्रमा की तरह चमकता हुआ नजर आता है। दीखने में तो वह गोल, हरा बल्ब और चन्द्रमा दोनों एक जैसे और एक जितने ही होते हैं, किन्तु वास्तव में उन दोनों में महान् अन्तर है। ठीक इसी प्रकार अवतारी-पुरुषों के शरीर व साधारण-पुरुषों के शरीर दीखने में तो एक जैसे ही हैं, किन्तु वास्तव में उनमें महान् भेद है।

शंका :– भगवन् ! अवतारी-शरीरों में और साधारण-शरीरों में क्या भेद है यह कृपा करके बतलाइये ?

उत्तर :– हे अनघ ! उनमें प्रधानतया तीन प्रकार का भेद है। (१) जीवों के शरीर अपने पूर्व-जन्मों में किये हुए पुण्य-पाप कर्मों के (प्रारब्ध-कर्मों के) फल हैं। (२) वे पाँच-भूतों के कार्य हैं। और (३) जीवों को शरीर-स्त्री-पुत्रादिक अनात्म-पदार्थों में अज्ञान के कारण, अहं-मम-अध्यास अर्थात् मैं और मेरे-पन की भ्रांति रहती है, और वह भ्रांति गुरु के उपदेश से आत्म-ज्ञान होने के बाद ही नष्ट होती है।

किन्तु राम-कृष्णादिकों के शरीर अपने (पूर्व-जन्मों में किए हुए) कर्मों के फल नहीं हैं। क्योंकि उनका पूर्व-जन्म तो शास्त्र कहता ही नहीं है। और जब

उनका पूर्व-जन्म था ही नहीं, तो फिर उन्होंने कब कर्म किये जिन कर्मों के फलस्वरूप उनके शरीर माने जाएँ ।

शंका :—भगवन् ! यदि राम-कृष्णादिकों के शरीर उनके अपने कर्मों के फल नहीं हैं, तो फिर उन शरीरों की उत्पत्ति कैसे हुई । क्योंकि हम देखते हैं कि बिना किसी कारण के कोई कार्य बनता ही नहीं है तो फिर उनके शरीरों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? क्योंकि वेदान्त का यह सिद्धान्त है कि ज्ञानियों के कर्म नष्ट हो जाते हैं, इसलिये उन्हें आगे शरीर नहीं मिलता, उनके प्राण यहीं लीन हो जाते हैं, अर्थात् वे मुक्त हो जाते हैं । तो भगवन् ! इस सिद्धान्त से यह समझ में आता है कि शरीर बिना कर्मों के नहीं मिलता, अर्थात् सब शरीर कर्मों के ही फल हैं । ऐसी दशा में यदि राम-कृष्णादिकों के शरीर अपने कर्मों के फल नहीं हैं, तो फिर किन कर्मों के फल हैं, यह कृपा करके समझाइये ?

उत्तर :—हे शिष्य ! कर्म-विज्ञान हमें यह बतलाता है कि सुख पुण्य-कर्मों का फल और दुःख पाप-कर्मों का फल हैं । बिना पुण्य-पाप के किसी को कभी सुख दुःख नहीं मिल सकते । और हम देखते हैं कि अवतारों के शरीरों से साधु-पुरुषों को (सत् पुरुषों को) तो सुख मिलता है, और दुष्टों को दुःख मिलता है । और जो शरीर जिनके सुख-दुःख का हेतु होता है, वह शरीर उनके पुण्य-पाप से बना हुआ माना जाता है । इसलिए :—

(१) अवतारों के शरीर साधु-पुरुषों के (सज्जनों के) सुख के हेतु होने के कारण, उन साधु-पुरुषों के पुण्य कर्मों के फल हैं। और

(२) असुरादिक असाधु-पुरुषों के (दुष्टों के) दुःख के हेतु होने के कारण, उन दुष्ट-पुरुषों के पाप कर्मों के फल हैं अर्थात् राम-कृष्णादिकों के शरीर अपने पुण्य-पाप कर्मों के फल नहीं हैं। क्योंकि उनको कभी अपने शरीर से स्वयं को सुख दुःख का भोग नहीं माना जाता। इस से यह सिद्ध हुआ कि साधु-असाधु पुरुषों के सुख-दुःख के हेतु होने के कारण अवतारी-शरीर उन साधु-असाधु पुरुषों के पुण्य-पाप कर्मों के ही फल हैं।

शंका :-भगवन् ! यह तो समझ में आगया कि अवतारों के शरीरों से सज्जनों को सुख और दुष्टों को दुःख मिलता है, इसलिये वे उनके पुण्य-पाप कर्मों के ही फल हैं। किन्तु यह जो आपने कहा कि उनको स्वयं सुख-दुःख नहीं मिलता है, इसलिये उनके शरीरों में उनके अपने कोई पुण्य-पाप कर्म कारण नहीं पड़ते, यह समझ में नहीं आया। क्योंकि रामायण आदि ग्रन्थों में श्रीरामचन्द्र आदि अवतारी-पुरुषों के बनवास आदि दुःखों का वर्णन आया है। फिर आप कैसे कहते हैं कि अवतारी-पुरुषों को स्वयं को कोई सुख-दुःख नहीं होता ?

उत्तर :-हे शिष्य ! यदि कोई रामलीला के नाटक का संचालक, स्वयं श्रीरामचन्द्रजी का अभिनय (ऐक्टिङ्ग)

करते समय लक्ष्मण को भाई कहता है, सीता के चुराये जाने पर दुःख प्रकट करता है, और रावण को शत्रु की तरह मारता है, तो इस प्रकार वह राम-वेष-धारी वहाँ खेल में वनवास जाने पर, सीता के चुराये जाने पर, अथवा रावण को मार करके सीता को लेकर, अयोध्या में राजसिंहासन पर बैठना इत्यादि अभिनय करते समय, क्या वास्तव में सुखी दुःखी होता है?

शिष्य :— भगवन्! उस राम-वेष-धारी पुरुष को अभिनय करते समय तो सुख-दुःख इसलिये नहीं होता कि वह उस सारे रामलीला खेल को केवल अभिनय-मात्र (लीला-मात्र) ही समझता है और उन सीता-लक्ष्मण-आदि अभिनायकों से (पार्ट लेने वालों से) वह अपना वास्तविक सम्बन्ध नहीं समझता।

गुरुजी :— हे शिष्य! बस इसी प्रकार श्रीरामचन्द्र-आदि अवतार भी अपने सभी कार्यों को लीला-मात्र (अभिनय-मात्र) ही समझते हैं। केवल अपनी मर्यादा-द्वारा दूसरों को मर्यादा सिखाने के लिये ही वे व्यवहार करते हैं, न कि किसी से अपना वास्तविक सम्बन्ध समझ कर। क्योंकि यह नियम है कि जहाँ वास्तविक सम्बन्ध माना जाता है, वहाँ मोह अवश्य उत्पन्न होता है। और मोह उत्पन्न होने से, दूसरे विकार उत्पन्न होकर पुरुष को अपनी मर्यादा से गिरा देते हैं। किन्तु श्रीरामचन्द्र आदि तो मर्यादा-पुरुषोत्तम कहलाते हैं; अर्थात् उन्होंने तो हमें मर्यादा का पाठ पढ़ाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि उनका किसी

में मोह नहीं था और व्यवहार करते समय किसी से वास्तविक सम्बन्ध नहीं समझते थे; इसलिये उनको व्यवहार करते समय कोई सुख दुःख नहीं होता था।

और यह तो आपने ऊपर सुना ही था कि अवतारों के शरीर साधु-असाधु-पुरुषों के पुण्य-पाप कर्मों से ही बनते हैं, इसलिये उनके शरीरों से सज्जनों को और दुष्टों को सुख व दुःख मिलता है। अतः यदि श्रीरामचन्द्रजी वन में जाना इत्यादि लीला (अभिनय) न करते, तो महात्मा, तपस्वी आदि साधु-जनों को वन में दर्शन इत्यादि का सुख कैसे मिलता और जो दुष्ट-जन महात्माओं को दुःख देते थे, उनको दुःख कैसे मिलता अर्थात् वे कैसे मारे जाते। यदि रावण द्वारा सीता-हरण आदि लीला (अभिनय) न रचते तो रावण आदि दुष्ट-जनों का (अपने अभिमान में आकर दूसरों को दुःख देने वालों का) नाश किस बहाने करते। क्योंकि बिना किसी कारण के किसी को दण्ड देना भी तो मर्यादा के विरुद्ध है।

तो हे शिष्य ! इससे यह सिद्ध हुआ कि अवतारी पुरुषों का जितना भी व्यवहार है, वह केवल लीला-मात्र (अभिनय-मात्र) ही है और उनके व्यवहार से उन्हें कोई सुख-दुःख नहीं होता, किन्तु सज्जनों को सुख और दुष्टों को दुःख मिलता है। इसलिये उनके शरीर उनके अपने पुण्य-पाप कर्मों के फल स्वरूप नहीं हैं किन्तु साधु-पुरुषों के पुण्य कर्मों के तथा दुष्ट-पुरुषों के पाप कर्मों के ही फल-स्वरूप हैं।

(२) जैसे साधारण पुरुषों के शरीर पाँच भूतों के कार्य होते हैं, वैसे रामकृष्णादिकों के शरीर पाँच भूतों के कार्य नहीं माने जाते, अर्थात् साधारण पुरुषों की तरह अवतारों के हाड, माँस, रक्त आदि सात धातुओं के बने हुए शरीर नहीं होते, किन्तु चेतन के आश्रित माया के ही परिणाम (कार्य) होते हैं। क्योंकि यदि पंचीकृत-भूतों के परिणाम होते, तो कृष्णचन्द्रजी के शरीर को जब माता यशोदा बाँधने लगी तब वे बाँधने में आ जाते, फिर जब अपने को स्वयं अपनी लीला से बँधवा लिया, तो फिर बिना छुड़ाये नहीं छूटते। किन्तु श्रीमद्भागवत में आया है कि वे उस समय दो ऋषियों को वृक्ष-योनि से मुक्त करके, फिर अपने आप ही बिना छुड़ाये छूट गए। इससे यह सिद्ध होता है कि उनका शरीर पाँच-भौतिक नहीं था, किन्तु मायिक (संकल्प से खड़ा किया हुआ) था। भगवान् ने स्वयं गीता में कहा है कि:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥४-७॥

अर्थात् जब जब वर्णाश्रम-धर्मावलम्बियों के अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) के हेतु वैदिक धर्म का ह्रास होता है, तब तब मैं धर्म-रक्षण, और अधर्म-विनाश के योग्य शरीर को धारण करता हूँ।

और आगे ८ वें श्लोक में ऊपर कही हुई बात को पुष्ट करते हुए कहा है कि :—

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्"।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

अर्थात् सज्जनों की रक्षा के लिए, असज्जन पापियों के विनाश के लिये और धर्म की स्थापना के लिये मैं प्रत्येक युग में अवतार लेता हूँ, अर्थात् प्रकट होता हूँ।

आगे ९ वें श्लोक में "जन्म कर्म च मे दिव्यम्" इत्यादि से कहा है कि "हे अर्जुन ! मेरा वह जन्म (प्रकट होना) और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है। इस प्रकार जो पुरुष तत्त्व से जानता है, वह शरीर को त्याग कर फिर जन्म को प्राप्त नहीं होता किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है।"

इस श्लोक में भगवान् ने अपने जन्म को दिव्य कह कर यह सिद्ध किया है कि उनका शरीर साधारण प्राणियों की तरह पाँच-भौतिक नहीं है किन्तु अलौकिक है, अर्थात् मायिक (केवल माया से खड़ा किया हुआ) है।

इस बात को स्पष्ट शब्दों में अपने श्रीमुख से पहिले ही चौथे अध्याय के (६) श्लोक में कह दिया है कि,

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

अर्थात् मेरा जन्म प्राकृत (साधारण) मनुष्यों के सदृश नहीं है। मैं अविनाशी स्वरूप, अजन्मा (जन्म रहित) होते हुए भी तथा समस्त भूत प्राणियों का ईश्वर होने पर भी, अपनी त्रिगुणात्मिका माया को

अपने वश में करके, अपनी योग माया से (लीला से) शरीरधारी की तरह जन्म लेने के सदृश प्रकट होता हूँ। अन्य लोगों की तरह वास्तव में जन्म नहीं लेता। इस श्लोक से तो भगवान् ने स्पष्ट कर दिया है कि उनका जन्म लेना अर्थात् शरीर धारण करना, मायिक है वास्तविक (पाँच-भौतिक) नहीं है।

शंका :– भगवन् ! तो फिर जो अवतारी पुरुष हैं, उनके शरीर मायिक होने के कारण उन पर भौतिक-पदार्थों का असर भी नहीं होता होगा ?

उत्तर :— हाँ ! उनके शरीरों पर भौतिक पदार्थों का असर नहीं होता है। जैसे रज्जु-बन्धन तथा कंस द्वारा भेजी हुई दूती के स्तन-पान करते समय उन पर विष का असर नहीं हुआ था। जैसे युद्ध में अर्जुन का जो मायिक रथ था, उसको पहिले कई अग्नि-बाण इत्यादि लगे किन्तु नहीं जला, और युद्ध समाप्त होते ही संकल्प समाप्त होने पर अपने आप ही वह रथ जल गया, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी अथवा श्रीकृष्णचन्द्रजी को युद्ध में कभी कोई घाव इत्यादि नहीं हुए और फिर संकल्प पूरे होने पर श्रीकृष्णजी ने एक बाण की लीला मात्र से ही शरीर को छोड़ दिया। इत्यादि कई उदाहरणों से सिद्ध होता है कि उनका शरीर भौतिक नहीं था, किन्तु मायिक (संकल्प-मात्र) ही था।

जैसे सृष्टि के आदि में जब प्राणियों के कर्म अपना भोग देने के लिये सम्मुख होते हैं, तब माया-

विशिष्ट-चेतन आप्तकाम ईश्वर में भी प्राणियों के कर्मों के अनुसार "मैं जगत् की उत्पत्ति करूँ" ऐसा संकल्प होता है। इस संकल्प से जगत् की सृष्टि (उत्पत्ति) होती है। वैसे सृष्टि के बाद भी "मैं जगत् का पालन करूँ" अर्थात् सब को अपने अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख मिले, ऐसा ईश्वर का संकल्प होता है। उस पालन-संकल्प के बीच में, उपासक पुरुषों की उपासना के बल से ईश्वर को ऐसा संकल्प होता है कि "रामकृष्णादिक नाम सहित मूर्त्ति सब को प्रतीत हो" उस ईश्वरीय संकल्प से विशेष नाम रूप रहित ईश्वर में रामकृष्णादिक नाम सहित पीताम्बरधर श्यामसुन्दर आदि विग्रह रूप की उत्पत्ति होती है। वह विग्रह केवल माया-मात्र (संकल्प-मात्र) ही होता है। उस विग्रह (मूर्त्ति) का दर्शन वास्तव में माया का ही दर्शन है। मोक्ष-धर्म में भी कहा है कि :—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि ॥ इति ॥

अर्थात् हे नारद ! सब भूत गुणों से युक्त जिस मुझ को तुम देखते हो, यह तो मेरी रची हुई माया है; मुझे तो तुम इन चर्म-चक्षु से देख ही नहीं सकते। अर्थात् जो मैं तुम्हें शरीर रूप से दीख रहा हूँ, यह मेरा दर्शन नहीं किन्तु मेरी माया का ही दर्शन है। इससे भी भगवान् ने अपने अवतारी शरीर को मायिक शरीर ही सिद्ध किया है।

तथा अध्यात्म-रामायण में शिवजी ने पार्वती जी से

कहा है कि हनुमान्जी के पूछने पर माता सीता जी ने हनुमान्जी को रामायण के समस्त चरित्र बतलाते हुए अन्त में यह कहा कि (बालकांड के प्रथम सर्ग के (४२) तथा (४३) श्लोक में माता सीताजी कहती हैं कि) "जन्म से लेकर वनवास लेना, रावण आदि दुष्टों को मारना, और राजगद्दी पर बैठना इत्यादि जितने भी व्यवहार हैं, यह सब मेरा ही खेल है। क्योंकि मैं माया स्वरूप हूँ। किन्तु श्रीरामचन्द्रजी में कोई क्रिया नहीं है; उनका स्वरूप सबसे न्यारा है। वे परमानन्द-स्वरूप हैं। वे न चलते हैं, न ठहरते हैं, न किसी बात पर सोच विचार करते हैं, न उनको कोई इच्छा है, न ग्रहण करते हैं और न छोड़ते हैं, अपितु (बल्कि) वे अचल व निर्विकार हैं। किन्तु जिन जिन माया के गुणों में वे विशेप रूप से प्रवेश करते हैं, अर्थात् वे सामान्य-चेतन जब जिन जिन माया के गुणों से मिल कर विशेप-चेतन रूप से प्रकट होते हैं, तब उसी उसी रूप से लोगों को भासते हैं अर्थात् दीखने में आते हैं"।

माता सीताजी के इस कथन से भी सिद्ध होता है कि जो रामकृष्णादिक अवतारी पुरुषों के शरीर दीखते हैं, वे सब मायिक हैं अर्थात् माया-मात्र हैं, तथा साधारण प्राणियों की तरह पाँच-भौतिक नहीं हैं।

भाष्यकार श्रीस्वामी शंकराचार्यजी ने भी गीता-भाष्य में लिखा है कि, "जीवों पर अनुग्रह करके, शरीर-धारी की तरह माया के बल से, परमात्मा कृष्ण-

रूप में प्रतीत होते हैं। वे जन्मादिक-रहित हैं। उनका वसुदेव द्वारा देवकी से जन्म भी माया से ही प्रतीत होता है"। इस प्रकार भाष्यकार ने भी कृष्ण-शरीर को माया का कार्य कहा है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि पाँच भूतों से अवतारों के शरीरों की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु उनके शरीरों का उपादान-कारण साक्षात् माया है।

(३) जैसे जीवों को शरीरादिक अनात्म-पदार्थों में 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं यज्ञदत्त हूँ' इस प्रकार आत्म-भ्रांति होती है, वैसे रामकृष्णादिक अवतारों को नहीं होती। क्योंकि जीवों की उपाधि जो अविद्या है, वह मलिनसत्वगुण वाली है, और रामकृष्णादिक अवतारों की उपाधि जो माया है वह शुद्धसत्वगुण वाली है। इसलिये जीवों को अविद्या (अज्ञान) के कारण भ्रांति और रामकृष्णादिकों को माया के कारण सर्वज्ञता होती है।

और जैसे जीवों को अज्ञान से उत्पन्न हुए आवरण को (ब्रह्म का न तो भान होता है और न वह है ही, इस अज्ञान के पर्दे को) और शरीर-स्त्री-पुत्रादिकों में 'मैं और मेरेपन' की भ्रांति को नष्ट करने के लिये, गुरु से महावाक्य के उपदेश द्वारा आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है, वैसे रामकृष्णादिकों को आवरण और भ्रांति को नष्ट करने के लिये गुरु द्वारा महावाक्य के उपदेश-जन्य-ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि उनको अज्ञान न होने के कारण आवरण

और भ्रांति ही नहीं होती, जिनको नष्ट करने के लिये ज्ञान की आवश्यकता पड़े। उन्हें तो शुद्धसत्वगुण वाली माया की वृत्ति रूप आत्मा का ज्ञान, उपदेशादिक बिना स्वतः ही सिद्ध होता है।

और जो श्रीरामचन्द्रजी ने श्रीवशिष्ठजी को तथा श्रीकृष्णजी ने श्रीसंदीपनजी को गुरु माना है, वह केवल लोक मर्यादा को सिखाने के लिये ही। क्योंकि भगवान् ने स्वयं गीता में कहा है कि :—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ३-२१॥

अर्थात् "श्रेष्ठ पुरुष जो जो कर्म करता है, दूसरे लोग उसके अनुयायी होकर उस उस कर्म के अनुसार ही आचारण किया करते हैं। तथा वह श्रेष्ठ पुरुष जिस जिस लौकिक अथवा वैदिक प्रथा को प्रामाणिक मानता है, लोग उसी के ही अनुसार चलते हैं अर्थात् उसी को प्रमाण मानते हैं। और आगे यह भी कहा है कि :—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नाऽनवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥३-२२॥

अर्थात् "हे पार्थ! तीनों लोकों में मेरे लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है, अर्थात् मुझे कुछ भी करना नहीं है। क्योंकि मुझे कोई भी अप्राप्त वस्तु प्राप्त नहीं करनी है तो भी दूसरों को शिक्षा देने के लिये मैं कर्म करता ही रहता हूँ"।

भगवान् के इस कथन से यह सिद्ध होता है कि उन अवतारी पुरुषों को ज्ञान प्राप्त करने के लिये

गुरु आदि की आवश्यकता नहीं होते हुए भी दूसरों को मर्यादा सिखाने के लिये उन्होंने गुरु आदि किये।

इस प्रकार हे शिष्य ! ये जो मैंने तुम्हें साधारण प्राणियों के शरीरों से अवतारी शरीरों में प्रधानतया तीन प्रकार की विशेषताएँ बताई हैं, ये सब पूर्ण रूप से पूर्ण-अवतारी शरीरों में ही समझना।

शंका :- भगवन् ! क्या अवतार भी कई प्रकार के होते हैं जो आप पूर्ण-अवतार का नाम ले रहे हैं। यदि अवतार कई प्रकार के होते हैं, तो कृपा करके अवतार शब्द का अर्थ और अवतारों के भेद बताएँ।

उत्तर :- हे शिष्य ! अवतार शब्द का अर्थ है अवतरण होना अर्थात् किन्हीं विशेष कलाओं के साथ प्रकट होना।

शंका :- हे दयालो ! यों तो सभी प्राणियों में कोई न कोई विशेष कला होती है। हम देखते हैं कि पशु पक्षियों में भी जन्म से ही तैरना और उड़ना आदि कलाएँ मौजूद हैं। तथा आज कल के वैज्ञानिक लोग ऐसे ऐसे आश्चर्य-जनक कार्य करके दिखाते हैं, जो साधारण लोग नहीं कर सकते; तो क्या हम उन्हें भी अवतार मानें ?

उत्तर - हे शिष्य ! यद्यपि उनमें विशेष कलाएँ मानी जाती हैं, तथापि जिन में आठ कलाओं के अन्दर अन्दर कलाओं का विकास होता है, उन्हें साधारण

प्राणी कहते हैं। और जिनमें आठ से लेकर सोलह कलाओं तक का विकास होता है उन्हें अवतार कहते हैं।

अवतार शब्द, अव और तार इन दो शब्दों से मिल कर बना है। अवति = रक्षति इति अवः। अर्थात् जो सुखों की और सुखों के कारण सनातन धर्म की रक्षा करता है, वह है अव। तारयति = संसार-सागरात् पारं तारयति इति तारः। अर्थात् जो दुःखों से दुःखों के कारण अधर्म से छुड़ा कर (अधर्म को बढ़ाने वाले दुष्टों का नाश करके) संसार सागर से जिज्ञासुओं को तारता है (संसार सागर से पार कर देता है) वह है तार।

उपरोक्त प्रकार की विशेष-शक्ति (कला) तो ईश्वरीय अवतारों में ही होती है, इसलिये उनको ही अवतार कहते हैं।

हे शिष्य! वे अवतार प्रधानतया दो प्रकार के होते हैं। (१) नित्य-अवतार (२) नैमित्तिक-अवतार।

नित्य-अवतार :- नित्य अर्थात् सदा ही जिन ईश्वरीय शक्तियों का अवतरण (प्रकट होना) होता रहता है, उन्हें नित्य-अवतार कहते हैं। वे नित्य-अवतार फिर तीन प्रकार के हैं। (१) प्रेरक-अवतार (२) आवेशक-अवतार (३) उपदेशक-अवतार।

(१) प्रेरक-अवतार :- जो ईश्वरीय-विशेष-शक्ति अलक्षितरूप (अज्ञात रूप) से सदा हृदय में शुभ कार्य करने

की तथा अशुभ से रोकने की प्रेरणा करती रहती है, उसे प्रेरक-अवतार कहते हैं। जिसे आत्म-पुराण आदि शास्त्रों में विवेक नाम से कहा गया है। क्योंकि विवेक सदा हमें शुभ कार्यों में लगाने के लिये और अशुभ कार्य करते समय अन्दर से रोकने के लिये, अव्यक्त रूप से प्रेरणा करता रहता है। इसलिये उस विवेक रूप से प्रकट हुई एक प्रकार की ईश्वरीय-शक्ति को प्रेरक-नित्य-अवतार कहते हैं।

(२) आवेशक-अवतार :- जो ईश्वरीय-विशेष-शक्ति किसी समय स्थूल शरीर में आवेश (प्रवेश) करके ऊँची तथा शुभ बातों का उपदेश करती है, उसे आवेशक-अवतार कहते हैं। जैसे यजुर्वेद के बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि श्रीपतञ्जलि ऋषि की कन्या में दिव्य गंधर्व ने आवेश (प्रवेश) करके सूत्रात्मा का वास्तविक स्वरूप बतलाया था। और जैसे ब्रह्माजी के वाहन (सवारी) रूप हँस में उस विशेष-शक्ति ने आवेश करके सनकादिकों को उपदेश दिया था। इसी प्रकार लोक में भी कभी कभी देखा जाता है कि किसी की बुद्धि कम होते हुए भी किसी विशेष अनुष्ठान के कारण सरस्वती इत्यादि रूप से जब उस में वह ईश्वरीय-दिव्य-शक्ति प्रवेश करती है, तब वह पुरुष गुप्त तथा अलौकिक बातें लोगों को बताने लग जाता है। इसलिये इस प्रकार की विशेष-शक्ति को आवेशक-नित्य-अवतार कहते हैं।

(३) उपदेशक-अवतार :— जो सन्त महात्मा जन आचार्य रूप से सत्य मार्ग का उपदेश करके तथा स्वयं धर्म पर चल कर, साधारण जन समूह को अधर्म से बचा कर, धर्म पर चलाते हैं; वे उपदेशक-नित्य-अवतार कहलाते हैं। जैसे श्रीस्वामी शंकराचार्य, गुरु नानक, कबीर, रामानन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस आदि, जो सच्चे संत तथा आचार्य हो गये हैं, वे सब उपदेशक-नित्य-अवतार हैं।

शंका :— भगवन् ! आचार्य भी उन्हीं परमात्मा की विशेष-शक्ति के ही अवतरण (अवतार) हैं, इसमें कोई शास्त्र का प्रमाण है क्या ?

उत्तर :— हे शिष्य शास्त्र कहता है कि :—

परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन ।
योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाऽऽचार्य मूर्त्तिस्थः॥इति॥

अर्थात् वे परमात्मा ही स्वयं आचार्य की मूर्त्ति धारण करके, जिन जिज्ञासुओं के मल पक जाते हैं (कर्म और उपासना से जिनके पाप-कर्म और विक्षेप शिथिल हो जाते हैं) उनके जन्म-मरण के कारण रूप पाप-पुण्य कर्मों को मूल से (अज्ञान सहित) नष्ट करने वाली ज्ञान-शक्ति को, दीक्षा (उपदेश) द्वारा देकर, परतत्त्व ब्रह्म में मिला देते हैं अर्थात् मुक्त कर देते हैं।

यह शास्त्र इस में प्रमाण है कि वे परमात्मा ही स्वयं अपनी विशेष-शक्ति द्वारा आचार्य रूप धारण करके जिज्ञासुजनों का कल्याण करते हैं। जब वह ईश्वरीय-विशेष-

शक्ति इस प्रकार आचार्य (गुरु) रूप से प्रकट होती है, तब उसे उपदेशक-नित्य-अवतार कहते हैं। इस प्रकार हे शिष्य ! ये तीन प्रकार के नित्य-अवतार मैंने तुम्हें बतलाए।

शंका :- भगवन् ! नैमित्तिक-अवतार किसे कहते हैं और वे कितने प्रकार के हैं, यह भी कृपा करके बतलाइये।

उत्तर :- हे शिष्य ! जो ईश्वरीय-शक्ति किसी रूप में किसी निमित्त पर अर्थात् किसी विशेष कारण-वशात् किसी समय प्रकट होती है, उसे नैमित्तिक-अवतार कहते हैं। जैसे कभी कुछ दुष्ट लोग देवताओं के वरदान इत्यादि के कारण इतने प्रबल हो जाते हैं कि वे किसी उपदेश आदि से वश में नहीं आते, अर्थात् उनकी दुष्टता के साम्राज्य को वे नित्य-अवतार नहीं हटा सकते, तब उनका नाश करने के निमित्त जो ईश्वरीय-विशेष-शक्ति प्रकट होती है, उसे नैमित्तिक-अवतार कहते हैं। जैसे हिरण्य-कशिपु के नाश के निमित्त नृसिंह-अवतार हुए, रावण को नष्ट करने के लिये श्रीराम और कंस इत्यादि दुष्टों को नष्ट करने के लिये श्रीकृष्णचन्द्रजी इत्यादि अवतार हुए, वे सब नैमित्तिक-अवतार कलहाते हैं।

हे शिष्य ! नैमित्तिक-अवतार भी तीन प्रकार के होते हैं। (१) पूर्ण-अवतार (२) अंश-अवतार (३) कला-अवतार।

(१) पूर्ण-अवतार :— जो अवतार सोलह कलाओं

से सम्पूर्ण हो, उसे पूर्णावतार कहते हैं- जैसे श्रीकृष्ण भगवान् हुए हैं।

(२) अंशावतार :— जो ईश्वरीय-विशेष-शक्ति आठ कलाओं से ऊपर और पन्द्रह कलाओं के अन्दर किसी रूप में प्रकट होती है, उसे अंश-अवतार कहते - जैसे श्रीवेदव्यास, ऋषभ देव, धन्वन्तरि, नारद, परशुराम इत्यादि।

कलावतार :— जो ईश्वरीय-विशेष-शक्ति अंशावतारों की अपेक्षा कुछ कम स्वरूप में प्रकट होती है, उसे कला-अवतार कहते हैं। जैसे ऋषि-गण, मनु-गण, देवता-गण, प्रजापति-गण, इत्यादि जो देवताओं के स्वरूपान्तर हैं, उन्हें कला-अवतार, अंशांशी-अवतार तथा अमुख्य-अवतार भी कहते हैं।

हे शिष्य ! इस प्रकार मुख्य रूप से मैंने तुम्हें छः प्रकार के अवतार बताए। यों तो शास्त्रों में कई प्रकार के अवतार बताए गए हैं। जैसे – लीलावतार, विशेषावतार, अवशेषावतार, इत्यादि। पंचोपासना के अनुसार भी महा-विष्णु के अवतार, महादेव के अवतार, महा-सूर्य के अवतार, महा-शक्ति के अवतार, महा-गणेश के अवतार, इस प्रकार वरुण देवता इत्यादि के, कई प्रकार के अवतार माने जाते हैं। किन्तु हे शिष्य ! इन सब का वर्णन करने से विस्तार हो जायगा। तुम्हें तो इतना समझना चाहिये कि, जब वह ईश्वरीय शक्ति उपासकों की प्रेरणा से किसी न किसी शरीर इत्यादि रूप से प्रकट होती है, तब उस ईश्वरीय-

विशेष-शक्ति के प्रकट होने को अवतार कहते हैं। इसलिये अवतारों के शरीरों में तथा साधारण प्राणियों के शरीरों में भेद मानते हैं। और इसी भेद को लक्ष्य करके ही पुराणों ने अवतारों का तो ब्रह्म शब्द से वर्णन किया है व उनके साथ रहने वाले साधारण प्राणियों का ब्रह्म शब्द से वर्णन नहीं किया है। हे शिष्य ! अब तुम्हें समझ में आगया होगा कि ये अवतारों के शरीर यद्यपि साधारण प्राणियों के शरीरों से विलक्षण हैं अर्थात् भौतिक नहीं किन्तु मायिक (माया के रचे हुए अर्थात् संकल्प-मात्र) हैं तथापि वे ब्रह्म नहीं हैं।

और वह जो तुमने शंका की थी कि- यदि ब्रह्म आंख इत्यादि इन्द्रियों से नहीं दीखता है तो फिर रामकृष्णादिक अवतारों के शरीर आंख आदि इन्द्रियों से कैसे दीखते थे ? वह तुम्हारी शंका हल हो गई। अब तुम्हें यह समझ में आगया कि वह दर्शन ब्रह्म-दर्शन नहीं था केवल रामकृष्णादिकों के मायिक शरीरों का ही दर्शन था। ब्रह्म-दर्शन के लिए तो वृत्ति को इन्द्रियों द्वारा बाहर निकलने की कोई आवश्यकता नहीं है; किन्तु जब वृत्ति अन्तर्मुख होकर, अज्ञान को नष्ट करके, ब्रह्म को निरावरण कर लेती है, तब उसी समय उस स्वयं प्रकाश ब्रह्म का अपने आप ही भान (प्रत्यक्ष) होता है।

शंका :- भगवन् ! ऐसा देखा जाता है कि जब भी किसी विषय का (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध

आदि का) प्रत्यक्ष होता है, तब उसी समय अन्तःकरण की वृत्ति आंख आदि ज्ञान-इन्द्रियों द्वारा बाहर निकलती है। यदि ज्ञान-इन्द्रियाँ न हों तो प्रत्यक्ष-ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता, क्योंकि जिसके आंख आदि इन्द्रियाँ नहीं हैं उसे रूप आदि का प्रत्यक्ष-ज्ञान भी नहीं होता है। किन्तु आप कहते हैं कि ब्रह्म-ज्ञान में वृत्ति इन्द्रियों द्वारा बाहर नहीं निकलती; इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म का ज्ञान अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) नहीं किन्तु परोक्ष ही होता है। और आप यह भी कहा करते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान गुरुमुखद्वारा महावाक्य का उपदेश सुनने से ही होता है। वह उपदेश एक प्रकार का शब्द है, और शब्द से जो ज्ञान हुआ करता है वह परोक्ष ही होता है न कि प्रत्यक्ष। जैसे किसी ने यदि ताजमहल का नाम सुना हो तो केवल सुनने से ही उसे ताजमहल का प्रत्यक्ष-ज्ञान थोड़े ही होता है! तो फिर भगवन् 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के सुनने से ब्रह्म का प्रत्यक्ष-ज्ञान कैसे हो सकता है?

उत्तर :—हे शिष्य! इन्द्रियों की सहायता के बिना प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं हो सकता, यह कोई नियम नहीं है। क्योंकि सुख-दुःख का ज्ञान बिना इन्द्रियों की सहायता के ही होता है, और वह प्रत्यक्ष-ज्ञान ही है। इसलिए इन्द्रिय-संबन्ध से प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है, ऐसा न मानकर यह मानना चाहिये कि जहाँ विषय से अन्तःकरण की वृत्ति का संबंध होने के बाद वृत्ति विषयाकार होती है, वहीं प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है। क्योंकि जब वृत्ति विषय से

मिलती है तब वृत्ति-उपहित-चेतन और विषय-उपहित-चेतन दोनों का अभेद हो जाता है। इसलिये वेदान्त में विषयचेतन का वृत्तिचेतन से अभेद ही प्रत्यक्ष-ज्ञान का लक्षण कहा गया है।

वह अभेद :- (१) कहीं इन्द्रिय-द्वारा होता है- जैसे रूप के प्रत्यक्ष में वृत्ति आँख इन्द्रिय द्वारा बाहर निकलकर जब रूप-विषय से मिलती है तब उस वृत्ति उपहित-चेतन तथा रूप-विषय-उपहित-चेतन दोनों का अभेद (एकीभाव) होता है और तभी रूप का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है।

(२) कहीं इन्द्रियादि-बाह्य-निमित्त के बिना ही शरीर के अन्दर उत्पन्न हुई वृत्ति द्वारा होता है- जैसे सुख दुःख के प्रत्यक्ष में अन्तःकरण की वृत्ति, इन्द्रियादि-रूप दूसरे किसी बाह्य साधन के बिना ही जब सुख-दुःख से संबद्ध होती है (मिलती है) तब उस वृत्ति-उपहित-चेतन तथा सुख-दुःख-विषय-उपहित-चेतन दोनों का अभेद होता है, और तभी सुख-दुःख का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है। [उस सुख-दुःखाकार अन्तःकरण की वृत्ति में आरूढ साक्षी-चेतन उस सुख-दुःख को प्रकाशता है, इसलिए सुख-दुःख को साक्षी-भास्य कहते हैं]

और (३) कहीं शब्द से होता है- जैसे दस आदमी किसी नदी के पार उतरे। उतर कर अपने आदमियों को गिनने लगे। गिनने वाला अपने को

छोड़ कर शेष नौ को गिन लेता था। परिणाम में वे नदी के किनारे बैठ कर दसवें को रो रहे थे कि हाय! दसवाँ डूब गया। तब कोई आप्त पुरुष (सज्जन) वहाँ आया और उसने नौ को गिनने के बाद उस दसवें से कहा कि "अरे! जिस दसवें के लिये तू रो रहा है वह दसवाँ तू ही तो है" बस ये शब्द सुनते ही उसे उसी क्षण अपने दसवें का प्रत्यक्ष-ज्ञान हो गया और कहने लगा "अरे! कितनी भूल थी, जिस दसवें को मैं खोज रहा था वह दसवाँ मैं ही तो हूँ"।

जिस प्रकार "दसवां तू है" ये शब्द जब उस दसवें ने सुनें, उसी समय उसके अन्तःकरण की वृत्ति का दसवें से संबन्ध होने के बाद वृत्ति दशमाकार बनी और तभी दसवें का प्रत्यक्ष-ज्ञान हुआ; क्योंकि उस समय वृत्ति-चेतन और दसवाँरूप-विषय-चेतन का अभेद हुआ था।

ठीक इसी प्रकार हे शिष्य! जब शुद्ध-अन्तःकरण जिज्ञासु गुरु-मुख से 'तत्वमसि' अर्थात् "तू (साक्षी) ब्रह्म है" यह महावाक्य रूप शब्द सुनता है तब उसी समय उसके असली स्वरूप (साक्षी रूप ब्रह्म) से वृत्ति का संबंध होने के बाद अर्थात् वृत्ति का ब्रह्म को विषय करने के बाद, [जैसे हम जब मलिन (मल से ढके हुए) वस्त्र को साबुन से साफ़ करते हैं तब वह साबुन मल को नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाता है और उस वस्त्र का असली स्वरूप सफेदी अपने आप चमकती है; उसी प्रकार जब हम अज्ञान से ढके हुए अपने

असली स्वरूप साक्षी रूप ब्रह्म को 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्ति रूप साबुन से प्रत्यक्ष करते हैं तब वह साबुन रूप वृत्ति अज्ञान रूपी मल को नष्ट करके स्वयम् भी लय हो जाती है, और उस स्वयं प्रकाश ब्रह्म का अपने आप प्रकाश होता है। यही वृत्ति का ब्रह्म को विषय करना है] वृत्ति ब्रह्माकार होती है अर्थात् ब्रह्म का प्रत्यक्ष होता है; क्योंकि उस समय वृत्ति-चेतन का और ब्रह्म-चेतन का अभेद होता है।

वास्तव में चेतन का स्वरूप से तो कोई भेद है ही नहीं किन्तु विषय और वृत्ति रूप उपाधि का किया हुआ भेद है; (जैसे दो घड़ों में आया हुआ आकाश वास्तव में तो एक ही है किन्तु दो घड़ों की उपाधि से दो घटाकाश रूप से दीखता है) क्योंकि वह वृत्ति तथा विषय रूप उपाधि जब भिन्न २ देश में स्थित होती है तब उस उपाधि वाले (उपहित) चेतन का भेद कहा जाता है।

जब वृत्ति विषयाकार होती है तब दोनों उपाधियाँ (वृत्ति और विषय) एक देश में स्थित होती हैं इसलिए उस समय उस उपाधि वाले विषय-चेतन और वृत्ति-चेतन का अभेद कहा जाता है, और वह विषय-चेतन से वृत्ति-चेतन का अभेद ही (एकीभाव ही) प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। उसे अपरोक्ष-ज्ञान और साक्षात्कार भी कहते हैं।

हे शिष्य ! अब तुम्हें समझ में आ गया होगा कि प्रत्यक्ष-ज्ञान बिना इन्द्रियों के भी होता है- जैसे

सुखदुःख का प्रत्यक्षज्ञान। और शब्द के श्रवण से भी प्रत्यक्ष होता है- जैसे दसवें को 'दसवां तू है' इस शब्द को सुनने से अपने दसवेंपन का प्रत्यक्ष-ज्ञान हुआ था। इसलिये हे शिष्य ! गुरुद्वारा "तत्वमसि" महावाक्य को सुनने से जब वृत्ति अन्तर्मुख होती है तब उस समय बिना इन्द्रियों की सहायता के ही अपने असली स्वरूप ब्रह्म का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है।

जब उस तत्त्वदृष्टि नामक उत्तमाधिकारी ने इस प्रकार गुरुमुख से अपने असली स्वरूप का ब्रह्म रूप से वर्णन सुना तब अज्ञान नष्ट होने से उसे अपने असली स्वरूप ब्रह्म रूप साक्षी का प्रत्यक्ष-ज्ञान हुआ। और इस प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसे अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान होने के बाद वह संशय और विपरीत भावनाओं से रहित शान्त मन से उस ब्रह्मानन्द (स्वरूपानन्द) का आनन्द लेने लगा।

इति श्रीविचारसागरदर्पणे उत्तमाधिकारी-उपदेश-निरूपणं नाम चतुर्थतरंगः समाप्तः।

ॐ

* पंचमस्तरंगः *

* अथ श्रीगुरुवेदादिव्यावहारिकप्रतिपादनम् *

अथवा

— मध्यमाधिकारीसाधननिरूपणम् —

इस प्रकार गुरुमुखद्वारा उपदेश सुनकर बड़ा भाई उत्तमाधिकारी तत्त्वदृष्टि तो शंका रहित होकर शान्त हो गया किन्तु मध्यमाधिकारी अदृष्टि को तृप्ति नहीं हुई। तब वह गुरुजी को हाथ जोड़कर, शंका करने की आज्ञा मांग कर कहने लगा :—

शंका :-- भगवन् ! आपने कहा कि, "गुरुमुखद्वारा वेद के वचनों को (वेदान्त को) सुनने से अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। और जिसको ब्रह्म का साक्षात्कार [अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान] होता है, वही इस जन्ममरणादि दुःखरूप-संसार से मुक्त हो जाता है।" इस प्रकार आपने वेद और गुरु को ज्ञानद्वारा मोक्ष के साधन बताए किन्तु यह मेरी समझ

में नहीं आया; क्योंकि वेद और गुरु मोक्ष के साधन बन ही नहीं सकते।

गुरुजी :– हे शिष्य! तुमने यह कैसे समझा कि वेद और गुरु मोक्ष के साधन नहीं बन सकते?

शिष्य (अदृष्टि) :– भगवन्! पहिले मुझे आप यह बताएँ कि गुरु और वेद सत्य हैं या असत्य। यदि आप गुरु और वेद को सत्य मानते हैं, तो आपके अद्वैत सिद्धान्त की हानि होती है। क्योंकि वेदान्त के अद्वैतसिद्धान्तानुसार एक ब्रह्म ही सत्य है शेष सब मिथ्या है।

इसलिए आपको गुरु और वेद को भी मिथ्या ही मानना पड़ेगा। और यदि गुरु और वेद मिथ्या हैं तो वे कभी मोक्ष के साधन नहीं बन सकते। क्योंकि मोक्ष कहते हैं जन्ममरणादि दुःखों के नाश को (दुःखों से छूटने को)। और जो वस्तु स्वयं मिथ्या है वह कभी किसी का नाश नहीं कर सकती; जैसे मृगतृष्णा का जल मिथ्या है तो वह कभी प्यास को नष्ट नहीं कर सकता। इसलिये "गुरु और वेद दोनों ज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष दिलाते हैं" यह आपका कहना मुझे दोष-रहित प्रतीत नहीं होता।

और इन दोषों के कारण ही मध्वाचार्य आदि द्वैतवादियों ने श्रीस्वामीशंकराचार्यजी के माने हुए इस अद्वैतसिद्धान्त को ग्रहण नहीं किया।

गुरुजी :– हे शिष्य! यह आपका कहना ठीक

नहीं है; क्योंकि श्रीशंकराचार्यजी का माना हुआ अद्वैत मत ही प्रामाणिक है। यदि मध्वाचार्य आदि द्वैत वादियों को इस अद्वैत वाद में दोष प्रतीत हुए तो वह उनकी बुद्धि की कमजोरी थी। क्योंकि वेदव्यास जैसे वेदों के ज्ञाता ने भी इस अद्वैत वाद को ही स्वीकार किया है। और श्रीशंकराचार्य जी के बारे में तो उन्होंने (भगवान् व्यास ने) स्वयं वायुपुराण और कूर्मपुराण आदि पुराणों में यह लिखा है कि, "जब कलियुग में वेद के अर्थ से अनभिज्ञ लोग वेद के अर्थ को नाना प्रकार से करने लगेंगे तब कृपालु भगवान् शिवजी श्रीशंकर के नाम से अवतार लेकर, बद्रिनाथ की मूर्त्ति का देवनदी गंगा में से उद्धार, स्वस्थान में स्थापन, नास्तिकमत का खण्डन तथा वेद का यथार्थ-व्याख्यान करेंगे।"

इन वेदव्यासजी के वचनों से यह सिद्ध होता है कि श्रीशंकराचार्यजी का माना हुआ अद्वैत मत ही प्रमाण (यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न करने वाला) है, और मध्वादिकों का द्वैत मत (भेदमत) अप्रमाण है, अर्थात् यथार्थ-ज्ञान को उत्पन्न करने वाला नहीं है।

आदि कवि सर्वज्ञ ऋषि वाल्मीकि जी ने भी, उत्तररामायण 'योगवासिष्ठ' नामक ग्रन्थ में 'दृष्टिसृष्टि-वाद' के रूप में अद्वैतमत का ही प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार हे शिष्य! सर्वज्ञ ऋषिमुनियों के वचनों के विरुद्ध द्वैतवाद को दोषसहित और अप्रमाण ही समझना चाहिये। और युक्तियों (दलीलों) के आगे

भी यह द्वैतवाद नहीं ठहर सकता, इस बात को श्रीहर्षमिश्रादि आचार्यों ने 'खण्डनखण्डखाद्य' तथा 'भेदधिकार' आदि ग्रन्थों में अच्छी तरह से स्पष्ट किया है।

और वेद के वचनों से भी यह द्वैतमत विरुद्ध है; क्योंकि कठ उपनिषद् में आया है कि—

"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"

अर्थात् जो पुरुष इस संसार में नानापने (अनेक पने को [अर्थात् वास्तविक रूप से अद्वैत को न समझ कर द्वैत को] देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् जन्म मरण के चक्कर से नहीं छूटता।

"द्वितीयाद् वै भयं भवति" अर्थात् द्वितीय से ही भय होता है।

"अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्" अर्थात् वह (ब्रह्म) दूसरा है और मैं (साक्षी) दूसरा हूँ, इस प्रकार जो जानता है वह वास्तव में नहीं जानता; वह (द्वैतवादी) देवताओं के पशु की तरह ही है।

इसलिये हे शिष्य! वेदव्यासजी, वाल्मीकिजी और वेद के वचनों से विरुद्ध, तथा युक्तियों के आगे नहीं ठहरने वाले द्वैत वाद को अप्रमाण समझकर छोड़ ही देना चाहिये और ऋषि-मुनि-जन तथा वेद के बताए हुए, इस अद्वैतवाद को ही प्रमाण समझ कर स्वीकार करना चाहिये।

और यह निश्चय कर लो कि जब तक तुम्हारे हृदय में द्वैतभावना (भेद-भावना) रहेगी तब तक जन्ममरण के चक्कर और भय इत्यादि दुःखों से नहीं छूटोगे। और यह द्वैतभावना अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार होने नहीं देगी; क्योंकि ये द्वैतवादियों के वचन जिज्ञासुजनों के हृदय में ऐसे संस्कार डाल देते हैं कि जिन से अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर भी संशय उत्पन्न होते ही रहते हैं। हे शिष्य ! इस बात को समझाने के लिये मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ।

किसी राजा का प्रधान मन्त्री जिसका नाम भर्छु था वह बड़ा बुद्धिमान् और आज्ञाकारी था। उस पर राजा का बड़ा प्रेम था। इसलिये दूसरे मन्त्री भर्छु से ईर्ष्या करते थे। एक बार उन मन्त्रियों ने आपस में मिलकर, किसी उपाय (तरकीब) से राजा से आज्ञा दिलवाकर, भर्छु को डाकुओं के पीछे उन्हें मारने के लिये भिजवा दिया। और राजा को पीछे से उन सब ने मिलकर कहा कि वह भर्छु डाकुओं से लड़ते लड़ते भाग गया। यह सुनकर राजा को बड़ा दुःख हुआ। फिर उन मन्त्रियों के कहने पर राजा ने दूसरे किसी को प्रधान मन्त्री बना दिया। और वहाँ जब भर्छु डाकुओं को मारकर लौटने लगा तब उसे पता लगा कि राजा ने किसी दूसरे को प्रधान मन्त्री बना लिया है और उन मन्त्रियों ने उसे मारने का प्रबन्ध भी कर लिया है। तब उसे (भर्छु को) वैराग्य उत्पन्न हुआ। और सोचने लगा कि "जब

मन्त्रियों का मेरे से कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं हो सका तभी वे मुझे मारने का प्रयत्न करने लगे। यह उनका दोष नहीं वास्तव में यह सारा संसार ही स्वार्थी है। तुलसीदासजी ने सही कहा है कि "सुर नर मुनि जन की यह रीति। स्वारथ लाग करैं सब प्रीति॥" स्त्री भी जो पति को प्रेम करती है वह अपने स्वार्थ के लिये, और पति जो स्त्री से प्रेम करता है, वह भी अपने स्वार्थ के लिये ही। इसी प्रकार मित्रगण पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक सभी अपने अपने स्वार्थ से ही एक दूसरे को प्रेम करते हैं। जो देशभक्त अथवा प्रभुभक्त हैं वे भी शुद्ध स्वार्थी हैं; क्योंकि उन्हें भक्ति से अन्दर में शान्ति और आनन्द की लहरें उत्पन्न होती हैं; अर्थात् वे भी उस अन्दर की शान्ति और आनन्द के स्वार्थ से ही भक्ति करते हैं।

शंका :- भगवन् ! तुलसीदास जी ने तो मुनि शब्द का भी प्रयोग किया है, तो क्या जो मुनिजन परोपकारी महात्मा हैं वे भी स्वार्थी हैं?

उत्तर :-हे शिष्य ! हाँ वे भी स्वार्थी हैं, किन्तु उनका स्वार्थ साधारण स्वार्थी लोगों जैसा निकृष्ट स्वार्थ नहीं है, अपितु शुद्ध स्वार्थ है; क्योंकि वे परोपकारी मुनि-जन दयालु होते हैं। जब वे किसी को दुःखी देखते हैं तो स्वयं भी दुःखी हो जाते हैं, अर्थात् दूसरे को दुःखी देखकर उनके हृदय में कांटा चुभने लगता है और उस कांटे (दुःख) को वे तभी दूर कर सकते

हैं जब कि दूसरों के दुःख को दूर करें। इसीलिये (अपने दुःख को दूर करने के लिये ही) वे दूसरों के दुःख को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। जिसे लौकिक भाषा में परोपकार तथा दार्शनिक भाषा में शुद्ध-स्वार्थ कहते हैं।

इस प्रकार हे शिष्य ! उस भर्तृ को किसी पुण्य विशेष के उदय होने पर इस प्रकार की वैराग्य की भावनाएँ उत्पन्न होने लगीं। और वह मन में कहने लगा कि "जिन स्त्री, पुत्र, धन आदिक पदार्थों को मैं सुख रूप समझता था और नित्यसुख का साधन समझ कर उन्हें प्राप्त करके अपने को कृतकृत्य माना करता था, यह सब भ्रान्ति ही थी। क्योंकि आज तक मुझे उन में से बाह्य सुख के स्वरूप में दुःख ही मिलता रहा और मैं अज्ञान के कारण उस दुःख को सुख, अपवित्र को पवित्र, अनित्य को नित्य और अनात्मा को आत्मा ही (स्थूलशरीर आदि अनात्म-पदार्थों को अपना स्वरूप समझना–जैसे मैं ब्राह्मण हूँ, मैं यज्ञदत्त हूँ इत्यादि) समझ रहा था।"

शंका:–भगवन् ! ये स्त्री, पुत्र, धन आदिक विषय-पदार्थ दुःख रूप कैसे हैं ?

उत्तर:–हे शिष्य ये भोगपदार्थ चार प्रकार से दुःख देने वाले हैं। (१) परिणाम–दुःख (२) ताप-दुःख (३) संस्कार–दुःख और (४) गुणवृत्तिविरोध-दुःख।

परिणाम-दुःख:–परिणाम में अर्थात् अन्त में

उन भोगों का फल दुःख रूप है। भर्तृजी ने भी कहा है कि "भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः" अर्थात् हमने सोचा कि हम भोगों को भोग रहे हैं किन्तु परिणाम में हम ही भुग गये, भोग तो संसार में ज्यों के त्यों मौजूद हैं। तथा "भोगे रोगभयम्" भोगों में रोगों का भय रहता ही है; क्योंकि भोगों के परिणाम रोग ही होते हैं।

शंका:-भगवन् ! भोगों को मात्रा से भोगने पर तो वे रोगों को उत्पन्न नहीं करते ?

उत्तर:-हे शिष्य ! रोग (दुःख) केवल शारीरिक ही नहीं होते किन्तु मानसिक भी होते हैं। जब भोग अप्राप्त होते हैं तो उनके प्राप्ति की इच्छा मन को सताती है, यह भी एक प्रकार का रोग अर्थात् दुःख है; जब पदार्थ मिल जाता है तब, यह भोग जल्दी नष्ट न हो, बहुत समय तक मेरे पास रहे, इस प्रकार का चिन्ता-रूप-दुःख रहता है; और जब वह भोग पदार्थ नष्ट हो जाता है (सभी भोग पदार्थ क्षणिक होने के नाते नष्ट होते ही हैं) तब तो उस भोगी को महान् दुःख होता है। इस प्रकार ये सब भोग पदार्थ सदा दुःख रूप ही होते हैं। और "हम भोगों को मात्रा से (थोड़े में) भोगेंगे" यह केवल मन की दलील मात्र है। क्योंकि साधारणतः मन का ढांचा कुछ ऐसा बना हुआ है कि जब भोग की मन में इच्छा होती है और उस इच्छा

की पूर्ति करने की भ्रान्ति से यदि मन को वह भोग पदार्थ दिया जाता है, तो वह इच्छा पूर्ण नहीं होती अपितु (बल्कि) जैसे अग्नि में हवन सामग्री डालने से एक बार अग्नि कुछ मन्द होकर; धुँवा करके फिर दुगुनी प्रज्वलित हो जाती है, वैसे ही वह इच्छा उस समय कुछ दब कर फिर दुगुनी बढ़ जाती है। यों बढ़ते बढ़ते वह इच्छा तृष्णा का रूप धारण कर लेती है। जहाँ तृष्णा उत्पन्न होती है वहाँ प्रमाद, पाप इत्यादि उसके भाई भी आजाते हैं। जब इनका कुटुम्ब बढ़ने लगता है तब तृष्णा से बात चीत करने के लिये उसकी सखी चिन्ता भी आकर उस भोगी के हृदय में डेरा जमाती है। और फिर वे सब मिलकर उस भोगी के हृदय में एक विशाल दारुण दुःखरूप देवता की स्थापना करते हैं। फिर वहां रात दिन पातकों (पापों) का पाठ पढ़ा जाता है, दूसरों को लूटने तथा दुःख पहुँचा कर अपने को सुखी करने की भावनाओं के भजन गाये जाते हैं, मलिन असद्विचार वहाँ अपना रौद्ररसपूर्ण विकराल नंगा नृत्य दिखाकर, कुप्रवृत्तियों को (जो दर्शक हैं) उत्तेजित करते हैं; इस प्रकार उस भोगी के हृदय में कलियुग का पूर्णाधिकार हो जाता है। और भोगी यदि आरम्भ में ही अपनी इच्छाओं पर संतोष का जल छिड़क देता है तो धीरे धीरे वह भोगों की इच्छारूपअग्नि शान्त हो जाती है। क्योंकि हम देखते हैं कि जितना हम भोगों से दूर रहते हैं उतनी ही भोगों की इच्छा कम होती है और

जितना हम भोगों के समीप रहते हैं (भोगते हैं) उतनी वह इच्छा-अग्नि बढ़ कर अन्त में दुःख देती है। इसीलिये इन विषयभोगों को परिणाम (अन्त) में दुःखरूप माना जाता है।

(२) ताप-दुःख :-भोग पदार्थों के रहते समय अन्दर में संताप अर्थात् ईर्ष्या रूप जलन उत्पन्न होती है; क्योंकि भोगी जब अपने से दूसरे के पास अधिक मात्रा में व अच्छे अच्छे भोग पदार्थ देखता है तब सूक्ष्म रूप से मन में ईर्ष्या उत्पन्न होती है, और ईर्ष्या से स्वभाव चिड़चिड़ा बन कर क्रोध उत्पन्न होता है। तथा प्राप्त हुए भोगों के नाश के भय से उनकी रक्षा करने की चिन्ता भी रहती है। ये सब एक प्रकार के संताप हैं और इन सब को मिलाकर तापदुःख कहते हैं।

(३) संस्कार-दुःख :-पहिले के भोगे हुए जो स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रिय पदार्थ होते हैं, उन के नष्ट होने पर, उनके संस्कारों से उत्पन्न हुई उन भोगों की स्मृति (याद) से जो दुःख होता है उसे संस्कार दुःख कहते हैं। और

(४) गुणवृत्तिविरोध-दुःख :- सत्वरजस्तमोगुणात्मकवृत्ति (सात्विक, राजस तथा तामस वृत्ति) के बदलते रहने से जो उन वृत्तियों का परस्पर विरोध उत्पन्न होता है, उससे उत्पन्न होने वाले दुःख को गुण-वृत्ति-विरोध-दुःख कहते हैं। क्योंकि गुण चंचल होने के

कारण बदलते ही रहते हैं। जैसे स्त्री, पुत्र धनादि पदार्थ पहिले रजोगुणात्मक-वृत्ति के होने से प्रिय तथा सुख रूप प्रतीत होते हैं, किन्तु गुणवृत्ति में विरोध होने से अर्थात् रजोगुण-वृत्ति बदलकर सात्विक-वृत्ति होने से, शान्ति और वैराग्य उत्पन्न होकर वे ही पदार्थ दुःख रूप (जन्म मरणादि दुःख रूप संसार में फंसाने वाले) प्रतीत होते हैं। अथवा वृत्ति जब तमोगुण में पलटती है तब नींद ही मीठी लगती है और अच्छे अच्छे भोगों को भी हम दूर हटा देते हैं; अर्थात् उन्हें निद्रा के आनन्द को छीनने वाले मानकर दुःख रूप समझते हैं। अथवा नशे आदि की अवस्था में, नशे से मना करने वाले स्त्रीपुत्रादिक भी दुःख रूप प्रतीत होते हैं। अथवा जैसे कामी पुरुषों की राजसवृत्ति के बदलने से दूसरे स्त्री-आदिक पदार्थों में प्रेम होने के कारण, पहिले वाले स्त्री आदिक पदार्थ उस समय दुःखरूप प्रतीत होते हैं। इस प्रकार स्त्री-पुत्र-धन- आदिक भोग पदार्थों में गुण-वृत्ति विरोध-दुःख भी माना जाता है।

इसीलिये हे शिष्य! सारे भोग पदार्थ दुःख रूप माने जाते हैं और भर्तृ भी इस प्रकार उस समय इन भोग-पदार्थों को दुःख रूप समझ कर यह कहने लगा कि मैंने अज्ञान से इन दुःख रूप भोगों को सुख रूप समझकर सारी आयु यों ही भटकते २ गवाँ दी किन्तु मृगतृष्णा के जल की ओर भागने वाले मृग की तरह, आज तक मुझे नित्य-आनन्द प्राप्त नहीं हुआ।

शंका:—भगवन् ! आपने पहिले यह बताया था कि भर्तृ को दुःख में सुख बुद्धि के साथ साथ अशुचि (अपवित्र) में शुचिबुद्धि (पवित्र बुद्धि) भी हुई थी। सो भगवन् ! मुझे कृपा करके समझाइये कि अपवित्र में पवित्र बुद्धि कैसे हुआ करती है ?

उत्तर:- हे शिष्य ! जितने भी संसार के पदार्थ हैं उन सब में यह शरीर सब से अधिक अपवित्र माना जाता है। क्योंकि हम कितने अच्छे अच्छे पदार्थ खाते हैं, किन्तु वे पदार्थ इस शरीर के संग से इतने गन्दे हो जाते हैं कि हम उन्हें देखना भी नहीं चाहते। वह गन्दगी कहाँ थी ? इस शरीर में ही तो थी, जो बाहर आने पर हमें बुरी लगती है। इसीप्रकार स्त्री-आदिकों के शरीर भी अपवित्र ही हैं; क्योंकि वे हाड़, मांस, चर्बी, रक्त, मवाद, विष्टा, मूत्र आदि गन्दे पदार्थों से भरे हुए तथा ऊपर चमड़ी से ढके हुए ही तो हैं। ऐसे अपवित्र गन्दे स्त्री आदिकों के शरीरों में भी कामी पुरुषों को पवित्र और सुन्दर बुद्धि होती है। अर्थात् वे कामी वास्तविकता (असलियत) को न जानने से, "यह कामिनी बड़ी ही सुन्दर है, इसका चन्द्रमा जैसा मुख, कमल जैसे नेत्र, मोती जैसे दांत तथा स्वर्ण जैसा शरीर है" इत्यादि रूप से गन्दे शरीर को व्यर्थ की उपमा देकर उस अपवित्र शरीर में पवित्र बुद्धि करके लम्पट होते हैं। इस प्रकार स्त्री भी पुरुष के अपवित्र शरीर को पवित्र मानकर उसमें आसक्त होती है।

श्रीवेदव्यासजी तथा श्रीस्वामी शंकराचार्यजी ने

भी इस शरीर को पांच प्रकार से गंदा तथा अपवित्र बतलाया है।

(१) इस शरीर के उत्पन्न होने की जगह, जो माता का गर्भ है, वह पूर्णतया अपवित्र है।

(२) शरीर का उपादान-कारण (जिससे शरीर उत्पन्न होता है) रज और वीर्य भी अपवित्र हैं।

(३) शरीर जिन पर खड़ा है वे, अन्न से उत्पन्न होने वाले, रस, रक्त, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा, और वीर्य ये सातों धातु भी अपवित्र हैं।

(४) शरीर से निकलने वाले– पसीना, थूक, लार, मल, मूत्र, तथा आँख, कान और नाक का मैल, नाखून, व केशादि ये सभी पदार्थ अपवित्र हैं।

(५) अन्त में भी अर्थात् मृतशरीर से भी अपवित्रता ही प्रकट होती है, चाहे वह शरीर कितना ही सुन्दर व उत्तम जाति वाले या धनवान् अथवा विद्वान् का क्यों न हो।

इस प्रकार हे शिष्य ! पांच प्रकार से यह शरीर अपवित्र सिद्ध हुआ। ऐसे अपवित्र गन्दे शरीरों पर अज्ञानी लोग ही आसक्त हुआ करते हैं। कितने अज्ञानी लोग तो पशु पक्षियों के गन्दे शरीरों के मांस इत्यादि अपवित्र पदार्थों में पवित्र बुद्धि करके इतने आसक्त हो जाते हैं, कि उनके सेवन करते समय अपवित्रता और पाप का भी ध्यान उन्हें नहीं रहता। इस पर पीपे साहब, गुरु नानक तथा भक्त कबीर ने कहा है कि:–

"जीव मार भोजन करें, खाते करत बखान।
पीपा प्रत्यक्ष देख ले, थाली माहिं मसान॥"
"कबीर मांस मांस एक है, हरिणी बकरी गाय।
आँख देख नर खात हैं, निश्चय नरकहिं जाय॥"
"जो रक्त लगे कपड़े, जामां होय पलीत।
सो रक्त खावे मानसा, नानक किस विध ऊजल चीत॥"

चीत=चित्त।

इस प्रकार भर्तृहरि कहने लगा कि, "मैंने आज तक अपवित्र, दुःखरूप, अनित्य तथा अनात्मपदार्थों में भ्रान्ति से पवित्र, सुखरूप नित्य तथा आत्म बुद्धि करके, अपनी सारी आयु तथा बल बुद्धि तेज और वीर्य को यों ही व्यर्थ में गवाँ दिया।

जो वीर्य इस शरीर रूपी नगर का राजा है, वह वीर्यरूपी राजा यदि पुष्ट व बलवान् है, तो रोग रूपी शत्रु कभी शरीररूपी नगर पर आक्रमण नहीं करते; परन्तु जिसका वीर्य रूपी राजा निर्बल है, उस शरीररूपी नगर को कई रोग रूपी शत्रु आकर घेर लेते हैं। वीर्य की रक्षा अर्थात् ब्रह्मचर्य से दैवीगुणसम्पन्न देवताओं ने तो काल को भी जीत लिया है। इसी बात को वेद कहता है कि,

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।"
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत॥१॥
अथर्ववेद १-५-१९

और भगवान् शंकरजी तो ब्रह्मचारी को देवता बतलाते हुए कहते हैं कि:—

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम् ।
ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः ॥

अर्थात् "ब्रह्मचर्य (वीर्य धारण) ही उत्कृष्ट तप है। इससे बढ़कर तपश्चर्या तीनों लोकों में दूसरी नहीं हो सकती। ऊर्ध्वरेता पुरुष अर्थात् अखंड वीर्य धारण करने वाला पुरुष इस लोक में मनुष्य रूप में प्रत्यक्ष देवता ही है।

वास्तव में ब्रह्मचर्य की महिमा महान् है; क्योंकि सम्पूर्ण विश्व के प्राणिमात्र में जो कुछ जीवन-कला दिखलाई देती है, वह सब ब्रह्मचर्य का ही प्रताप है। जीवन-कला में सौन्दर्य, तेज, आनन्द, उत्साह, सामर्थ्य, असामान्यता, मोहकता (आकर्षत्व) व सजीवत्व आदि अनेकानेक उत्तम गुणों का समावेश इसी ब्रह्मचर्य से ही होता है। अर्थात् ब्रह्मचारी पुरुष के लिये संसार में तो क्या, त्रिभुवन में भी कोई बात असम्भव व अप्राप्य नहीं। श्रीभगवान शंकर कहते हैं :—

"सिद्धे विन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले ।"
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत् ॥

अर्थात्—महान परिश्रम पूर्वक विन्दु (वीर्य) को साधने वाले अखण्ड ब्रह्मचारी के लिये त्रिभुवन में भी ऐसी कोई वस्तु नहीं जो असम्भव व असाध्य हो। और उस ब्रह्मचर्य के प्रताप से ही मेरी ऐसी महान् महिमा हुई है।

इस प्रकार हे शिष्य! ब्रह्मचर्य की महिमा भगवान् शंकर ने स्वयं बतलाई है। और भी कई ऋषि मुनि जन

इस ब्रह्मचर्य की महिमा को गाते रहते हैं। क्योंकि यह वीर्य शरीर का अन्तिम व उत्तम धातु है। श्रीसुश्रुताचार्य ने लिखा है कि:—

रसाद्रक्तं ततो मांसं, मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदस्याऽस्थि ततो मज्जा, मज्जायाः शुक्रसंभवः।

अर्थात्—मनुष्य जो कुछ भोजन करता है वह पहिले पेट में जाकर पचने लगता है, फिर उसका रस बनता है। उस रस का पांच दिन तक पाचन होकर उससे रक्त पैदा होता है। रक्त का भी पांच दिन पाचन होकर, उससे मांस बनता है। इस प्रकार पांच पांच दिन के बाद मांस से मेद, मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा, और अन्त में मज्जा से सप्तम सार पदार्थ 'वीर्य' बनता है। यही वीर्य फिर 'ओजस' रूप में सम्पूर्ण शरीर में व्यापक होकर चमकता रहता है। स्त्री के इस सप्तम शुद्धातिशुद्ध सार पदार्थ को 'रज' कहते हैं। दोनों में भिन्नता होती है। वीर्य काच की तरह चिकना और सफेद होता है और रज लाख की तरह लाल होता है। इस प्रकार रस से लेकर वीर्य व रज तक छः धातुओं के पाचन करने में पांच दिन के हिसाब से पूरे ३० दिन व क़रीब ४ घन्टे लगते हैं; ऐसा आर्य-शास्त्रों का सिद्धान्त है।

अब यह जानना आवश्यक है कि कितने भोजन से कितना वीर्य पैदा होता है। इसका निश्चय वैज्ञानिकों ने इस प्रकार किया है कि एक मन अर्थात् ४० सेर भोजन से एक सेर रक्त बनता है और एक

सेर रक्त से दो तोला वीर्य बनता है। इस प्रकार "एक तोले वीर्य के बराबर चालीस तोला अर्थात् आधा सेर रक्त है" यह उनका सिद्धान्त है।

यदि नीरोग मनुष्य सेर भर भोजन प्रतिदिन करे तो ४० सेर भोजन ४० दिन में करेगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि चालीस दिन की कमाई दो तोला वीर्य है। इस हिसाब से ३० दिन की अर्थात् एक महीने की डेढ़ तोला हुई। एक बार में मनुष्य का वीर्य डेढ़ तोला से कम क्या निकलता होगा, जो कि ३० दिन की कमाई है। अब जरा विचारने की बात है। इतने कठोर परिश्रम से ३० दिन में प्राप्त होने वाली डेढ़ तोला अमूल्य व अतुल दौलत एक क्षण में ही फूंक डालना कितनी घोर मूर्खता है। ऐसा पुरुष उस मूर्ख माली के समान है जो तन मन धन से दिन-रात परिश्रम कर फूलों का सुन्दर बगीचा तैयार करता है और पैदा हुए असंख्य फूलों का इत्र निकलवा कर उसे मोरियों में डालता व डलवाता है। जो इस प्रकार अज्ञान वश होकर महीने में भी कई बार इस प्रकार की ३० दिन की कमाई को खोता रहता है, तो फलस्वरूप उसका १५ वर्ष की आयु तक बचपन में जितना ओजस रूप में वीर्य इक्ट्ठा था वह धीरे धीरे नष्ट होता है और अति करने से तो फिर हड्डियों में से कुछ सफेद अंश निकलने लगता है जिससे अन्त में कई नपुंसक भी हो जाते हैं अथवा अकाल मृत्यु के पंजे में भी आजाते हैं।

ग्रीस (यूनान) के महाज्ञानी तत्त्ववेत्ता साक्रेटीस (सुकरात) से किसी ने पूछा कि "स्त्री प्रसङ्ग कितने वार करना चाहिये ?" उत्तर मिला कि "जन्म भर में एक वार।" फिर पूछा "यदि इतने में शान्ति न हुई तो ?" "अच्छा फिर साल में एक वार करे।" "इतने से भी मन न माने तो ?" "तो फिर महीने में एक वार करे।" "इतने पर भी न रहा जाय तो ?" "अच्छा फिर महीने में दो वार कर सकते हो, परन्तु जल्दी मृत्यु होगी।" "इतने पर भी शान्ति न मिले तो ?' "तो फिर ऐसा करे कि अपने कफ़न का सब सामान लाकर घर में पहिले रख दे और फिर जैसा मन में आवे वैसा किया करे। क्योंकि न मालूम किस समय उसकी मौत आजावे और उसे खा डाले।"

इस प्रकार हे शिष्य ! वैज्ञानिक लोग ऋषि मुनि जन तथा शास्त्र सभी इस 'वीर्य' नामक सर्वोत्तम सार धातु की महिमा गाते हैं। और इस के धारण को ही ब्रह्मचर्य कहते हैं। शिवसंहिता में भी लिखा है कि "मरणं बिन्दुपातेन" (Sensuality is Death) अर्थात् वीर्य का नाश ही मृत्यु है। और ब्रह्मचर्य (वीर्य-रक्षा) ही जीवन है (Chastity is Life)। इसलिये सर्वश्रेष्ठ इस ब्रह्मचर्य व्रत को अवश्य धारण करना चाहिये। चाहे तुमने पहिले अज्ञान वश होकर अपना नाश किया हो तो भी हतोत्साह नहीं होना चाहिये। भूल सब से

होती है। यदि मनुष्य भटकता भटकता भी सीधे रास्ते पर आजाता है तो वह भटका हुआ नहीं माना जाता। इसलिये जो समय गया सो गया, अब जो रहा है उसके सदुपयोग करने में प्रमाद नहीं करना चाहिये।

शंका:-भगवन्! आपके उपदेश से मुझे अब ब्रह्मचर्य-पालन की उत्कट इच्छा हो रही है; अतः कृपा करके कुछ ऐसे नियम बतलाइये जिससे मैं ब्रह्मचर्य का पालन कर सकूं।

उत्तर:— हे शिष्य! आपकी उत्कट इच्छा है तो "ब्रह्मचर्य ही जीवन है" इस पुस्तकानुसार मैं कुछ आपको थोड़े में ब्रह्मचर्य पालन के नियम बतलाता हूँ। जिन नियमों के पालन करने से ब्रह्मचर्याऽवस्था (विद्यार्थी अवस्था) में ही क्या, परन्तु गृहस्थ में रहकरके भी लोग ब्रह्मचारी बन सकते हैं। ऋषियों का सिद्धान्त है कि:—

"ऋतुकाले स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः।"
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम्॥
—श्रीयाज्ञवल्क्य

अर्थात् ऋतुकाल में अपनी स्त्री से (धर्मपत्नी से) विधियुक्त अर्थात् शास्त्राज्ञानुसार केवल सन्तान के हेतु समागम करने वाला पुरुष गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी ब्रह्मचारी ही है। श्रीमनुमहाराज कहते हैं कि, "महिने में ऋतुकाल में केवल दो ही रात्रि में, जो धर्मशास्त्रानुसार स्त्रीसेवन करता है वह धर्मात्मा पुरुष स्त्री रहते हुए भी ब्रह्मचारी है।" (अ०३ श्लो० ५०)

यहां ऋतुकाल शब्द का अर्थ है- स्त्री के रजोदर्शन के दिन से लेकर १६ (सोलहवें) दिन तक का समय। मनुस्मृति में भी आया है कि :—

"ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्भिगर्हितैः॥
अ०३ श्लो० ४६॥

अर्थात् शोणित गिरने के दिन से १६ रात्रिपर्यन्त स्त्री का ऋतुकाल माना जाता है। शास्त्र-निन्दित प्रथम चार दिन भी इसी में सम्मिलित हैं। जैसे पहिले चार दिनों में स्त्रीसेवन करने के लिये शास्त्र निषेध करता है, वैसे शेष दिनों में भी यदि एकादशी, त्रयोदशी, शिवरात्रि व नवरात्र इत्यादि कोई महान् दिन आया हो, अथवा घर में कोई चिन्ता जनक दुर्घटना हुई हो वा अस्वस्थ अवस्था हो तो काम-रिपु चरितार्थ करना पूर्ण अधर्म व महापाप होगा। इसलिये गृहस्थ धर्मानुकूल ही चलना चाहिये। इस से ही लोग गृहस्थ में ब्रह्मचारी बन सकते हैं और घर में जैसे चाहें वैसे शूरवीर श्रेष्ठ पुत्र-पुत्रियां उत्पन्न कर सकते हैं।

इसलिये हे शिष्य! अब मैं आप को ब्रह्मचर्य-पालन के नियम बताता हूँ, ध्यान देकर सुनो :—

[१] पवित्र-संकल्प :- जिन संकल्पों (विचारों) में पवित्रता और आत्म-विश्वास भरा हुआ हो उन्हें पवित्र संकल्प कहते हैं। यदि सोते समय मनुष्य ऐसा सोचकर सोवे कि, "आज मैं चार बजे उठूंगा" तो निश्चय जानो कि उस मनुष्य की आखें चार बजे

अवश्य खुल जाएँगी। सामान्य विचारों में यदि ऐसी शक्ति है तो श्रद्धा व पवित्र भाव-पूर्ण विचारों में कितनी प्रचंड शक्ति होती होगी, इस का तुम ही विचार कर सकते हो।

श्रीस्वामीशंकराचार्यजी ने कहा है, "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" अर्थात् ब्रह्मचर्यसंपन्न पवित्र मन मोक्ष का कारण है तथा विषयवासनाविपक्त अपवित्र मन ही बन्धन का कारण है। क्योंकि मनुष्य की सुगति व दुर्गति उसके भले बुरे संकल्पों पर ही सर्वथा निर्भर है। पापमय विचारों से वह पापात्मा, और पुण्यमय विचारों से वह निःसंदेह पुण्यात्मा बन जाता है। उच्च व पवित्र विचारों से, कितना ही पतित मनुष्य क्यों न हो, वह भी उच्चातिउच्च पवित्रात्मा बन सकता है।

इसलिये पवित्र संकल्पों का स्रोत बहाते हुए मन को ऐसी आज्ञा करनी चाहिये कि हे मन तू भगवान् को सर्वव्यापक समझ करके यह संकल्प कर कि, "हे भगवन्! आप सर्वान्तर्यामी व परमकृपालु हैं और आपकी कृपा से ही मुझ में सुख समृद्धि, शान्ति, आरोग्य, निर्भयता आदि शुभ गुण सञ्चार कर रहे हैं, ऐसा मेरा दृढ़विश्वास है। पहिले से मैं अधिक स्वस्थ हूँ, अधिक निर्भय हूँ, अधिक शान्त तथा निर्विकारी हूँ। वृत्तियाँ अब प्रतिदिन पवित्र हो रही हैं, दृष्टि में प्रत्येक स्त्री के लिये मातृभाव समाया है, कानों में ब्रह्मचारियों का यश गूंज रहा है। मैं अब

ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा हूँ, मेरा उद्धार हो रहा है।" इस प्रकार पवित्र संकल्प करने चाहियें।

(२) पवित्र-मातृभाव-दृष्टि :- हनुमान्‌जी की तरह प्रत्येक स्त्री की ओर यदि देखना ही हो तो "मातृवत् परदारेषु" अर्थात् "परतिय मातु समान" इसी पवित्र दृष्टि से देखना चाहिये। वास्तव में किसी स्त्री की ओर आंख उठाकर न देखना ही पवित्र दृष्टि बनाए रखने का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। यदि कोई स्त्री सामने आ भी जाय तो उसी क्षण अपनी दृष्टि नीची करलो, दृष्टि ऊपर न उठाओ, और तत्काल मन में भगवन्नाम स्मरण अथवा 'मां' 'मां' इस महामन्त्र का निरन्तर जप करने लग जाओ। निस्संदेह तुम्हारी पापमय वासनाएँ दग्ध हो जाएँगी और मन पूर्णतया पवित्र बना रहेगा। और कभी स्त्रियों से एकान्त में बातचीत नहीं करनी चाहिये। भक्त वामन कहते हैं:—

"यदपि मात भगिनी सुता तऊ न बैठे पास।"
प्रबला हैं ये इन्द्रियां करो न तुम विश्वास॥

श्रीलक्ष्मण की तरह प्रत्येक स्त्री को जगज्जननी जानकीजी का ही रूप समझ कर, मातृभाव से उसे मन ही मन प्रणाम करो।

नीच पुरुष सती स्त्रियों की ओर भी पाप की ही दृष्टि से देखा करते हैं। भला ऐसे नारकी पुरुषों का कैसे उद्धार हो सकता है। भक्तदास वामन कहते हैं :-

"चटक मटक नित कुमति बन तकत चलत चहुँ ओर।"
वामन ! ऐसे अधम नर पड़े नरक में घोर॥

ऋष्यमूक पर्वत पर जब श्रीसीतादेवी के गहने श्रीलक्ष्मणजी के सामने पहिचानने के लिये रखे गए तब श्रीलक्ष्मणजी क्या ही उत्कृष्ट उत्तर देते हैं :—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥

"इन सब गहनों में केवल नूपुर ही मेरे पहिचान के हैं जो प्रतिदिन चरणवन्दना करते समय मैं श्रीसीता माता के चरणों में देखता था। इन कुण्डलों को तथा अन्य गहनों को मैं नहीं जानता। क्योंकि चरणारविंद को छोड़ कर मैंने दृष्टि उठा कर कभी ऊपर देखा ही नहीं।" अहह! धन्य है श्रीलक्ष्मणजी आपकी यह आदर्श शिक्षा! यही कारण था कि आप चौदह वर्ष तक अटूट ब्रह्मचर्य पालन कर सके और मेघनाद जैसे प्रबल शत्रु को भी मार सके। मेघनाद तो केवल 'इन्द्रजीत' ही था परन्तु आप उससे भी बढ़कर 'इन्द्रिय-जीत' थे। श्रीमच्छङ्कराचार्य कहते हैं, "जितं जगत् केन? मनोहि येन।" सत्य है, एक मात्र 'इन्द्रिय-जीत' ही सम्पूर्ण त्रैलोक्य को जीत सकता है।

(३) सादी रहन सहन :— ब्रह्मचर्य रक्षा के लिये हमें अपना जीवनक्रम "Simple living and high thinking" अर्थात् "सरल जीवन और ऊँचे विचार" इस उपदेश के अनुसार अत्यन्त सीधे-सादे प्रकार का रखना होगा। और वैसे बड़प्पन का चिह्न बल्कि रहस्य भी सादापन ही है। Simpleness is itself greatness. संसार में आज तक जितने महापुरुष हुए

हैं वे सब सादी रहन-सहन से ही हुए हैं।

और नकाशीदार लोटे या ग्लास में जैसे सर्वत्र मैल भरा रहता है, इसी प्रकार सादी रहन-सहन को छोड़कर फैशनेबुल व चंचल स्त्री पुरुषों में भी काम, क्रोध, अहङ्कारादि मल विशेष रूप से भरा रहता है। श्रीनारायणजी कहते हैं :—

भीतर सों मैलो हियो, बाहर रूप अनेक।
नारायण तासों भलो, कौवा तन मन एक॥

अतः यदि हम ब्रह्मचर्य-पालन करने के लिये अपने हृदय को सरल व पवित्र बनाना चाहते हैं तो हमें ऊपर का व्यवहार, आहार, व वेष इत्यादि भी पवित्र व सादे रखने पड़ेंगे। इसलिये सादगी ही जीवन है और सजावट ही नाश है, यह तत्त्वपूर्ण रीति सदा ध्यान में रखनी चाहिये।

(४) सत्सङ्गति :— सत्संग का अर्थ है सत् वस्तु का संग। सत् वस्तु की प्राप्ति सत्पुरुषों से ही होती है। इसलिये सत्पुरुषों के संग को भी सत्संग कहते हैं। सत्संग से ही सत् और असत् का विवेक होता है, भले बुरे का ज्ञान होता है, किन्तु ऐसा सत्संग बिना भाग्य के नहीं मिलता। गोस्वामीजी ने भी कहा है कि :— बिन सत्संग विवेक न होई,
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।

सत्य है "सठ सुधरहिं सत्संगति पाई।" कैसे? जैसे, "पारस परसि कुधातु सुहाई।" जैसे सभी सुधारों की जड़ सत्संग है, उसी प्रकार सम्पूर्ण दुराचार

और व्यभिचार की जड़ एक कुसंगति ही है। पण्डित विष्णुशर्मा कहते हैं :—

"वरं प्राणत्यागो न पुनरधमानामुपगमः ।"

अर्थात्-प्राण त्याग देना अच्छा है किन्तु नीचों के पास जाना तक बुरा है। 'जैसा संग वैसा रंग' यह प्रकृति का नियम है। जैसे धूएँ के संग से सफेद मकान भी काला पड़ जाता है और लता के संग से कीड़ा भी लता के समान हरा बन जाता है वैसे दुर्जन के साथ मनुष्य दुर्जन बन जाता है और सज्जन के साथ सज्जन। किसी कवि ने सही कहा है कि,"कामी के संग काम जागे, कायर के संग शूर भागे पै भागे"

"काजर की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय, एक रेख काजर की लाग है पै लाग है।" अतः ब्रह्मचारियों को तथा उन्नति चाहने वालों को सज्जनों का संग अवश्य करना चाहिये।

(५) सद्ग्रन्थाऽवलोकन :—जहाँ सन्मित्र व सज्जन-संगति दुर्लभ हो वहाँ सद्ग्रन्थों की संगति करनी चाहिये। सद्ग्रन्थों द्वारा हम संसार के एक से एक महात्मा की संगति रातदिन यथेष्ट रूप से कर सकते हैं। जैसे स्थूल शरीर की स्थिति को ठीक रखने के लिये अन्न जल व वायु इत्यादि की आवश्यकता है उसी प्रकार मानस ढाँचे को ठीक रखने के लिये सद्ग्रन्थों का अवलोकन भी अत्यन्त आवश्यक है।

किन्तु उपन्यास तथा शृङ्गाररसपूर्ण ग्रन्थ कभी नहीं पढ़ने चाहियें। उन को पढ़ना मानो अपने हाथ

अपने मकान में दियासलाई लगाना है। क्योंकि शृंगारी पुस्तकें ब्रह्मचारी को भी व्यभिचारी बना देती हैं। अच्छे अच्छे सच्चरित्र बालक बालिकाएँ भी कुग्रन्थों के पठन व श्रवण से दुश्चरित्र बन गई हैं। अतः कुग्रन्थों का सर्वथा त्याग करके सद्ग्रन्थ व चरित्र-ग्रन्थों को ही पढ़ना चाहिये।

(६) घर्षण-स्नान :— ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए मन और शरीर का पवित्र रहना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि गंदे शरीर से मन भी गंदा बन जाता है। गन्दगी रोग का घर है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि वह शरीर की स्वच्छता में कभी आलस्य न करे। शरीर को स्वच्छ रखने के लिए घर्षण-स्नान अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि घर्षण-स्नान से त्वचा के सब छिद्र खुलजाने के कारण भीतर से असंख्य दोष पसीने के रूप में बड़ी आसानी से बाहर निकल जाते हैं। और बाहर की शुद्ध हवा भीतर जाने से शरीर नीरोग बन जाता है। घर्षण-स्नान से मनुष्य अधिक तेजस्वी, नीरोग, निर्विकारी, ब्रह्मचारी और दीर्घजीवी सहज में बन सकता है। घर्षण-स्नान की शास्त्रीय विधिः- स्नान के लिए प्रातःकाल सबसे अच्छा समय है। जल ताजा व स्वच्छ होना चाहिये। अपने हाथों से खींचा हुआ कुएँ का जल बहुत अच्छा होता है। स्नान के पहिले सारा शरीर सूखे तौलिये से खूब जोर से रगड़ो, रगड़ने में कुछ कमी न करो और कुछ डरो भी मत। पर हाँ, उचित जगह पर उचित जोर

लगाओ, नहीं तो मारे रगड़ों के आँखे ही फोड़ लोगे। तौलिये से रगड़ने के बाद हाथ से रगड़ो। हाथ से रगड़ने से शरीर में एक बिजली पैदा होती है जो शरीर के तमाम रोगों को हटाती है। इसलिए शरीर का प्रत्येक अवयव अच्छी तरह से रगड़ना चाहिये। पेट को ठीक रगड़ने से पेट के अनन्त विकार नष्ट होते हैं और शौच भी साफ होता है। पहिले शिर और गला भिगोओ, फिर गीले तौलिये से क्रमशः हाथ, कंधे, सीना, पेट, पीठ, कमर, टांग आदि खूब रगड़ो। फिर सिर पर से संपूर्ण शरीर पर यथेष्ट पानी डालो। तत्पश्चात् सूखे तौलिये से सम्पूर्ण शरीर को पोंछ डालो। क्योंकि शरीर को साफ नहीं पोंछने से ही गीलापन के कारण मनुष्य को प्रायः दाद, खुजली आदि हुआ करती है और खुजलाते २ लड़कों को बुरी आदतें भी लग जाती हैं। फिर शरीर के सूखजाने के बाद अपने वस्त्र पहन लो। देखो एक ही दिन के घर्षण-स्नान से तुम्हारे शरीर में कितना उत्साह, आनन्द, फुर्ती व कांति दिखाई देती है। जब एक ही दिन में इतना हो जाता है तो नित्यप्रति इस प्रकार घर्षण-स्नान करने से मनुष्य का आनन्द, आरोग्य, शान्ति व कांति और भी अधिक बढ़ेगी, इसमें सन्देह ही क्या है!

(७) सादा व ताजा अल्पाहार :— जिसे ब्रह्मचारी बनना है उसे सादा और अल्पाहारी अवश्य ही बनना पड़ेगा। अधिक भोजन करने वाला जो जन्म

में भी ब्रह्मचारी नहीं बन सकता। क्योंकि जोर की आँधी जैसे पेड़ों को उखाड़ डालती है, वैसे ही कामदेव पेटू मनुष्य को पटक २ कर मार डालता है। इसीलिये यदि तुम्हें वीर्यवान् और आरोग्यवान् बनना हो, स्वप्नदोष से और अकाल मृत्यु से बचना हो, तो तुम्हें अवश्य ही सादा और अल्प आहार करना होगा।

एक समय ईरान के बादशाह "बहमन" ने एक श्रेष्ठ वैद्य से पूछा "दिन रात में मनुष्य को कितना खाना चाहिये?" उत्तर मिला "सौ दिरम्" अर्थात् उनतालीस (३९) तोला।" फिर पूछा "इतने से क्या होगा?" हकीम बोला "शरीर पोषण के लिए इससे अधिक नहीं चाहिये; इससे अधिक जो कुछ खाया जाता है वह केवल बोझ ढोना और आयु को खोना है। यह नियम है कि आहार, निद्रा, भय, मैथुन, क्रोध, कलह आदि बातें जितनी बढाई जायँ उतनी ही बढती जाती हैं, और जितनी कम की जायँ उतनी ही कम होती हैं। जो मनुष्य अपने भोजन को बढाता जाता है, वह आलसी और बेकार बनता जाता है। भक्त-दास वामन कहते हैं—

अधिक वायु के भरन से, फूटबाल फट जाय।
बड़ी कृपा भगवान की, पेट नहीं फट जाय ॥१॥
यद्यपि न दीखत पेट फटा, फटत मनुज की देह।
रोग भयंकर होत हैं, बने नरक का गेह ॥ २ ॥

अतः हमें स्वास्थ्य के लिए भोजन करना चाहिये, न

कि रोगी बनने के लिए। श्रीमनुमहाराज कहते हैं—

अनारोग्यं अनायुष्यं अस्वर्ग्यं चाऽतिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥

अतिभोजन रोगों को बढ़ाने वाला, आयु को घटाने वाला, नरक में पहुँचाने वाला, पाप को करने वाला और लोगों में निन्दित करने वाला है। अतः बुद्धिमान् को चाहिये कि किसी बढ़िया पदार्थ के स्वाद से आवश्यकता से अधिक कदापि न खाए।

भक्तदास वामन कहते हैं—

निकम्मा कौन है ? पेटू। महापुरुष की क्या पहिचान है ? जो अपने को सबसे छोटा समझता हो। महापुरुष कैसे बनें ? मन को वश में करने से। मन कैसे वश में हो ? कम खाने से। कम खाना कैसे सीखें ? आहार को थोड़ा घटाने से। आहार कैसे घटे ? रोज सादा और प्राकृतिक भोजन करने से। सादा भोजन कैसे प्रिय लगे ? भूख के समय खाने से और प्रत्येक ग्रास को खूब अच्छी तरह चबाने से। भूख का समय कैसे जानें ? नियम बाँध लेने से और बीच में कुछ भी न खाने से। यदि मनुष्य सादा और अधिक नमक मिर्च मसालों से रहित सात्त्विक भोजन करे तो ब्रह्मचर्य को बड़ी आसानी से धारण कर सकता है। और सौ (१००) वर्ष तक जीवित रह सकता है। इसी के बल पर सुप्रसिद्ध अमेरीकन पत्रकार एडिसन कहते हैं 'मैं सौ वर्ष पर्यन्त अवश्य जीवित रहूँगा।" "If you can conquer your tongue only you are

sure to conquer your whole body and mind at ease." "यदि तुम केवल जिह्वा को वश में करो तो तुम्हारे मन व शरीर अनायास वश में हो जायँगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है।" यदि तुम जिह्वा को वश में नहीं करोगे तो मन वश में न रहने के कारण, ब्रह्मचारी बनना असंभव है। भक्तदास वामन कहते हैं –

पालो पत्ती खाय जो, उन्हें सतावे काम।
नित प्रति हलवा निगलते, उनकी जाने राम॥

अतः जिन्हें वीर्य की रक्षा करनी है, उन्हें सदा सादा स्वच्छ और स्वल्प भोजन करना चाहिये। अधिक मिर्च मसाले बड़े कामोत्तेजक होते हैं। लाल मिर्चों को तो बिल्कुल नहीं के बराबर ही खाना चाहिये। इस प्रकार यदि तुम रहो तो ब्रह्मचर्य पालन करना अनायास हो जायगा।

(८) निर्व्यसनता :— जो पुरुष दुर्व्यसनी है, वह कभी ब्रह्मचारी नहीं बन सकता। वैसे तो शराब जूआ इत्यादि कई दुर्व्यसन हैं किन्तु आजकल तम्बाकू का दुर्व्यसन सबसे बड़ा हुआ है। अमेरीकन डाक्टरों का कथन है कि इससे वीर्य फौरन उत्तेजित होकर पतला पड़ता है और उससे शारीरिक, मानसिक, आर्थिक व सामाजिक भयंकर हानि होती है। शुद्ध हवा को जहरीली बना कर अपने साथ ही साथ लोगों का भी स्वास्थ्य बिगाड़ना घोर पाप है।

(९) दो बार मलमूत्र त्याग :— शौच दो बार जाने

की आदत डालनी चाहिये। यदि दूसरी वार दिशा न मालूम हो तो भी जाना चाहिये। कुछ दिन के बाद आप से आप दिशा होने लगेगी। अनेक रोगों की जड़ मल-बद्धता (कब्जी) ही है। और मलबद्धता ब्रह्मचर्य का घातक है; क्योंकि मल की गर्मी के कारण, भीतर की सब इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो जाती हैं और इन्द्रियों के क्षुब्ध होने पर फिर मनुष्य रोगी होने पर भी बड़ा कामी बन जाता है। इसलिये पेट को साफ़ रखने के लिए सुबह शाम दो बार नियमित समय पर मल का त्याग करना परम आवश्यक है।

(१०) इन्द्रिय-स्नान—शौच के समय इन्द्रिय को स्वच्छता से धोना चाहिये। पेड़ की जड़ को पानी देने से जैसे संपूर्ण पेड़ हरा भरा और चैतन्य-मय बन जाता है वैसे ही तमाम नसों की जड़ को (उपस्थ इन्द्रिय को) ठंडे पानी की धार से ठंडा करने से संपूर्ण शरीर भी ठंडा व शान्त हो जाता है। मन की चंचलता नष्ट होती है और स्वप्नदोष भी नहीं होता। हमारे पूर्वज लोग जो लघुशंका के समय पानी साथ में ले जाते थे, उसका कारण यह था कि वे इस इन्द्रिय-स्नान के गुप्त रहस्य को जानते थे।

(११) नियमित व्यायाम :— जिसे ब्रह्मचर्य का पालन करना है उसे प्रतिदिन नियमपूर्वक व्यायाम करना अत्यन्त आवश्यक है। व्यायाम से मुख मोड़ने वाला मनुष्य कभी निर्विकारी और सच्चरित्र नहीं बन सकता। व्यायाम से मन और तन दोनों नीरोग, निर्विकार

और पुष्ट बन जाते हैं। जिससे कसरत न बन पड़ती हो, ऐसे बहुत दुर्बल रोगी तथा क्षयी मनुष्य को टहलने से बढ़कर सुखकर तथा आरोग्य-वर्धक दूसरा व्यायाम नहीं है।

(१२) जल्दी सोना और जल्दी जागना :—

जिन्हें वीर्य रक्षा करनी है और आरोग्य संपन्न तथा भाग्यवान् बनना है उन्हें जल्दी सोने व जल्दी जागने का अभ्यास अवश्य ही डालना चाहिये। दस बजे के पहिले ही सो जाना चाहिये और चार बजे के पहले उठ जाना चाहिये। क्योंकि स्वप्नदोष प्रायः रात्रि के अन्तिम प्रहर में ही हुआ करता है। प्रातःकाल को अमृतवेला कहते हैं। सचमुच सृष्टि के इस प्रातः-कालीन दिव्य अमृत को त्यागने वाला पुरुष जल्दी बूढ़ा व मृतक तुल्य हो जाता है। "Early to bed and early to rise makes a man healthy wealthy and wise" "प्रातःकाल में उठने वाला मनुष्य आरोग्यवान्, भाग्यवान् और ज्ञानवान् होता है।" अतः जिन्हें पूर्वजों की तरह वीर्यवान्, ज्ञानवान्, तथा सामर्थ्य संपन्न बनना हो उन्हें प्रतिदिन ब्राह्म-मुहूर्त में ही उठना चाहिये और सबसे पहिले आत्म-चिंतन करना चाहिये; क्योंकि प्रातःकाल में जैसा चिंतन किया जाता है वैसा ही दिन भर बना रहता है।

(१३) योगासनाभ्यास :— योगासन शारीरिक विकास व ब्रह्मचर्य के लिए बहुत उपयोगी हैं। योगासनों का अभ्यास शौच, स्नान, व्यायाम आदि से निपट

कर, बिना कुछ खाये पिये, प्रातः सायं ऐसे स्थान पर करना चाहिये जहाँ शुद्ध वायु आती हो और प्रकाश भी पर्याप्त हो। किन्तु याद रहे कि (१) योगासनों का अभ्यास करते समय सादा सात्त्विक अल्पाहार अत्यन्त आवश्यक है। (२) आसनों का अभ्यास किसी अभ्यासी गुरु द्वारा ही करना चाहिये। (३) आसनों का अभ्यास करते समय श्वास का अन्दर आना और बाहर निकलना ये दोनों क्रियायें बहुत धीरे २ होनी चाहियें। (४) यदि शरीर में वीर्य संबंधी कोई विकार हो तो आसनों का अभ्यास करते समय गुदा-संकोचन पर विशेष ध्यान देना चाहिये। यह वीर्य-रक्षा में अत्यन्त सहायक पड़ता है।

(१४) उपवास :- "आहारं पचति शिखी दोषान् आहारवर्जितः" ॥ आयुर्वेद ॥ अर्थात् अग्नि भोजन को पकाती है और उपवास दोषों को पकाता है अर्थात् नष्ट करता है। उपवास अपनी शक्ति अनुसार ही रखना चाहिये। उपवास से शारीरिक व मानसिक दोष समूल नष्ट हो जाते हैं और आत्मशक्ति बढ़ती है। तथा मन में जितनी कामोत्तेजक भावनाएँ उत्पन्न होती हैं वे सब नष्ट होने लगती हैं; इसलिये ब्रह्मचर्य के लिये उपवास बहुत ही उपयोगी है।

(१५) दृढ़ प्रतिज्ञा :- जितने भी कार्य होते हैं उनकी सिद्धि में दृढ़प्रतिज्ञा प्रधान कारण माना जाता है; क्योंकि दृढ़प्रतिज्ञा से मनुष्य में एक अलौकिक शक्ति उत्पन्न होती है जिससे उनके कार्य-सिद्धि में जितनी भी

बाधाएँ आती हैं, उन सब को वह ठुकरा कर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। और श्रीभीष्मपितामह, श्रीलक्ष्मण व श्रीअर्जुन आदि महापुरुषों की तरह, प्रलोभनपूर्ण परिस्थितियों में भी अपने मन को विचलित होने नहीं देगा। इसलिये ब्रह्मचर्य आदि महान् सिद्धियों को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को दृढ़प्रतिज्ञ रहना ही चाहिये।

(१६) सततोद्योग :- यदि तुम्हें ब्रह्मचारी बनना है तो तुम्हें मन को सदा किसी न किसी उद्योग (कार्य) में लगाए रखना चाहिये। क्योंकि बेकार रहने से साधारण मनुष्यों के मन में अशुभ संकल्प उत्पन्न हुआ करते हैं। कहा भी है कि, "Empty mind is devil's work shop" अर्थात् बेकार मन शैतान का घर है। और यदि तुम शुभ कर्मों में अथवा आत्म-चिन्तन में लगे रहोगे तो मन को कभी अशुभ संकल्प करने का अवसर ही नहीं मिलेगा। कहा है :- "Constant occupation prevents temptation" अर्थात् शुभ कर्मों में लगे हुए मनुष्य के पास प्रलोभन नहीं आता। इसलिये ब्रह्मचर्य में सहायक पवित्र मन को कायम रखने के लिये सततोद्योगी रहना चाहिये।

(१७) ईश्वर-भक्ति :— अपने मन को शान्त व पवित्र बनाने के लिये 'भगवद्-भक्ति' एक मात्र सब से श्रेष्ठ साधन है। क्योंकि यह नियम है कि जब जिस किसी की भक्ति जिस भावना से की जाती है उस समय मन भी उसी भावना के अनुरूप ही बन

जाता है। और भगवद्-भक्ति करते समय उपासक की वृत्ति ईश्वर को सब से श्रेष्ठ पवित्र व शुद्ध रूप से ग्रहण करती है और इस प्रकार ग्रहण करने से उपासक की बुद्धि (वृत्ति) भी स्वयं सब से श्रेष्ठ, पवित्र व शुद्ध होने लग जाती है। इसलिये अपने मन के अशुभ संकल्प, कामोत्तेजक भावनाओं व अपवित्रता को नष्ट करने के लिये ईश्वर-भक्ति अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार हे शिष्य! ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये कई साधन, "ब्रह्मचर्य ही जीवन है" 'ब्रह्मचर्य' आदि पुस्तकों में लिखे हुए हैं। मैंने तुम्हें प्रधान साधन थोड़े में बताए हैं। यदि इन नियमों को सुनकर, मनन करके इन पर चलोगे तो अवश्य तुम ब्रह्मचर्य का पालन कर सकोगे।

भर्तृ ने भी सोचा कि "मैंने इतनी आयु तो भोगों में गवाँ दी; अब तो मुझे सचेत होकर ब्रह्मचर्य आदि साधनों द्वारा चित्त को वश में करके एकान्त में आत्मानन्द का अनुभव करना चाहिये।

क्योंकि एकान्त में जो आनन्द है वह कहीं नहीं है। तैत्तिरीय श्रुति (वेद) में आया है कि :—

जो नीरोग, जवान, दृढ़, स्थूल, बलवान् व विद्वान् राजा है, उस में मनुष्यों के सुखों का अन्त है अर्थात् सब मनुष्यों से उसे अधिक सुख है। उससे सौ गुना अधिक सुख मानव-गन्धर्व को (एक अच्छे गवैये को गाते समय) है। उन से सौ गुना अधिक देव-गन्धर्व (देवताओं के सामने गान करने वालों) को है। उन

से सौ गुना अधिक पितृलोक में पितरों को है।

उन से सौ गुना अधिक सुख अजानदेवों को है। उनसे सौ गुना अधिक कर्मदेवों को है। उन से सौ गुना अधिक मुख्यदेवों (ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु इन इकतीस) को है। उन मुख्यदेवों से सौ गुना अधिक सुख इन्द्र को है। इन्द्र से सौ गुना अधिक सुख गुरु बृहस्पति को है। गुरु से सौ गुना अधिक प्रजापति को है। प्रजापति से सौ गुना अधिक सुख ब्रह्माजी को है, जिन्हें कभी दुःख होता ही नहीं है।

सोरठा

राजातैं ब्रह्मान्त, कह्यो जु सुख सगरो लहै।
रहत सदा एकान्त, कामदग्ध जाको न हिय॥

अर्थात् इस प्रकार राजा से लेकर ब्रह्मा तक जितना भी सुख तैत्तिरीय श्रुति ने बतलाया है, उतना सारा सुख, कामवासनाओं (इच्छाओं) से रहित मन वाले ज्ञानी को एकान्त देश में आत्म-चिन्तन करते समय प्राप्त होता है।

इस प्रकार सोच कर वह भर्तृ मन्त्री वन में कन्द-मूलों से अपना जीवन निर्वाह करता हुआ, वहीं एक वट-वृक्ष के नीचे अपना आसन लगा कर, एकान्त-देश में आत्मचिन्तन (साक्षी और ब्रह्म की एकता के चिन्तन) द्वारा आत्मानन्द का अनुभव करने लगा।

जब यह वृत्तान्त मन्त्रियों ने सुना तो वे बड़े प्रसन्न हुए; किन्तु उन्हें यह चिन्ता भी हुई कि,

'यदि राजा कभी शिकार के लिये उसी वन में जावे समय भल्लु को देख लेंगे तो हम सब झूँठे बन जायँगे और राजा हम सब को दण्ड देंगे।'

तब वे सब आपस में मिल कर मन्त्रणा (सलाह) करके राजा के पास जाकर कहने लगे कि, "हे राजन्! हमें पता लगा है कि वह भल्लु मन्त्री मरने के बाद प्रेत बन कर इस समीप वाले वन में घूमता रहता है; अतः कृपया आप इस वन में कभी न जायँ। क्योंकि वह जिसे देखता है उसके साथ बात-चीत करने के बहाने से उसे मार डालता है, परन्तु जो उसे देखते ही भाग जाता है, वह बच जाता है।" इस प्रकार उन मन्त्रियों के झूँठे वचनों को बिना सोचे ही राजा ने सच्चे मान लिये। और एक बार शिकार खेलते हुए राजा वहीं जा पहुँचे जहाँ भल्लु वृक्ष के नीचे बैठे थे। बस उसे देखते ही [मन्त्रियों के डाले हुए झूँठे संस्कारों के कारण असली भल्लु को देखने के बाद भी उसे प्रेत मान कर] राजा वापिस घोड़े को लौटा कर भागने लगे। भल्लु ने बुलाने के लिये आवाज भी दी, किन्तु आवाज को सुन कर राजा को और भी अधिक भय हुआ और जल्दी जल्दी उस वन से बाहर निकल गया।

जिस प्रकार हे शिष्य! जब उस राजा ने उन ईर्ष्यालु मन्त्रियों के असत्यवचन सुने, तब भल्लु के प्रेत होने का उसे निश्चय हो गया और भल्लु को वहाँ प्रत्यक्ष सामने देखकर भी उसको प्रेत समझकर

से भाग गया, ठीक इसी प्रकार जब कोमल हृदय वाले जिज्ञासु जन द्वैतवादियों (भेदवादियों) के वेदविरुद्ध असत्य वचन (जैसे जीव जन्मने मरने वाले हैं व ब्रह्म से भिन्न हैं इत्यादि असत्य वचन) सुनते हैं, तब अपने जीवपने का और ब्रह्म से अलगपने का निश्चय उन्हें इतना दृढ़ हो जाता है, कि फिर ब्रह्म-ज्ञानियों से अद्वैतवार्ता के सुनने से ब्रह्म से अभिन्न सत्-चित् आनन्द अद्वितीय अपने असली स्वरूप का प्रत्यक्ष रूप से भान होने पर भी अपने आप को कर्त्ता, भोक्ता तथा जन्मने मरने वाला व ब्रह्म से भिन्न जीव समझकर जन्म मरण के चक्कर में भटकते रहते हैं।

इसलिये हे शिष्य ! जब तक तुम द्वैतवादियों (भेदवादियों) के वचन सुनते रहोगे तथा उन्हें सत्य मानते रहोगे तब तक तुम्हें ब्रह्म से अभिन्न आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता। क्योंकि भेद भावना के हृदय में रहने से अभेदभावना का पूर्ण रूप से उदय नहीं होता। यदि थोड़ा उदय होता भी है तो फिर भेदवादियों के वचनों को सुनने से वह अभेदभावना शिथिल हो जाती है। और जब तक भेद भावना रहेगी तब तक "द्वितीयाद् वै भयं भवति" इस श्रुति के अनुसार भय रहेगा ही और जब तक भय इत्यादि दोष अन्तःकरण में हैं तब तक जन्म मरण का चक्कर नहीं छूट सकता। इसलिये हे शिष्य ! यदि तुम्हें जन्म मरणादि दुःख रूप संसार से छूटना है तो जब तक अपरोक्ष-ज्ञान नहीं हुआ है तब तक भेद वादियों के

वेदविरुद्ध वचन जैसे कान न पड़ें वैसा ही यत्न करना चाहिये अर्थात् भेदवादियों के संग को छोड़कर, केवल अद्वैतवादी ब्रह्मज्ञानियों का ही संग करना चाहिये; जिससे तुम्हें आत्म-ज्ञान प्राप्त होगा और इस संसार के दुःखों से छूट जाओगे।

शंका :- भगवन्! यह तो मुझे समझ में आ गया कि मेरा कल्याण अद्वैतवादी ब्रह्मनिष्ठगुरु के सिवा नहीं हो सकता; किन्तु आपने कहा था कि गुरु और वेद भी मिथ्या हैं, तो मिथ्या गुरु-वेद इस मिथ्या जन्ममरण रूपी संसार दुःख को कैसे नष्ट कर सकेंगे, इस मेरी पहिले वाली शंका का निवारण नहीं हुआ सो कृपा करके इसका निवारण कीजिये।

उत्तर :- हे शिष्य! मिथ्या संसार की निवृत्ति मिथ्या गुरु-वेद से ही हो सकती है। यदि गुरु और वेद सत्य होते तब तो उन से मिथ्या संसार की निवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि यह नियम है कि "मिथ्या (कल्पित) वस्तु की निवृत्ति मिथ्या पदार्थ से ही हो सकती है। जैसे सपने का मिथ्या शेर सपने की मिथ्या बन्दूक से ही मर सकता है, सपने की कल्पित बीमारी सपने के कल्पित वैद्य की कल्पित औषधि (दवा) से ही नष्ट हो सकती है; इस प्रकार इस मिथ्या (कल्पित) जन्ममरण रूप संसार की निवृत्ति मिथ्या गुरु द्वारा मिथ्या वेद के सुनने से उत्पन्न हुए मिथ्या ज्ञान से ही हो सकती है। सत्य वेद और गुरु इस मिथ्या संसार की निवृत्ति के लिये अपेक्षित

नहीं हैं। हे शिष्य! इस बात को समझाने के लिये मैं तुझे एक राजा की कहानी सुनाता हूँ।

कोई एक राजा अपने महल के शयन-भवन में शय्या पर सोया हुआ था। उस महल के चारों तरफ योद्धा लोग शस्त्र धारण किये हुए खड़े थे। कोई पत्ती भी उस शयन-भवन में प्रविष्ट नहीं हो सकता था। इस प्रकार चारों तरफ से प्रबन्ध किये हुए उस शयन-भवन में सोये हुए उस राजा ने सपने में देखा कि गीदड़ी ने आकर उसके पाँव को पकड़ लिया है। राजा बहुत चिल्लाए किन्तु किसी बाहर के योद्धा ने सहायता नहीं की। अन्त में राजा ने स्वयं अपनी लकड़ी गीदड़ी के सिर पर मारी। लकड़ी लगते ही गीदड़ी मर गई किन्तु पाँव में घाव हो गया। तब वह राजा सपने में अपने को दरिद्र समझकर स्वयं ही जर्राह (मल्लम-पट्टी करने वाले) के पास गया। और मल्लम-पट्टी करने के लिये जर्राह से प्रार्थना की। किन्तु जर्राह ने कहा कि "पैसे लाओ तो मल्लम दूँगा अन्यथा नहीं।" उस समय राजा के पास एक पाई भी नहीं थी। अतः अन्त में वह राजा दुःखी होकर वापस लौटा। और मन में सोचने लगा, "यदि मेरे पास पैसे होते तो यह जर्राह घर पर दौड़ता आता। किन्तु इसका दोष नहीं, असल में सारा संसार ही स्वार्थी है।" सही कहा है कि :-

"यह सब जग स्वारथ को सारो। बिन स्वारथ को काको प्यारो॥" इतने में एक महात्मा मिले। वह राजा महात्मा के चरणों में गिर पड़ा, और कहने

लगा, "भगवन् किसी प्रकार भी मेरे इस घाव को ठीक करिये, मैं बड़ा दुःखी हूँ। तब महात्मा ने अपने पास पड़ी हुई जड़ी बूटी से उस के घाव को ठीक कर दिया।

ठीक इसी प्रकार हे शिष्य! यह ब्रह्मस्वरूप साक्षी चेतन (आत्मा) रूप राजा, इस माया द्वारा रचे हुए संसार रूप सपने में अपने आपको जीव रूप दरिद्र समझ रहा है। इसके कल्पित सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत अन्तःकरण की वृत्ति रूप पाँव में अविद्या रूप गीदड़ी ने काट कर जन्ममरणादि दुःख रूप घाव कर दिया है। अब इसका असली स्वरूप आत्मदेव राजा होता हुआ भी यह अपने आप को अज्ञान से कर्त्ता, भोक्ता, जन्मने मरने वाला जीव समझकर, द्वैतवादी रूप जर्राह के पास जाता है। किन्तु वे स्वार्थी लोग द्वैत की भावना को और डाल कर उस अविद्या से किये हुए जन्ममरण रूपी घाव को और बढ़ा देते हैं। जब यह जीव भटकता भटकता किसी ब्रह्मज्ञानी रूपी महात्मा के पास पहुँचता है तब वह ब्रह्म-ज्ञान रूप जड़ी बूटी से इस जीव के अविद्या से किये हुए जन्ममरण आदि संसार-दुःख रूपी घाव को मिटाकर ब्रह्म-रूप बना देता है अर्थात् जीवपने की भ्रान्ति को हटाकर उस अपने असली स्वरूप का निश्चय करवा कर, नित्य प्राप्त ब्रह्म की प्राप्ति करवा देता है।

हे शिष्य! अब तुम्हें समझ में आगया होगा कि जैसे सपने की गीदड़ी भी मिथ्या थी, और उसका

किया हुआ घाव भी मिथ्या था तो उस मिथ्या घाव की निवृत्ति भी मिथ्या (सपने वाले) महात्मा की दी हुई मिथ्या जड़ी बूटी से ही हुई, उसी प्रकार यह अविद्या भी मिथ्या (कल्पित) है और इसका किया हुआ जीव-भाव व जन्ममरणादि दुःख रूप संसार भी मिथ्या ही है और इस मिथ्या संसार की निवृत्ति भी मिथ्या सद्गुरु द्वारा मिथ्या वेद (उपनिषद्) सुनने से उत्पन्न हुए मिथ्या (कल्पित) आत्म-ज्ञान से ही हो सकती है। इसलिये (जब सारा संसार ही मिथ्या है तो गुरु और वेद भी संसार में ही हैं; अतः मिथ्या माने जाते हैं) यद्यपि गुरु-वेद मिथ्या हैं तथापि उन्हीं से ही इस मिथ्या संसार की निवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं।

और हे शिष्य! जो आपने मरुस्थल के जल और प्यास का उदाहरण देकर कहा था कि जैसे मिथ्या मृगतृष्णा का जल प्यास की निवृत्ति नहीं कर सकता, वैसे मिथ्या गुरु और वेद भी संसार की निवृत्ति नहीं कर सकते, वह आप का कहना ठीक नहीं था; क्योंकि :-

आपस में समसत्ता जिनकी, लखि साधक-बाधकता तिनकी
समसत्ता भवदुख गुरुवेदा, यों गुरुवेद करत भवछेदा ॥

अर्थात् जिन पदार्थों की आपस में समान (एक) सत्ता होती है, वे ही आपस में साधक व बाधक बना करते हैं। जैसे जाग्रत् की मिट्टी जाग्रत् के घड़े की ही साधक (कारण) बन सकती है, न कि सपने

के घड़े की; और जाग्रत् की अग्नि सपने की लकड़ी की बाधक (नाशक) नहीं बन सकती, किन्तु जाग्रत् की लकड़ी की बाधक तो बन ही सकती है। इस से यह सिद्ध होता है कि एक सत्ता वाले ही आपस में साधक बाधक बना करते हैं। किन्तु जो तुमने मृगतृष्णाजल और प्यास का उदाहरण दिया था वह ठीक नहीं है; क्योंकि मृगतृष्णा का जल मिथ्या (प्रातिभासिक) है, और प्यास सच्ची (व्यावहारिक) है। इसलिये दोनों की सत्ता एक न होने के कारण प्रातिभासिक जल से व्यावहारिक प्यास नहीं मिट सकती। व्यावहारिक प्यास तो व्यावहारिक जल से (कुएँ इत्यादि के जल से) ही मिट सकती है।

किन्तु यहां प्रकृत (वर्तमान प्रसंग) में तो भव-दुःख अर्थात् जन्म मरण रूप संसार दुःख और गुरु-वेद, दोनों मिथ्या हैं अर्थात् दोनों की सत्ता एक है; अतः मिथ्या गुरु-वेद से इस मिथ्या संसार की निवृत्ति हो सकती है।

शंका :– भगवन्! प्रातिभासिक व व्यावहारिक शब्द का अर्थ क्या है, यह कृपा करके बतलाइये।

उत्तर :– हे शिष्य! ये दोनों शब्द सत्ताओं के नाम हैं। सत्ता तीन प्रकार की मानी जाती है। (१) पारमार्थिक सत्ता (२) व्यावहारिक सत्ता (३) प्रातिभासिक सत्ता।

(१) पारमार्थिक सत्ता :– जिस का तीनों कालों में बाध न हो सके, [अर्थात् जो किसी भी काल में

मिथ्या सिद्ध न हो सके] उसकी सत्ता (अस्तित्व) पारमार्थिक मानी जाती है। चेतन (ब्रह्म) का बाध कभी नहीं होता, इसलिये पारमार्थिक सत्ता केवल चेतन की ही है।

(२) व्यावहारिक सत्ता :- जिस पदार्थ का ब्रह्मज्ञान के बिना बाध [अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) मिथ्या निश्चय] न हो सके, उस पदार्थ की व्यावहारिक सत्ता मानी जाती है। मूल-अविद्या (संसार की मूल कारण अनादि-अविद्या) के कार्य जो जाग्रत् के पदार्थ शरीर इन्द्रियादि जो ईश्वरीय-सृष्टि है, उसका बिना ब्रह्मज्ञान के बाध नहीं होता, इसलिये उसकी (ईश्वरीय सृष्टि की) व्यावहारिक सत्ता (जन्म मरण बन्ध मोक्षआदि व्यवहार को सिद्ध करने वाली सत्ता) मानी जाती है।

(३) प्रातिभासिक सत्ता :- ब्रह्मज्ञान के बिना ही जिन पदार्थों का बाध हो जाय, उन की प्रातिभासिक सत्ता मानी जाती है। जैसे :- बिना ब्रह्मज्ञान के ही, सीपी, रस्सी, मरुस्थल आदिकों के ज्ञान से (क्रमशः) मिथ्या चांदी, सांप, जलादिकों का बाध हो जाता है, इसलिये उन कल्पित चांदी सर्पादिकों की प्रातिभासिक सत्ता (प्रतीति मात्र सत्ता) मानी जाती है।

इस प्रकार हे शिष्य ! ईश्वरीय सृष्टि के अन्तर्गत वेद-गुरु तथा संसार दुःख, इनकी आपस में समान (एक) व्यावहारक सत्ता ही है; इसलिये मिथ्या वेद गुरु से ही मिथ्या संसार दुःख का नाश हो सकता है, अन्यथा नहीं।

शंकाः– भगवन्! आप ब्रह्म से भिन्न सभी पदार्थों को मिथ्या ही कहा करते हैं, फिर उन मिथ्या पदार्थों में भी–

सीपी में कल्पित चांदी, रस्सी में कल्पित सांप और मरुस्थल में कल्पित–जल–आदिकों का ब्रह्मज्ञान के बिना, तथा संसार दुःख का ब्रह्मज्ञान के बाद ही बाध होता है, यह भेद क्यों रक्खा है?

उत्तरः– हे शिष्य! यद्यपि ब्रह्म से भिन्न सभी पदार्थ (अविद्या के कार्य होने से) मिथ्या ही हैं, तो भी जिस के अज्ञान से जो पदार्थ उत्पन्न होता है उसी के ज्ञान से ही उस कल्पित पदार्थ का बाध हो सकता है' इस नियम से सीपी, रस्सी और मरुस्थल आदिकों के अज्ञान से उत्पन्न हुए कल्पित चांदी, सांप तथा जलादिकों का बाध सीपी, रस्सी तथा मरुस्थल आदिकों के ज्ञान से ही होता है। और ब्रह्म के अज्ञान से (अनादि अज्ञान से) उत्पन्न हुए अनिर्वचनीय (मिथ्या) जन्ममरणादिक संसार–दुःख का बाध ब्रह्मज्ञान से ही होता है। बस इसी कारण प्रातिभासिक पदार्थों में (कल्पित सांप तथा सपने आदिकों में) तथा व्यावहारिक पदार्थों में (शरीरादि सांसारिक पदार्थों में) भेद माना है; और वैसे दोनों अविद्या के कार्य होने से मिथ्या हैं।

शंका :– स्वामिन्! यह जन्ममरणादिक संसार जो ब्रह्म के अज्ञान से उत्पन्न हुआ है, वह किस क्रम (सिलसिले) से हुआ है यह कृपा करके समझाइये।

उत्तर :– हे शिष्य! इस संसार की उत्पत्ति का

कोई क्रम नहीं है। क्योंकि कल्पित पदार्थ किसी क्रम से उत्पन्न नहीं होते किन्तु कल्पना के साथ साथ ही उत्पन्न हो जाते हैं; जैसे सपने के पदार्थों की उत्पत्ति किसी क्रम से नहीं होती, ठीक वैसे ही इस जाग्रत् (बड़े सपने) के पदार्थों की उत्पत्ति का भी कोई क्रम नहीं है। यह जाग्रत् सृष्टि तो दृष्टि (ज्ञान) के साथ साथ ही उत्पन्न होती है; क्योंकि ये दृष्टि और सृष्टि दोनों साथ ही उत्पन्न होती हैं और साथ ही नष्ट होती हैं।

शंका :- भगवन्! यदि इस संसार की उत्पत्ति का कोई क्रम नहीं है तो फिर उपनिषदों में (वेदों में) परमात्मा से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदिकों की उत्पत्ति के क्रम का वर्णन कैसे आया है?

उत्तर :- हे शिष्य! वेदों ने जो सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम कहा है, वह केवल इस संसार के कारणरूप अद्वैत ब्रह्म को समझाने के लिये ही न कि क्रम को बताने के लिये। क्योंकि यदि वेदों का तात्पर्य संसार के क्रम को बतलाने में होता तो एक ही प्रकार से क्रम बतलाते; किन्तु छांदोग्य उपनिषद् में तो "सत् रूप परमात्मा से अग्नि, जल, पृथ्वी क्रम से उत्पन्न होते हैं" यह कहा है और तैत्तिरीय में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी यों पांचभूतों की क्रम से उत्पत्ति कही है और कहीं तो "सब को बिना क्रम के ही परमेश्वर उत्पत्ति करते हैं" ऐसा लिखा है। इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति वेदों ने अनेक प्रकार से कही है। इसलिये हे शिष्य! जैसे दशहरे के उत्सव पर जलाने के लिये

बनाये हुए बारूद से भरे हुए लकड़ी के रावण का यदि कोई एक कान टेढ़ा हो जाता है, तो उसे फिर ठीक करने का यत्न कोई नहीं करता; क्योंकि उस रावण बनाने का तात्पर्य रावण को दिखाने में नहीं होता, किन्तु उसे जलाकर 'अभिमानी रावण का किस प्रकार राम द्वारा अन्त हुआ था' इस सिद्धान्त को समझाने में ही होता है; इसी प्रकार 'नेति नेति' द्वारा इस दृश्य संसार का निषेध करके, अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान करवाने के लिये ही इस संसार का श्रुति (वेद) ने आरोप (काल्पनिक कथन) किया है। इसलिये अपवाद (निषेध) करने के लिये किसी न किसी क्रम सहित आरोप किये हुए संसार की उत्पत्ति के एक क्रम बतलाने का वेद ने कोई यत्न नहीं किया; क्योंकि वेद के सृष्टि-कथन करने का लक्ष्य, लय-चिन्तन द्वारा अद्वैत ब्रह्म को जनवाना ही है, न कि क्रम बतलाना।

भगवान् ने भी गीता के १५ अध्याय के ३ श्लोक में कहा है कि-"न रूपमस्येह तथोपलभ्यते,नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।" अर्थात् इस संसार-वृक्ष का स्वरूप जैसा क्रम सहित भिन्न २ श्रुतियों ने कहा है, वैसा यहां विचार-काल में नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है और न अच्छी प्रकार से स्थिति ही है, अर्थात् तीनों कालों में एक रूप से (सत्‌रूप से) नहीं रहता।

भगवान् के इस कथन से भी यह सिद्ध होता है कि इस संसार का जो क्रमसहित स्वरूप वर्णन किया

गया है वह वास्तव में नहीं है। किन्तु जिनमें ब्रह्म-विचार-द्वारा यथार्थ-ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता नहीं होती उन्हें लय-चिन्तन (जगत् रूपी कार्य का ब्रह्म रूपी कारण में लय करने) का अभ्यास कराया जाता है। उस अभ्यास के लिये संसार की उत्पत्ति का कोई न कोई क्रम वतलाना पड़ता है, जिससे जिज्ञासु की वुद्धि, आसानी से वतलाए हुए उत्पत्ति-क्रम से उल्टा लय-चिन्तन करके, अद्वैत-ब्रह्म में स्थित हो सके।

शंका :- भगवन्! तो लय-चिन्तन द्वारा अद्वैत ब्रह्म में मेरी वुद्धि को स्थित करने के लिये, मुझे भी पहिले सृष्टि की उत्पत्ति का कोई क्रम कृपा करके वतलाइये।

उत्तर :- हे शिष्य! इस जगत् की उत्पत्ति के क्रम को सुनने से पहिले, इस जगत् की उत्पत्ति कहाँ से होती है, यह समझना चाहिये। जो शुद्ध चेतन ब्रह्म है, वह तो असंग और अक्रिय है; इसलिये उस से संसार की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु माया-विशिष्ट-चेतन जो ईश्वर है, उसीसे जगत् की उत्पत्ति होती है।

शंका :- भगवन्! कृपाकरके माया और ईश्वर का भी थोड़े में स्वरूप वतला दीजिये।

उत्तर - हे अनघ! जो शुद्धब्रह्म के आश्रित, शुद्ध-सत्व-गुण-प्रधान-प्रकृति है उसे माया कहते हैं। यह एक प्रकार से तीनों गुणों की एक अवस्था है; क्योंकि जब तीनों गुण (सत्वगुण, रजोगुण, और तमोगुण) समान अवस्था में होते हैं तब उन्हें प्रकृति कहते हैं।

जब उन तीनों में सत्त्वगुण बढ़ कर रजोगुण और तमोगुण को दबा लेता है तब उन्हें माया कहते हैं। और जब रजोगुण व तमोगुण के बढ़ने से सत्त्वगुण मलिन पड़ जाता है अर्थात् दब जाता है तब उन्हीं तीनों गुणों का नाम अविद्या अथवा अज्ञान पड़ता है। इस प्रकार हे शिष्य ! ये सब नाम उस त्रिगुणमयी प्रकृति के ही हैं।

शंका :- भगवन् ! जब ये माया और अविद्या दोनों नाम एक प्रकृति के ही हैं तो फिर नामों का भेद क्यों है ?

उत्तर:-हे शिष्य ! माया शब्द के दो भाग हैं, एक 'मा' दूसरा 'या'। 'मा' का अर्थ है 'न' और 'या' का अर्थ है 'जो'। अर्थात् वास्तव में और विचारकाल (ज्ञान-काल) में 'जो न' हो और बिना विचार के प्रतीत हो उसे कहते हैं माया, और वह विद्या (ज्ञान) से नष्ट होती है इसलिये उसे अविद्या भी कहते हैं। तथा वह शुद्ध ब्रह्म के स्वरूप का आच्छादन करती है (ढक लेती है) इसलिये उसे अज्ञान भी कहते हैं।

तो इस प्रकार हे शिष्य ! यह जो त्रिगुणमयी माया है, (१) इस की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये अनादि है। (२) एक है। (३) सान्त अर्थात् अन्तवाली है; क्योंकि इस माया का ज्ञान से अन्त (नाश) हो जाता है। (४) सत् असत् से विलक्षण है। क्योंकि सत् कहते हैं उसको, जिसका तीनों कालों में बाध न हो सके। ऐसा केवल चेतन ही है। माया का तो ज्ञान

से बाध हो जाता है इसलिये माया सत् से विलक्षण (न्यारी) है। और असत् कहते हैं उसको जिसकी तीनों कालों में प्रतीति न हो; जैसे खरगोश के सींग, वन्ध्या का पुत्र, आकाश के फूल इत्यादि। किन्तु माया और उसका कार्य यह संसार तो प्रतीत होता है, इसलिये माया को असत् भी नहीं कह सकते। अर्थात् माया असत् से विलक्षण है। जैसे माया सत् असत् से विलक्षण है, वैसे उसका कार्य यह संसार भी सत् असत् से विलक्षण है। और सत् असत् से विलक्षण को अद्वैतमत में मिथ्या तथा अनिर्वचनीय भी कहते हैं।

शंका :- भगवन्! जब माया को अनादि मानते हैं और ब्रह्म भी अनादि है तो फिर दो पदार्थों के अनादि होने से द्वैत होने पर अद्वैत कैसे रहेगा?

उत्तर :- हे शिष्य! द्वैत सदा समान सत्ता वालों में ही माना जाता है। जैसे सपने वाले शिष्य और जाग्रत् वाले गुरु का आपस में द्वैत नहीं बन सकता; क्योंकि सपने वाले शिष्य की सत्ता, प्रातिभासिक है तथा जाग्रत् वाले गुरु की सत्ता व्यावहारिक है। रस्सी और रस्सी में कल्पित सांप ये आपस में दो नहीं माने जाते; क्योंकि रस्सी की सत्ता व्यावहारिक है तथा सांप की सत्ता प्रातिभासिक (प्रतीति मात्र) है। ठीक इसीप्रकार ब्रह्म और माया का भी आपस में द्वैत सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है और माया की सत्ता प्रातिभासिक है अर्थात् ब्रह्म सत्य है और माया मिथ्या (अनिर्वचनीय) है;

इसलिये अनादि होते हुए भी उस मिथ्या माया का सत्य ब्रह्म से द्वैत सिद्ध नहीं हो सकता, अपितु परमार्थ (वास्तव) में एक ब्रह्म ही होने के कारण अद्वैत ही सिद्ध होता है।

और हे शिष्य ! जैसे अन्धकार घर के आश्रित होकर, घर को ही ढकता है, उसी प्रकार यह मिथ्या (अनिर्वचनीय) अज्ञान (माया) शुद्ध ब्रह्म के आश्रित होकर, शुद्ध-ब्रह्म को ही ढकता है। इसीलिये अज्ञान को स्वाश्रय-स्वविषय कहते हैं। [स्व=ब्रह्म ही आश्रय है और स्व=ब्रह्म को ही विषय करता है अर्थात् ढकता है]

इस विषय में वाचस्पति कहते हैं :- "अज्ञान ब्रह्म के आश्रित होकर ब्रह्म को विषय नहीं करता, किन्तु जीव के आश्रित है और ब्रह्म को विषय करता है। क्योंकि "मैं अज्ञानी (जीव) ब्रह्म को नहीं जानता" इस प्रतीति से यह सिद्ध होता है कि अज्ञान का आश्रय जीव (मैं शब्द का अर्थ) है और वह अज्ञान ब्रह्म को विषय करता है अर्थात् ढकता है।

और वह अज्ञान एक नहीं किन्तु अनेक हैं; क्योंकि यदि अज्ञान एक होता तो एक पुरुष के अज्ञान के नष्ट होने से सभी का अज्ञान नष्ट होजाता और सभी ज्ञानी होने से मुक्त हो जाते। यदि कहो कि आज तक किसी को ज्ञान हुआ ही नहीं है, तो फिर आगे भी किसी को नहीं होगा; और ऐसा मानने से श्रवण-मननादिक साधन भी निष्फल हो जाएँगे। इसलिये अनेक जीवों के आश्रित अज्ञान भी अनेक हैं, ऐसा मानना चाहिये।

और उन अनेक अज्ञानों द्वारा कल्पित ईश्वर और ब्रह्मांड भी अनेक हैं अर्थात् उन अनेक जीवों के अपने अपने अज्ञान से कल्पित ईश्वर और संसार भी भिन्न भिन्न हैं।

और जिस जिस जीव को ज्ञान होता जाता है, उस उस जीव का अज्ञान, ईश्वर और संसार भी निवृत्त होता जाता है, तथा जिस जीव को ज्ञान प्राप्त नहीं होता उसका वन्धन रह जाता है अर्थात् वह मुक्त नहीं होता।"

यह वाचस्पति का मत है, किन्तु यह समीचीन (ठीक) नहीं है। क्योंकि "ईश्वर जीव के अज्ञान से कल्पित है और अज्ञान के नाना (अनेक) होने से अज्ञान द्वारा कल्पित ईश्वर व संसार भी नाना हैं" यह कहना श्रुति, स्मृति तथा पुराणादि शास्त्रों के विरुद्ध है। इसलिये अज्ञान नाना नहीं किन्तु एक ही मानना चाहिये। क्योंकि एक मानने से उससे कल्पित ईश्वर और संसार भी एक ही मानना पड़ेगा, जो वेद आदि शास्त्रों के विरुद्ध नहीं है।

और वह अज्ञान जीव के आश्रित नहीं किन्तु शुद्ध ब्रह्म के आश्रित है; क्योंकि जीव और ईश्वर ये तो अज्ञान के कार्य हैं। कार्य कभी कारण का अधिष्ठान रूप आश्रय नहीं बना करता। यद्यपि "मैं अज्ञानी हूँ" इस प्रकार का जीव को जो अभिमान होता है, उस अभिमान के नाते अज्ञान का अभिमानी-रूप-आश्रय जीव कहलाता है किन्तु अधिष्ठान-रूप-आश्रय तो केवल

ब्रह्म ही है। अतः उस अनादि एक अज्ञान को स्वाश्रय-स्वविषय (शुद्ध ब्रह्म के आश्रित और शुद्ध ब्रह्म को ही ढकने वाला) मानना ही समीचीन (ठीक) है।

शंका :–भगवन् ! "यदि अज्ञान एक है तो फिर एक के ज्ञानी होने से सभी का अज्ञान नष्ट होना चाहिये ? इस वाचस्पति के दलील का कृपा करके समाधान कीजिये।

उत्तर :–हे शिष्य ! रात्री होने पर जो (अंशीरूप) अन्धकार सर्वत्र व्यापक हो जाता है वह है तो यद्यपि एक है किन्तु तुम्हारे घर में दीपक जलाने से, जो अन्धकार का अंश तुम्हारे घर को व्याप्त करता है वही अंश केवल नष्ट होता है, न कि दूसरा अंश। इस प्रकार जिस जिस घर में दीपक इत्यादि से प्रकाश होता जाता है उस उस घर वाला अंधकार का अंश नष्ट होता जाता है। ठीक इसीप्रकार जिस अंशीरूप अज्ञान ने सारे संसार को अपने नाना अंशो से व्याप्त कर रखा है वह है तो यद्यपि एक है, किन्तु जिस जिस के अन्तःकरण में ज्ञान दीपक जलता जाता है, उस उस के अन्तःकरण वाला अज्ञान का अंश नष्ट होता जाता है, और जिनके अन्तःकरणों में ज्ञान का उदय नहीं होता, उनके अन्तःकरणों में अज्ञान का अंश रह ही जाता है; इसलिये अंशीरूप अज्ञान के एक होने पर भी (नाना अंशों के कारण) एक के ज्ञानी होने से सब का अज्ञान नष्ट होकर सभी मुक्त नहीं होते किन्तु जिसको ज्ञान होता है वही मुक्त होता है।

परन्तु हे शिष्य ! यदि किसी को वाचस्पति का बताया हुआ नाना-अज्ञान-वाद ही समझ में आजाय, तो उससे भी अद्वैतब्रह्म का ज्ञान हो सकता है इस लिये उसके खण्डन में मेरा कोई आग्रह नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार से जिज्ञासु को अद्वैत-ज्ञान होजाय उसको लिये वही तरीका ठीक है । नैष्कर्म्यसिद्धिकार ने भी लिखा है कि :—

"यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वी सा च व्यवस्थितिः ॥"

अर्थात् :—जिज्ञासुओं को जिस जिस प्रक्रिया से प्रत्यक्-आत्मा का (अपने स्वरूप का) ज्ञान हो सके वही प्रक्रिया वेदान्त सिद्धान्त में श्रेष्ठ है, और वही व्यवस्था है ।"

शंका:—भगवन् ! आपने बताया कि वह अनादि अज्ञान शुद्ध ब्रह्म के आश्रित है; किन्तु ब्रह्म तो ज्ञानस्वरूप है, उसके आश्रित अज्ञान कैसे हो सकता है ?

उत्तर :—हे शिष्य ! जैसे सामान्य अग्नि लकड़ी की विरोधी नहीं है किन्तु विशेषरूप से प्रकट हुई अग्नि ही लकड़ी की विरोधी होती है, उसी प्रकार सामान्य-ज्ञान (शुद्धचेतनब्रह्म) अज्ञान का विरोधी नहीं है; क्योंकि हम देखते भी हैं कि सुषुप्ति अवस्था में, अज्ञान भी रहता है तो अज्ञान के साक्षीरूप से सामान्य-चेतन भी रहता है। इसलिये सामान्य-चेतन अज्ञान (माया) का विरोधी नहीं है अपितु सत्ता व स्फुरण देने के नाते साधक है । किन्तु

वृत्ति में आरूढ (स्थित) चेतन अथवा चेतन-सहित वृत्ति (वृत्तिज्ञान) अज्ञान का विरोधी है।

हे शिष्य ! इस प्रकार जो तुमने माया (अज्ञान) का स्वरूप सुना वह (१) शुद्ध-सत्त्व-गुण-सहित माया (२) माया का अधिष्ठान शुद्ध-चेतन (ब्रह्म) और (३) उस माया में आया हुआ चेतन का आभास। इन तीनों को मिलाकर ईश्वर कहते हैं। और वही ईश्वर इस जगत् का कारण है।

शंका:—भगवन् ! प्रत्येक वस्तु के दो कारण माने जाते हैं (१) उपादान कारण (२) निमित्त कारण। जैसे घड़े का उपादान कारण है मिट्टी और निमित्त कारण हैं कुम्हार, डंडा, चक्र इत्यादि। इसीप्रकार इस जगत् के भी दोनों कारण कृपा करके बताइये ?

उत्तर:—हे शिष्य ! जैसे एक ही मकड़ी अपने बनाये हुए जाले का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी है तथा जैसे एक ही साक्षी सपने का उपादान तथा निमित्त कारण है, वैसे एक ही ईश्वर भी इस जगत् का उपादान कारण भी है तथा निमित्त कारण भी है।

उस में भी, जैसे मकड़ी का जड़ शरीर जाले का उपादान-कारण है और मकड़ी का अन्तःकरण-सहित-चेतन-भाग जाले का निमित्त-कारण है और साक्षी का शरीर नाना-सूक्ष्म-संस्कार-गर्भित अविद्या, सपने का उपादान-कारण है तथा अविद्या-सहित-चेतन-भाग सपने का निमित्त-कारण है; ठीक इसी प्रकार

ईश्वर का शरीर तमःप्रधानप्रकृतिरूप माया जगत् का उपादान-कारण है और ईश्वर का शुद्ध-सत्त्व-प्रधान-माया-सहित-चेतन-भाग जगत् का निमित्त-कारण है ।

शंका:-भगवन् ! उस जगत् के कारण ईश्वर को जगत् उत्पन्न करने की इच्छा क्यों हुई ?

उत्तरः-हे शिष्य ! जगत् को उत्पन्न करने की इच्छा ईश्वर को अपने आप नहीं होती किन्तु जीवों के कर्म-वशात् ही होती है। क्योंकि जब समष्टि जीवों के [(१) मलिनसत्त्वगुणसहित अज्ञान का अंश (२) उसका अधिष्ठान चेतन (३) उस अज्ञान-अंश में आया हुआ चेतन का आभास; इन तीनों को मिला कर जीव कहते हैं ।] कर्म, भोग देने से उदासीन हो जाते हैं तब प्रलय होता है । उस समय जीवों के कर्म संस्कार रूप से माया में रहते हैं फिर जैसे पृथ्वी में पड़े हुए बीज समय पर पक जाने के बाद अंकुर देने के लिये सम्मुख (तैयार) हो जाते हैं, उसी प्रकार जब जीवों के कर्म भोग देने के लिये सम्मुख होते हैं तब ईश्वर को यह इच्छा होती है :—

'जीवों के भोग निमित्त जगत् उत्पन्न हो'।

ऐसी इच्छा (संकल्प) होते ही, तमोगुण प्रधान प्रकृति से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। और उन पांच भूतों में क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, ये पांच गुण उत्पन्न होते हैं ।

हे शिष्य ! लय-चिन्तन द्वारा अद्वैत-ब्रह्म का बोध कराने के लिये जगत् की उत्पत्ति का क्रम यों बतलाते हैं कि पहिले,

(१) माया से प्रतिध्वनिरूप शब्द सहित आकाश की उत्पत्ति हुई।

(२) आकाश से वायु की उत्पत्ति हुई। वायु आकाश का कार्य है, इसलिये आकाश का शब्दगुण ('सी सी' रूप से) वायु में आता है। तथा अपना गुण (उष्ण, शीत, तथा कठिन से विलक्षणरूप) स्पर्श है।

(३) वायु से तेज की उत्पत्ति हुई। तेज में आकाश का शब्द गुण (भुक भुक रूप से) है, वायु का स्पर्श गुण (उष्ण रूप से) है तथा अपना गुण रूप है जो प्रकाशरूप से है। ✓

(४) तेज से जल की उत्पत्ति हुई। जल में आकाश का शब्द (चुलुचुलु रूप से) है, वायु का स्पर्श (शीत रूप से) है तेज का रूप (शुक्ल रूप से) है, तथा अपना गुण 'मधुर' रस है।

(५) जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी में आकाश का शब्द (कड़कड़रूप से) है, वायु का स्पर्श (कठिन रूप से) है, तेज का रूप (सफेद, नीला, पीला, लाल, हरा आदिरूप से) है, जल का रस (मीठा खट्टा, खारा, कड़वा, कसैला और तिक्त रूप से) है तथा अपना गुण (सुगंध और दुर्गंध रूप से दो प्रकार का) गन्ध है।

इस प्रकार आकाश में एक, वायु में दो, तेज में तीन, जल में चार और पृथ्वी में पांच गुण हैं। उन में एक एक गुण अपना है और शेष अधिक गुण कारण के हैं। सब का मूल कारण ईश्वर है। ईश्वर के प्रधान दो भाग हैं; एक माया और दूसरा चेतन। इन दोनों भागों के गुण भी सारे संसार में मौजूद हैं। जो सारे संसार में मिथ्यापना दीखता है वह माया का भाग है तथा जो सत्ता-स्फूर्ति दीखती है वह चेतन का भाग है।

इस प्रकार हे शिष्य! जब इन पांचों भूतों की गुणों सहित सृष्टि हो गई, तब उन पांचों भूतों के मिले हुए सत्त्व-गुण-अंश से अन्तःकरण की उत्पत्ति हुई। उस अन्तःकरण के परिणाम को वृत्ति कहते हैं। वह अन्तःकरण की वृत्ति चार प्रकार की होती है।

(१) पदार्थों के भले बुरे स्वरूप का निश्चय करने वाली वृत्ति बुद्धि कहलाती है।

(२) संकल्प-विकल्प-वृत्ति मन कहलाती है।

(३) चिन्तन रूप वृत्ति चित्त कहलाती है।

(४) "अहं (मैं)" ऐसी अभिमानवृत्ति अहंकार कहलाती है।

इस प्रकार अन्तःकरण की उत्पत्ति के बाद, पांच भूतों के मिले हुए रजोगुण अंश से प्राण की उत्पत्ति हुई। वह प्राण, क्रिया भेद से और स्थान भेद से पांच प्रकार का है।

(१) प्राण :- जिसका स्थान है हृदय और क्रिया है भूख प्यास लगाना।

(२) अपान :- जिसका स्थान है गुदा और क्रिया है मल-मूत्र को नीचे ले जाना।

(३) समान :- जिसका स्थान है नाभि और क्रिया है खाए, पीए, अन्न जल को पकाने योग्य सम करना।

(४) उदान :- जिसका स्थान है कण्ठ और क्रिया है स्वास लेना।

(५) व्यान :- जिसका स्थान सारा शरीर है, और क्रिया है रसमेलन।

इस प्रकार पांच भूतों के मिले हुए सत्त्वगुण से अन्तःकरण तथा रजोगुण से प्राण की उत्पत्ति हुई। फिर एक एक भूत के अपने अपने सत्त्व-गुण-अंश से पांच ज्ञान-इन्द्रियां बनीं। जैसे :-

(१) आकाश के सत्त्वगुणअंश से कान।

(२) वायु के सत्त्व-गुणअंश से त्वचा (चमड़ी)।

(३) तेज के सत्त्व-गुणअंश से नेत्र।

(४) जल के सत्त्वगुणअंश से रसना।

(५) पृथ्वी के सत्त्व-गुणअंश से नाक।

और एक एक भूत के रजो-गुण-अंश से एक एक कर्म-इन्द्रिय बनी।

(१) आकाश के रजोगुण-अंश से वाक् (वाणी)।

(२) वायु के रजोगुण-अंश से हाथ।

(३) तेज के रजोगुण-अंश से पांव।

(४) जल के रजोगुण-अंश से उपस्थ (भोग-इन्द्रिय)

(५) पृथ्वी के रजोगुण-अंश से गुदा की उत्पत्ति हुई है।

इस प्रकार हे शिष्य ! यह जो मैंने अन्तःकरण, प्राण, ज्ञान-इन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय तक सृष्टि बतलाई है वह पंचमहाभूतों के पंचीकरण होने से पहिले पहिले की बनी हुई है; इसलिये इस सृष्टि को अपंचीकृत भूतों का काय व सूक्ष्मसृष्टि कहते हैं।

इस सूक्ष्मसृष्टि के बाद ईश्वर की इच्छा से स्थूल सृष्टि के बनने के लिये उन अपंचीकृत भूतों का पंचीकरण हुआ।

यह पंचीकरण दो प्रकार से माना जाता है।

(१) जैसे कोई पांच भाई थे, वे भिन्न भिन्न प्रकार की सेर सेर भर मिठाई ले आए। तब उन्होंने सोचा कि हम आपस में यह मिठाई इस विधि से बांटें कि सब के पास अपनी अपनी मिठाई सब से अधिक रहे और दूसरे दूसरे प्रकार की मिठाई भी आजाय। तब उन पांचों ने अपनी अपनी मिठाई के आधे आधे सेर के दो दो भाग किये। फिर प्रत्येक ने अपनी अपनी मिठाई का आधा आधा सेर तो अपने पास रखा और शेष रहे हुए आधे आधे सेर को दो दो छटांक के हिसाब से अपने से भिन्न चार भाइयों में बांट दिया। इस प्रकार पांचों के पास सेर सेर मिठाई भी हो गई और उसमें आधा सेर अपनी मिठाई का, तथा दो दो छटांक दूसरे चार भाइयों की मिठाई के भी आ गए। इसी को पांचों मिठाइयों का पंचीकरण कहते हैं। पांचों महाभूतों का पंचीकरण भी

इसी प्रकार हुआ है। पांचों भूतों के आधे आधे भाग तो उनके पास रहे और शेष रहे हुए आधे भाग के चार भाग होकर अपने से भिन्न चार भूतों में आ गए।

(२) दूसरा पंचीकरण का प्रकार यह है :—एक एक भूत के पच्चीस पच्चीस भाग हुए। उन में से प्रत्येक के इक्कीस इक्कीस भाग अपने अपने पास रहे और शेष रहे हुए चार भाग अपने से भिन्न दूसरे चार भूतों में आ गए।

इस प्रकार भूतों के पंचीकरण होने के बाद उन का नाम पंचीकृत पड़ा। और उन पंचीकृत भूतों से ही यह स्थूल-ब्रह्मांड बना। इस ब्रह्मांड में भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक, और सत्यलोक ये सात भुवन ऊपर के बने। तथा अतल, सुतल, पाताल, वितल, रसातल, तलातल और महातल ये सात लोक नीचे के बने। तत्पश्चात् उन चौदह लोकों में जीवों के भोग्य-पदार्थ अन्नादिक तथा भोग भोगने के स्थान देव, मनुष्य पशु आदि स्थूल शरीर बने।

हे शिष्य ! यह जो मैंने तुम्हें सूक्ष्मसृष्टि और स्थूलसृष्टि बताई है इसी में तीनों शरीर व पांचों कोश भी माने जाते हैं।

शंका :—भगवन् ! वे तीनों शरीर व पांचों कोश भी कृपा करके बतलाइये।

उत्तर :—हे शिष्य ! कारण, सूक्ष्म और स्थूल ये तीन शरीर हैं। उन में :—

(१) कारण-शरीर :- मलिन-सत्व-गुण-सहित अविद्या का अंश जीव का कारण-शरीर कहलाता है तथा शुद्ध-सत्व-गुण-सहित-माया ईश्वर का कारण-शरीर कहलाती है।

(२) सूक्ष्म-शरीर :-उत्तर शरीर के आरम्भक पाँच सूक्ष्म भूत, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, पांच प्राण, पांच कर्म-इन्द्रियाँ और पांच ज्ञान-इन्द्रियाँ, ये सब मिल कर जीव का सूक्ष्म शरीर है, और सब जीवों के सूक्ष्म शरीर मिलकर ईश्वर का सूक्ष्म शरीर है।

(३) स्थूल-शरीर :- यह हाड-मांस आदि का बना हुआ पिञ्जरा (भोग भोगने का स्थान) जीव का स्थूल शरीर है, और सारा स्थूल ब्रह्मांड ईश्वर का स्थूल शरीर है।

और अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय ये पांचों कोश भी ऊपर कहे हुए तीनों शरीरों के अन्ततर्ग ही हैं।

(१) अन्नमय-कोश :-स्थूल शरीर को ही अन्नमय-कोश कहते हैं; क्योंकि यह माता पिता के खाये हुए अन्न से उत्पन्न हुए रज-वीर्य से ही उत्पन्न होता है, अन्न पर ही रहता है और अन्त में अन्न-रूप पृथ्वी में ही मिल जाता है। प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय ये तीनों कोश सूक्ष्म शरीर में हैं जैसे :—

(२) प्राणमय-कोश :-पांच प्राण और पांच कर्म-इन्द्रियों को मिलाकर प्राणमयकोश कहते हैं।

(३) मनोमय-कोश :--पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन को मिलाकर मनोमयकोश कहते हैं।

(४) विज्ञानमय-कोश :--पांच ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि को मिलाकर विज्ञानमयकोश कहते हैं।

(५) आनन्दमय-कोश :--कारण शरीर को आनन्दमयकोश कहते हैं।

इस प्रकार ईश्वर के भी पांचों कोश माने जाते हैं जैसे :—

(१) सम्पूर्ण स्थूलसृष्टिरूप विराट् जो ईश्वर का स्थूलशरीर है, वही ईश्वर का अन्नमयकोश है। (२) समष्टि कर्म-इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवतारूप अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, प्रजापति और यम ये पांच ईश्वर के कर्मइन्द्रिय और समष्टि प्राण वा वायु का अभिमानी देवतारूप ईश्वर का प्राण, ये सब मिलकर ईश्वर का प्राणमयकोश है। (३) समष्टि ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठाता देवतारूप दिक्पाल, वायु, सूर्य, वरुण, और अश्विनीकुमार, ये पांच ईश्वर की ज्ञानेन्द्रियाँ और समष्टि मनरूप अहंकारमय अथवा सब के मन का अभिमानी चन्द्रमामय ईश्वर का मन, ये सब मिलकर ईश्वर का मनोमयकोश है। (४) उक्त ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठाता देवतारूप पांच ईश्वर की ज्ञान-इन्द्रियाँ और समष्टि बुद्धिमय महत्तत्त्वरूप अथवा सब बुद्धियों का अभिमानी ब्रह्मारूप ईश्वर की बुद्धि, ये सब मिलकर ईश्वर का विज्ञानमयकोश है। (५) समष्टि-

अज्ञानरूप माया जो ईश्वर का कारण शरीर है वही ईश्वर का आनन्दमयकोश है।

शंका:--भगवन्! इनका कोश नाम क्यों पड़ा?

उत्तर:--हे शिष्य! कोश कहते हैं म्यान को। जैसे म्यान तलवार को ढक लेती है, उसी प्रकार ये पांचों कोश भी आत्मा के असंग आनन्दादिक विशेष स्वरूप को ढक लेते हैं, इसलिये इन अन्नमयादिकों को कोश कहते हैं।

कई मन्दमति पुरुष आत्मा से भिन्न (अनात्म) इन पांच कोशों में से किसी एक को आत्मा मान कर अपने असली स्वरूप साक्षी आत्मा से विमुख रहकर जन्म-मरण के चक्कर में भटकते ही रहते हैं। जैसे स्थूल शरीर को आत्मा मानने वाले विरोचन के मत (चार्वाक्) के अनुयायी कहते हैं:—"स्थूलशरीर में ही सब को "मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ" इस प्रकार की अहंबुद्धि होती है और यही सब से प्रिय है, इसलिये यह स्थूलशरीर (अन्नमय कोश) ही आत्मा है। और इस स्थूल-शरीर का वस्त्र, भूषण, तेल, आदिकों से शृंगार करना और नाना प्रकार के भोजनों से पोषण करना ही परमपुरुषार्थ है। इसलिये—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥

अर्थात् जब तक जीवन है तब तक सुख से जीना चाहिये। ऋण लेकर भी घी पीना चाहिये।

अर्थात् किसी भी प्रकार विषय भोगने चाहियें; क्योंकि शरीर के भस्म होने के बाद (मरने के बाद) फिर संसार में थोड़े ही आना है।" यह विरोचन का सिद्धान्त है।

(२) इन्द्रिय-आत्मा-वादी कहते हैं:—"स्थूलशरीर आत्मा नहीं है किन्तु इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं; क्योंकि जब तक इन्द्रियाँ इस स्थूलशरीर में रहती हैं तब तक यह चल फिर सकता है, और जब सभी इन्द्रियाँ निकल जाती हैं, तब यह मुर्दा हो जाता है, तथा सब को "मैं सुनता हूँ मैं देखता हूँ" इस प्रकार अहंभावना भी इन्द्रियों में ही होती है; इसलिये इन्द्रियाँ ही आत्मा है।"

(३) हिरण्यगर्भ के उपासक (प्राण-आत्म-वादी) कहते हैं:-"शरीर में यदि आँख इत्यादि इन्द्रियाँ नहीं रहती, तो भी शरीर मरता नहीं किन्तु प्राण निकलते ही शरीर मुर्दा हो जाता है। और सुषुप्ति-अवस्था में जहाँ इन्द्रियों का लय हो जाता है, वहाँ भी प्राण तो चलता ही रहता है। इसलिये इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं, किन्तु प्राण ही आत्मा है।

(४) मन-आत्म-वादी कहते हैं:-"प्राण जड़ है [क्योंकि वह न स्वयं को जानता है, न दूसरों को जानता है] इसलिये प्राण आत्मा नहीं है किन्तु मन ही आत्मा है; क्योंकि मन के संबन्ध से ही, इन्द्रियाँ ज्ञान की साधन बनती हैं। और श्रुति भी

कहती है कि (इसप्रकार वे अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये सारे प्रसंग को विना समझे ही वेद के कुछ टुकड़े भी प्रमाण के रूप में देते हैं) "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" अर्थात् "मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है" और "तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः" अर्थात् "उस प्राणमय से दूसरा अन्तर आत्मा मनोमय है" इससे भी सिद्ध होता है कि मन ही आत्मा है।

(५) विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं, "मन आत्मा नहीं है किन्तु क्षण क्षण में बदलने वाला प्रकाश-रूप जो विज्ञान अर्थात् बुद्धि है, वही आत्मा है। क्योंकि मन बुद्धि के ही आधीन है बल्कि यों कहना चाहिये कि बुद्धि का ही आकार है; क्योंकि प्रत्येक वस्तु के ज्ञान के समय पहिले अहं-वृत्ति ('मैं' ऐसी वृत्ति) रूप बुद्धि उत्पन्न होती है, फिर इदं-वृत्ति ("यह घट है, यह पुस्तक है" ऐसी वृत्ति) रूप मन उत्पन्न होता है इस प्रकार मन का भी कारण बुद्धि है; इसलिये बुद्धि ही आत्मा है। और श्रुति ने जो मन का नाम लिया है, वह तो कोशों को बताते हुए कहा है कि प्राणमय कोश से अन्दर मनो-मय कोश है, वास्तव में तो श्रुति विज्ञानमय बुद्धि को ही आत्मा बताती है। (इस पर वे प्रसंग के बीच में से ही कुछ श्रुति का हिस्सा लेकर कहते हैं) जैसे :—"तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः) अर्थात् उस मनोमय से दूसरा अन्तर

आत्मा विज्ञानमय है। इससे भी सिद्ध होता है कि विज्ञानमयरूप बुद्धि ही आत्मा है।

(६) आनन्दमय कोश को आत्मा मानने वाले पूर्वमीमांसा के वार्त्तिककार भट्ट कहते हैं:-"बुद्धि क्षणिक है, और आत्मा नित्य है, तथा बुद्धि का सुषुप्ति अवस्था में लोप हो जाता है, किन्तु आत्मा का लोप नहीं होता; क्योंकि श्रुति कहती है "नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" अर्थात् "द्रष्टा (साक्षी) रूप आत्मा की दृष्टि (ज्ञान) का कभी लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है" और विज्ञानमय (जो एक कोश है) का नाम तो श्रुति ने कोशों को बतलाते हुए लिया है। इसलिये क्षणिक-विज्ञान रूप बुद्धि आत्मा नहीं है किन्तु जड़चेतनस्वरूप (आनन्दमय कोश) ही आत्मा है; क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में अपने (आत्मा के) जड़पने का अनुभव होता है और उस अपने जड़पने का अनुभव करने वाला भी स्वयं (चेतन रूप) आत्मा ही है इसलिये आत्मा खद्योत (जुगुनु) की तरह प्रकाश और अप्रकाश रूप अर्थात् जड़ और चेतन दोनों रूप है।

(७) दूसरे आनन्दमय कोश को आत्मा मानने वाले शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध कहते हैं:-"जैसे खद्योत का एक अंश प्रकाशरूप है और दूसरा अंश अप्रकाशरूप है इसी प्रकार आत्मा को भी प्रकाश-अप्रकाश अर्थात् जड़ चेतन दोनों रूप मानने के लिये अंश वाला मानना पड़ेगा। और अंश वाला मानने

पर अंश वाले घटादि पदार्थों की तरह आत्मा को भी उत्पत्ति और नाश वाला मानना पड़ेगा। जो पदार्थ उत्पत्ति और नाश वाला होता है वह उत्पत्ति से पहिले और नाश के बाद असत् (शून्य) होता है। और जो आदि-अन्त में असत् होता है वह मध्य (बीच) में भी असत् ही होता है; इसलिये आत्मा असत् रूप है। वैसे आत्मा से भिन्न और सारे पदार्थ भी, उत्पत्ति-नाश वाले होने के कारण असत् रूप हैं। इस प्रकार आत्मा और अनात्मा सभी असत् रूप होने के कारण शून्य ही परमतत्त्व है।"

इसरीति से जीवन्मुक्त महात्मा जिस माया को (समष्टि अज्ञान कारण शरीर अर्थात् आनन्दमय कोश को) तुच्छ अर्थात् शून्य रूप समझता है; उसी को ये शून्यवादी बौद्ध आत्मा मानते हैं।

(८) तीसरे आनन्दमय-कोश को आत्मा मानने वाले पूर्वमीमांसा के एकदेशी प्रभाकर और नैयायिक कहते हैं- "शून्य को आत्मा कहने वालों से हम पूछते हैं कि, "शून्य का किसी ने अनुभव किया है या नहीं ?" यदि कहें कि "शून्य का अनुभव नहीं होता।" तो शून्य नाम का कोई पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता और यदि कहें कि, "शून्य का अनुभव किया है" तो हम कहेंगे कि जिसने शून्य का भी अनुभव किया है, वही शून्य से न्यारा आत्मा है ; अर्थात् शून्य भी तभी सिद्ध हो सकता है जब उस का कोई अनुभव

करने वाला माना जाय; इसलिए जो शून्य से भी न्यारा उसका अनुभव करने वाला है, वही आत्मा है। और उस आत्मा में मन के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है; वैसे वह स्वरूप से जड़ है।" किन्तु यह उन का मत भी ठीक नहीं है क्योंकि—

वे सुषुप्ति-अवस्था वाले आनन्दमय कोश को ही आत्मा समझकर उस में गूढ़-चेतन को (बादलों में सूर्य की तरह गुप्त आत्म-चेतन को) न पहिचानने से, उसे ज्ञान-हीन समझकर जड़ कहते हैं। और जिस अनित्य ज्ञान को वे आत्मा (आनन्दमय कोश) का गुण मानते हैं; वह वास्तव में अन्तःकरण की वृत्तिरूप बुद्धि है। तथा आत्मा को जड़ मानने से, वह घटादि जड़पदार्थों की तरह अनित्य हो जायगा और यदि आत्मा को अनित्य मानेंगे तो फिर वेद के बताये हुए मोक्ष के लिये प्रयत्न करना भी निरर्थक हो जायगा और "सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यम्" अर्थात् वह आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है और नित्य है, "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" अर्थात् वह आकाश की तरह सर्वव्यापक और नित्य है। "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" अर्थात् वह नित्यों का नित्य और चेतनों का भी चेतन है अर्थात् जितने भी संसार में पदार्थ हैं वे इस आत्मा की सत्ता से ही नित्य और आत्मा की चेतनता से ही चेतन प्रतीत हो रहे हैं" इत्यादि श्रुतियों से विरोध होगा; इसलिये आत्मा को नित्य व चेतनस्वरूप ही मानना चाहिये।

इस प्रकार हे शिष्य ! वेदान्त वाक्यों में विश्वास-हीन अनेक वहिर्मुख लोग पांचकोशों में से ही किसी एक को आत्मा मान कर तथा मुख्य आत्म-स्वरूप साची से विमुख रहकर जन्म मरण के चक्कर में भटकते ही रहते हैं।

इस प्रकार आत्मा के असली स्वरूप को ढक लेने के कारण ही इन अन्नमयादिकों का नाम कोश पड़ा है।

और जैसे इन पांचकोशों के कारण आत्मा के स्वरूप को समझने में लोगों को भ्रान्ति हो जाती है इस प्रकार इन कोशों के कारण भ्रान्ति से ईश्वर के असली स्वरूप को न समझकर लोग अंतर्यामी से लेकर पीपल पर्यन्त को ईश्वर मान कर अपनी अपनी भावनानुसार फल प्राप्त करते हैं। किन्तु मोक्ष तो "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" इस श्रुति के अनुसार विना ब्रह्म-ज्ञान के हो ही नहीं सकता। इसलिये जिस को मोक्ष की इच्छा है उसे विचारद्वारा जीव-ईश्वर के असली स्वरूप को पांच-कोशों से अलग करके जानना चाहिये। इन में से भी जीव के असली स्वरूप आत्मा को समझने के बाद, ईश्वर के असली स्वरूप ब्रह्म को समझना आसान है; क्योंकि वास्तव में आत्मा और ब्रह्म दोनों एक ही हैं। केवल घट और मठ की उपाधि से आकाश की तरह, अविद्या और माया की उपाधि के कारण भ्रान्ति से भिन्न प्रतीत होते हैं।

शंका :— हे प्रभो ! कृपा करके पांचों कोशों से आत्मा के विवेक (अलग करने) की कोई विधि बतलाइये।

उत्तर :- हे शिष्य ! यह नियम है कि 'जो वस्तु दूसरी भिन्न भिन्न वस्तुओं के बदलते रहने पर भी नहीं बदलती, अपितु उन बदलने वाली वस्तुओं का साक्षीरूप होकर विराजमान रहती है, वह वस्तु उन बदलती रहने वाली वस्तुओं से भिन्न होती है।' इस नियम से अपना असली स्वरूप आत्मा इन पांचों-कोशों से अर्थात् तीनों शरीरों से भिन्न है। [पांचों कोश तीनों शरीरों के अन्तर्गत हैं यह पहिले बतला दिया है] क्योंकि जाग्रत् में जो यह स्थूल शरीर दीखता है इसके बदलते रहने पर भी आत्मा नहीं बदलता; क्योंकि सब को ऐसी प्रतिभिज्ञा (स्मृति के साथ होने वाला प्रत्यक्षज्ञान) होती है कि "जो मैं बचपन में मां की गोद में खेला करता था, किशोर अवस्था में लड़कों से खेलता था, जवानी में विषयभोग भोगता था वही मैं अब वृद्ध अवस्था में कांप रहा हूँ।" इस ज्ञान से सिद्ध होता है कि बचपन आदि अवस्था वाला स्थूल शरीर नहीं रहता किन्तु हम रहते हैं अर्थात् शरीर के बदलने पर भी हम (हमारा असली स्वरूप आत्मा) नहीं बदलते और जब जाग्रत् बदल कर सपना आता है तब इस स्थूल शरीर का भान न रहने पर भी आत्मा का (अपने आप का) सपने के साक्षी रूप से तो भान रहता ही है। फिर जब सुषुप्ति अवस्था आती है तो वहां सूक्ष्म शरीर का भी भान नहीं रहता किन्तु इस सुषुप्ति के अज्ञान व आनन्द के साक्षी रूप से आत्मा तो वहां भी विराजमान है। फिर निदिध्यासन करते

करते जब समाधि-अवस्था आजाती है तो वहां अज्ञान भी नहीं रहता बस केवल अपना आप चेतनानन्द-रूप ही रह जाता है। इस प्रकार इन जाग्रत् आदि अवस्थाओं के बदलते रहने पर तथा शरीरों के न रहने पर भी आत्मा नहीं बदलता और सदा उन के व उन के अभाव के साक्षी रूप से विराजमान ही रहता है। इससे सिद्ध होता है कि ये अवस्थाएँ आत्मा की नहीं है। आत्मा इन तीनों शरीरों (पांचों कोशों) से न्यारा है। और हे शिष्य! यह भी नियम है कि 'द्रष्टा कभी दृश्य नहीं बन सकता तथा ज्ञाता कभी ज्ञेय नहीं बन सकता।' इस नियम से आत्मा कभी शरीर नहीं बन सकता अर्थात् आत्मा इन शरीरों से न्यारा है; क्योंकि तुम शरीर को जानते हो इसलिये तुम शरीर नहीं हो किन्तु शरीर के ज्ञाता (जानने वाले) हो। इस प्रकार तुम कान, त्वचा, आंख, रसना, नाक इन पांच ज्ञानेन्द्रियों को तथा वाणी, हाथ, पांव, गुदा, उपस्थ, इन पांच कर्म-इन्द्रियों को भी जानते हो, इसलिये तुम इन से भिन्न हो।

तुम (साक्षी) प्राण को भी जानते हो प्राण तुम्हारा असली स्वरूप नहीं है। तुम मन को भी जानते हो कि 'मेरा मन अभी भजन में लग रहा है अथवा भाग रहा है' ; इसलिये तुम मन भी नहीं हो। और बुद्धि को भी तुम (तुम्हारा असली स्वरूप साक्षी) जानते हो कि 'यह बात मेरी बुद्धि में आ रही है अथवा मेरी बुद्धि काम नहीं करती' इस प्रकार बुद्धि को तथा उसके

जानने अथवा नहीं जानने को भी तुम जानते हो, अर्थात् तुम्हारा असली स्वरूप आत्मा उस बुद्धि का भी साक्षी है। इस से सिद्ध होता है कि तुम बुद्धि से न्यारे हो। इस प्रकार तुम्हारा असली स्वरूप सब से (तीनों शरीरों अर्थात् पांचों कोशों से) न्यारा और सभी का साक्षी है। बस इस प्रकार अपने स्वरूप का निश्चय करना ही कोशों से आत्मा का विवेक करना कहलाता है और यही आत्म-ज्ञान है।

इस प्रकार हे शिष्य ! केवल अपने को साक्षी समझने मात्र से ही मनुष्य कृतकृत्य नहीं होता; अतः फिर अपने आप को ब्रह्म (व्यापक) रूप से निश्चय करे अर्थात् जो मैं इन तीनों शरीरों का साक्षी हूँ, वही मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् अस्ति-भाति-प्रिय रूप से सर्वत्र व्यापक हूँ। जैसे मृगतृष्णा का जल वास्तव में है ही नहीं, केवल कल्पित है और वह कल्पित जल बालू को गीला नहीं कर सकता; इसीप्रकार यह सारा संसार भी वास्तव में मुझ साक्षी चेतन में है ही नहीं, केवल कल्पित है; और यह कल्पित संसार मुझे (साक्षी को) सुखी दुःखी नहीं कर सकता। अन्तःकरण में ही संसार है और अन्तःकरण को ही सुखी दुःखी करता है। मेरा असली स्वरूप तो अकर्ता अभोक्ता, नित्य-मुक्त तथा सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म (व्यापक) है। इस प्रकार का निश्चय ही ब्रह्मज्ञान कहलाता है और यही ज्ञान मोक्ष का साधन है।

शंका :- भगवन् ! यदि आत्मा सदा ही नित्य-

मुक्त ब्रह्मस्वरूप है और उस में कभी बन्धन है ही नहीं तो फिर मोक्ष (बन्धन की निवृत्ति) के लिये श्रवणादि ज्ञान के साधनों की क्या आवश्यका है ?

उत्तर :- हे शिष्य ! यद्यपि वास्तव में आत्मा ज्ञान से पहिले भी नित्यमुक्त ब्रह्मस्वरूप ही है, किन्तु अज्ञान के कारण अपने आप को (आत्मा को) भ्रान्ति से कर्ता भोक्ता मानकर सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये अनेक साधन करता हुआ यह प्राणी नाना क्लेशों को प्राप्त होता है। फिर पुण्य-उदय होने से जब कोई ब्रह्मज्ञानी गुरु मिल जाता है तब गुरुमुख-द्वारा वेदान्त का श्रवण करने से "मैं कर्ता भोक्ता नहीं किन्तु ब्रह्म-स्वरूप हूँ; अब मुझे कुछ प्राप्त करना नहीं रहा, इसलिये इस शरीर से स्वभाववशात् अथवा प्रारब्धवशात् चाहे कोई कर्म होता रहे, किन्तु मेरे लिये अब कुछ कर्त्तव्य नहीं रहा।" इसप्रकार का ज्ञान हो जाना ही वेदान्त-श्रवण का फल है, न कि ब्रह्म की प्राप्ति ; क्योंकि ब्रह्म अपना स्वरूप होने के कारण नित्य-प्राप्त है। इसी दृष्टि से श्रीरामचन्द्रजी ने वसिष्ठजी से कहा था "हे भगवन् ! मैंने सब कुछ पाया और कुछ नहीं पाया।" वसिष्ठजी ने कहा "यह कैसे?" तब श्रीरामचन्द्रजी बोले "भगवन् ! सारा संसार ब्रह्म स्वरूप है, और उस ब्रह्म को जानना ही उसे प्राप्त करना है, सो उस ब्रह्म को मैंने जान लिया है अर्थात ब्रह्म को मैंने पा लिया है इसलिये मैंने सब कुछ पा लिया।" वसिष्ठजी बोले, "फिर कैसे कहते हो कि

मैंने कुछ नहीं पाया ?" राम बोले "भगवन्! वह ब्रह्म तो मैं स्वयं हूँ, पाया क्या ?" तब वसिष्ठजी ने कहा, "यद्यपि ब्रह्म तुम्हारा असली स्वरूप है इसलिये उसकी प्राप्ति नहीं बनती, किन्तु मेरा असली स्वरूप ब्रह्म है यह आत्मज्ञान पहिले थोड़े ही था, यह ज्ञान तो तुमने नया पाया है।"

हे शिष्य! इस प्रकार दृढ़-अपरोक्ष-आत्मज्ञान होने के बाद यह जीव कृतकृत्य हो जाता है। क्योंकि स्मृति कहती है कि, "आत्मलाभान्न परं विद्यते" अर्थात् आत्म-लाभ से फिर कोई और अधिक लाभ नहीं है अर्थात् आत्म-प्राप्ति के बाद फिर उस ज्ञानी को कुछ और प्राप्त करना नहीं रहता। सांसारिक वासनाएँ उसकी नष्ट हो जाती हैं; क्योंकि उसे संसार के मिथ्यापन का तथा अपने सत्-चित्-आनन्दघन का दृढ़ निश्चय हो जाता है। फिर वह कर्त्तव्य की आग में झुलसता नहीं रहता अर्थात् मैंने यह कर लिया है और यह नहीं किया है, यह करना चाहिये और यह करूँगा, इस प्रकार की कर्त्तव्य की चिन्ता उसे नहीं सताती। स्वभाव व प्रारब्धवशात् उसके शरीर से कर्म होते रहते हैं। श्रुति भी कहती है कि-

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

अर्थात् यदि यह पुरुष अपने आप को जानले, कि 'यह ब्रह्म मैं हूँ' तो फिर उसे किस वस्तु की इच्छा रहेगी और किस के लिये शरीर को दुःखी करेगा। अर्थात् उस ज्ञानी की

कोई इच्छा न रहने से अपने आप कर्तव्य-बुद्धि से (यह काम मुझे करना ही पड़ेगा इस बुद्धि से) कोई कर्म नहीं होता। गीता में भी ३ अध्याय के १७ श्लोक में भगवान् ने कहा है कि,

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

अर्थात् जिस पुरुष का केवल आत्मा में ही प्रेम है न कि विषयों में, और जो सदा आत्मा में ही तृप्त रहता है तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उसके लिए कोई कर्तव्य शेष रहता ही नहीं है। इत्यादि श्रुति स्मृति के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी के लिये कोई कर्तव्य नहीं है। और वैसे स्वेच्छा-प्रारब्ध, अनिच्छा-प्रारब्ध, परेच्छा-प्रारब्ध, अथवा स्वभाव से उससे कर्म हो सकते हैं। लोगों की दृष्टि से उसे लोकसंग्रह भी कहते हैं। वैसे वास्तव में वह कर्म नहीं है किन्तु कर्माभास है। क्योंकि कर्म कहते हैं उस क्रियाको जिसे कर्त्तापने और भोक्तापने की भावना के साथ किया जाय। किन्तु ज्ञानी तो समझता है कि मैं असंग, अकर्ता, अभोक्ता, निर्विकार, अक्रिय ब्रह्मस्वरूप हूँ; कर्त्तापन, भोक्तापन मेरे में नहीं; यह शरीर ही प्रारब्ध-वशात् कर्म करता रहता है। इसलिये ज्ञानी के उन लोकसंग्रह रूप अथवा शारीरिक कर्मों को कर्माभास कहते हैं। और उस कर्माभास से उसे कोई लेप नहीं लगता। इसलिये शास्त्रों में आता है कि ज्ञानी कर्म करता हुआ भी नहीं करता अर्थात् शरीर की दृष्टि से कर्म करता

हुआ भी साक्षी आत्मा की दृष्टि से कर्म नहीं करता। गीता में भी भगवान् ने ४ अध्याय के (२०) श्लोक में कहा है कि :—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥

अर्थात् ब्रह्मानन्द में मग्न रहने वाला, कामना-रहित पुरुष, कर्मों के फल और संग अर्थात् कर्तृत्व-अभिमान को त्यागकर कर्मों में अच्छी प्रकार वर्तता हुआ भी अपने को अकर्त्ता ही समझता है। आगे (२१) श्लोक में भी कहा है कि, "शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्" अर्थात् आशारहित आत्मज्ञानी पुरुष, केवल शरीर निर्वाह के लिए कर्म करता हुआ भी किल्बिष अर्थात् जन्म-मरण के कारण पुण्य-पापरूप अनिष्ट को प्राप्त नहीं होता। और ५ अध्याय के (७) श्लोक में भी कहा है कि :—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७॥

अर्थात् कर्मयोग से युक्त अतएव शुद्ध-मन; देह को वश में रखने वाला, जितेन्द्रिय एवं जिसका आत्मा सम्पूर्ण प्राणियों का स्वरूपभूत आत्मा है अर्थात् जिसने "अहमेवेदं सर्वम्" (मैं ही यह सब कुछ हूँ) इस श्रुति के वाक्य के अनुसार सारे संसार को अपना स्वरूप समझ लिया है, ऐसा ज्ञानी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता। क्योंकि वह कर्म नहीं किन्तु कर्माभास है अर्थात् उस कर्म को करता हुआ ज्ञानी अपने असली-

स्वरूप साक्षी को अकर्त्ता समझता है। भगवान् ने भी इस कर्माभास की विधि को बतलाते हुए गीता के ५ अध्याय के ८ व ९ श्लोक में कहा है कि :—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

अर्थात् "हे अर्जुन ! तत्त्व को जानने वाला आत्म-ज्ञानी देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, जाता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ. बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, तथा आँखों को खोलता और मीचता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने अपने अर्थों में वर्त रही हैं, इस प्रकार समझता हुआ, निःसंदेह ऐसे माने, कि मैं (मेरा असली स्वरूप साक्षी) कुछ नहीं करता।"

और श्री निश्चलदासजी ने भी अपने गोप्यतत्त्व के उपदेश में परमार्थता (वास्तविकता) का उपदेश करते हुए इस कर्माभास का वर्णन किया है।

शंका :—भगवन् ! उस गोप्यतत्त्व के उपदेश को कृपा करके समझाइये।

उत्तर :—हे शिष्य ! "मायामात्रमिदं द्वैतम्" इस श्रुति के कथन-अनुसार यह सारा संसार माया मात्र है अर्थात् यह सारा संसार कल्पित है वास्तव में शुद्धब्रह्म के अतिरिक्त कुछ सत्य वस्तु है ही नहीं। पञ्चदशीकार ने भी चित्रदीप में श्रुति का प्रमाण देते हुए कहा है कि—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥२३५॥

अर्थात्–न कभी आत्मा का नाश होता है। न वह आत्मा कभी देह के संबन्ध में आता है। न इसे कभी सुख दुःख होते हैं। न इसमें कभी मुमुक्षुभाव ही रहता है और न कभी यह मुक्त ही होता है। यही परमार्थता (वास्तविकता) है। अर्थात् निरोध (नाश), उत्पत्ति, बद्धता, साधक-भाव, मुमुक्षुत्व तथा मुक्ति यह कुछ भी वास्तविक नहीं है। ये सब तो आत्म-सागर में आने वाली क्षुद्र लहरें हैं। ये सब तो आत्म-समुद्र में उठ खड़े हुए तुच्छ बुलबुले हैं। समुद्र के गम्भीर अन्तस्तल की तरह यह आत्मसागर सदा शान्त और एकरस ही बना रहता है। ऊपर कही हुई घटनाओं में से एक भी घटना पारमार्थिक नहीं है। बस यही सम्पूर्ण शास्त्रों का निचोड़ किंवा परमार्थ बात है।

शंका :–भगवन्! आत्मा (शुद्ध-चेतन) में जीवपन और ईश्वरपन भी नहीं हैं क्या?

उत्तर :–हे शिष्य! वास्तव में शुद्ध-चेतन ब्रह्म में जीवपन और ईश्वरपन भी कल्पित ही है। पंचदशीकार ने भी चित्रदीपप्रकरण में कहा है कि :—

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि ॥ २३६ ॥

अर्थात् माया रूपी कामधेनु के जीव और ईश्वर रूपी दो बछड़े हैं, ये दोनों चाहे कितना ही द्वैत रूपी

दूध को पीते रहें किन्तु वास्तव में तत्त्व तो एक अद्वैत शुद्ध ब्रह्म ही है।

इसी प्रकार श्रीनिश्चलदासजी परमार्थ तत्त्व का उपदेश करते हुए कर्माभास का वर्णन करते हैं :—

॥ इंद्व छन्द ॥

एक अखंडित ब्रह्म असंग, अजन्म अदृस्य अरूप अनामैं।
मूलअज्ञान न सूछमथूल, समष्टि न व्यष्टिपनो नहिं तामैं॥
ईस न सूत्र विराट न प्राज्ञ न, तैजस विस्वस्वरूप न जामैं।
भोग न जोग न वन्ध न मोछ, नहिं कछु वामैं रु है सब वामैं॥
जाग्रत मैं जु प्रपंच प्रभासत, सो सब बुद्धिविलास बन्यो है।
ज्यूँ सुपनेमहिं भोग्य न भोग, तऊ इक चित्र विचित्र जन्यो है॥
लीन सुषूपतिमैं मति होतहि, भेद भगै इकरूप सुन्यो है।
बुद्धि रच्यो जु मनोरथमात्र सु, निश्चल बुद्धि प्रकास भन्यो है॥

॥ सवैया छन्द ॥

जाके हिय ज्ञानउजियारो, तम अंधियारो खरो विनास।
सदा असंग एक रस आतम, ब्रह्मरूप सो स्वयंप्रकास॥
ना कछु भयो न है नहिं ह्वै है, जगत मनोरथ मात्र विलास।
ताकी प्राप्ति नियृत्ति न चाहत, ज्यूँ ज्ञानी के कोउ न आस॥
देखै सुनै न सुनै न देखै, सब रस गहै रु लेत न स्वाद।
सूँघि परसि परसै न न सूँघै, बैन न बोलै करै विवाद॥

इस का अभिप्राय कहते हैं :—

निजविषयनमें इन्द्रिय वर्ते, तिनतैं मेरो नाहिं संग।
मैं इन्द्रिय नहिं मम इन्द्रिय नहिं, मैं साछी कूटस्थ असंग॥
त्यागहु विषय कि भोगहु इन्द्रिय, मोकूं लगै न रंचक रंग।
यह निश्चय ज्ञानी को जातैं, कर्त्ता दीखै करै न अंग (हे प्रिय)॥

इस प्रकार गोप्यतत्त्व का उपदेश करने के बाद भी शिष्य के चेहरे पर आत्मानन्द (खुदमस्ती) की झलक न देखकर, आचार्य (गुरु) ने सोचा कि 'इसका अन्तःकरण शुद्ध न होने के कारण इसे आत्म-ज्ञान की बातें समझ में नहीं आई हैं; इसलिये इसको लयचिन्तन द्वारा 'ॐ'कार की अहंग्रह-उपासना बतानी चाहिये जिससे इसका अन्तःकरण शुद्ध होकर इसे आत्मज्ञान प्राप्त हो जायगा।" यह सोचकर गुरुजी बोले :—

गुरुजी :- हे शिष्य ! इस सारे संसार का कारण ब्रह्म है। और यह नियम है कि 'कार्य कारण से भिन्न नहीं होता अपितु कारण का स्वरूप ही होता है।' जैसे जेवर सोने के कार्य हैं तो वे कारणरूप सोने से भिन्न नहीं अपितु सोने के स्वरूप ही हैं, जैसे तरंग और बुदबुदे जल से भिन्न नहीं किन्तु जल के ही स्वरूप हैं अथवा जैसे मिट्टी के कार्य घड़ा आदि मिट्टी रूपी कारण से भिन्न नहीं अपितु मिट्टी स्वरूप ही हैं; ठीक इसी प्रकार यह सारा संसार रूप कार्य, कारणरूप ब्रह्म से भिन्न नहीं अपितु ब्रह्म-स्वरूप ही है। श्रुति भी कहती है कि- "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् "यह सारा संसार, निश्चय जानो, ब्रह्मस्वरूप ही है।"

हे शिष्य ! इस प्रकार जगत् को ब्रह्मस्वरूप समझकर, 'सोऽहम्' "सो ब्रह्म मैं (मेरा असली स्वरूप साक्षी) हूँ" इस श्रुत्यनुसार लयचिन्तन का अभ्यास करने से तुझे आत्मा का प्रत्यक्ष-ज्ञान हो जायगा।

शंका :- भगवन् ! कृपा करके इस लयचिन्तन का

प्रकार (तरीका) स्पष्ट करके समझाइये।

उत्तर :- हे शिष्य ! कार्य को कारणरूप समझ कर जो चिन्तन किया जाता है उसे लयचिन्तन अथवा प्रतिलोमपरिणाम भी कहते हैं। यह एक प्रकार का ध्यान है। जिसे अन्तःकरण शुद्ध न होने के कारण अथवा बुद्धि की मंदता, विषयों में आसक्ति, कुतर्क, विपर्ययदुराग्रह अर्थात् "मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ" इस प्रकार शरीर आदि अनात्म पदार्थों को आत्मा समझने का दुराग्रह, नष्ट हुए धन पुत्रादि प्रिय वस्तुओं को बार बार याद करना, ब्रह्मलोक आदि लोकों की इच्छा अथवा जन्मान्तर के हेतुभूत शेषप्रारब्ध, इत्यादि प्रतिबन्धकों (ज्ञान में रुकावट डालने वालों) के कारण, वेदान्त श्रवण से आत्मा का प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होता, उसे लयचिन्तन के अभ्यास से अन्तःकरण शुद्ध होने पर आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद मोक्ष प्राप्त हो जायगा। यह लयचिन्तन का अभ्यास इसप्रकार करना चाहिये।

अभ्यास करते समय, कार्य कारण से भिन्न नहीं होता किन्तु कारण स्वरूप ही होता है यह बात ध्यान में रखनी चाहिये। यहाँ कारण शब्द से उपादान-कारण लिया गया है; जैसे घड़े का उपादान-कारण मिट्टी है, तो घड़ा मिट्टी से भिन्न नहीं अर्थात् मिट्टी स्वरूप ही है। इसी प्रकार यह सारा स्थूल ब्रह्मांड पंचीकृत भूतों का (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी इन पंचीकृत भूतों का कार्य होने से पंचीकृत

भूतों से भिन्न नहीं अपितु पंचीकृतभूतस्वरूप ही हैं। और पंचीकृत भूत तथा अन्तःकरण आदि सूक्ष्म सृष्टि अपंचीकृत भूतों का कार्य है। जैसे:- अन्तःकरण अपंचीकृत भूतों के सत्त्वगुण-अंश का कार्य है, प्राण रजोगुणअंश का कार्य है, ज्ञान-इन्द्रियाँ और कर्म-इन्द्रियाँ भी उन्हीं अपंचीकृत भूतों के ही कार्य हैं; इस लिये पंचीकृत भूत तथा अन्तःकरण आदि सूक्ष्म-सृष्टि, अपंचीकृत भूतों से भिन्न नहीं, अपितु उनका स्वरूप ही है। उन अपंचीकृत भूतों में भी, पृथ्वी जल का कार्य है, जल तेज का कार्य है, तेज वायु का कार्य है, वायु आकाश का कार्य है, आकाश तमोगुण प्रधान प्रकृति का कार्य है, और वह प्रकृति माया से भिन्न नहीं; क्योंकि एक ही वस्तु के (१) प्रधान (२) प्रकृति (३) माया (४) अविद्या (५) अज्ञान (६) शक्ति ये छः नाम हैं। इसलिये वह प्रकृति माया स्वरूप ही है। इस से सिद्ध हुआ कि पांचों अपंचीकृत (सूक्ष्म) भूत माया के कार्य होने के कारण माया से भिन्न नहीं किन्तु माया स्वरूप ही हैं। और वह माया ब्रह्म चेतन की शक्ति है। जैसे पुरुष की सामर्थ्य रूप शक्ति पुरुष से भिन्न नहीं होती, वैसे माया रूप शक्ति भी चेतन से भिन्न नहीं है। अथवा यह माया शुद्ध-चेतन में कल्पित ही है और कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती जैसे रस्सी में कल्पित सर्प वास्तव में रस्सी से कोई भिन्न नहीं होता किन्तु रस्सी का स्वरूप ही होता है, उसी प्रकार शुद्ध चेतन ब्रह्म में कल्पित वह

माया भी वास्तव में ब्रह्म से कोई भिन्न नहीं किन्तु ब्रह्मस्वरूप ही है। इस से यह सिद्ध हुआ कि स्थूल ब्रह्मांड से लेकर माया तक यह सारा अनात्म संसार ब्रह्म से भिन्न नहीं किन्तु ब्रह्मस्वरूप ही है। हे शिष्य! इस प्रकार सभी अनात्म पदार्थों का ब्रह्म में लयचिन्तन करके फिर "यह अद्वय ब्रह्म मैं हूँ" यह चिन्तन करना चाहिये।

शंका :—भगवन्! आपकी कृपा से मुझे लयचिन्तन की विधि तो अच्छी तरह से समझ में आगई, किन्तु आपने पहिले यह कहा था कि जिसे आत्मज्ञान की बातें समझ में न आवें उसे यह लयचिन्तन रूप ध्यान करना चाहिये; तो भगवन्! ज्ञान और ध्यान में कुछ भेद है क्या?

उत्तर :—हाँ शिष्य! ज्ञान और ध्यान में भेद है। ज्ञान तो केवल प्रमाण (आँख आदि इन्द्रिय) और प्रमेय (जानने योग्य वस्तु) के आधीन है और ध्यान विधि (वेद आदि की आज्ञा), पुरुष की इच्छा, विश्वास और हठ के आधीन है।

जैसे :— घड़े के प्रत्यक्ष ज्ञान में आंख का घड़े से संबन्ध होने पर पुरुष की इच्छा, विश्वास, हठ अथवा किसी की आज्ञा के बिना भी घड़े का प्रत्यक्ष-ज्ञान हो ही जाता है। जैसे बिना इच्छा आदि के भी भाद्रपद-शुद्ध चतुर्थी (चौथ) के चन्द्रमा रूप प्रमेय (ज्ञेय) से आँख रूप प्रमाण का सम्बन्ध होते ही चन्द्रमा का प्रत्यक्ष-ज्ञान हो ही जाता है। इसलिये ज्ञान प्रमाण और प्रमेय के ही आधीन है न कि विधि इच्छा आदि के।

और ध्यान में मनुष्य प्रवृत्त तभी होता है जब उसे वेद शास्त्रादि का कोई प्रेरक वचन प्रेरणा करता है कि इस ध्यान करने से यह फल मिलेगा इसलिये इस फल की इच्छा वाला यह ध्यान करे। इस प्रकार की प्रेरणा के बाद भी यदि उपासक की इच्छा नहीं होगी तो भी ध्यान नहीं होगा और प्रेरणा व इच्छा रहते हुए भी यदि विश्वास न होगा तो भी ध्यान नहीं बन सकता और प्रेरणा, इच्छा तथा विश्वास होते हुए भी यदि मन चञ्चल है बार बार भाग जाता है तो भी ध्यान नहीं हो सकता; इसलिये हठ से मन को रोकने की भी आवश्यकता है। इस प्रकार ध्यान विधि (प्रेरणा), इच्छा, विश्वास और हठ के आधीन है।

यही ज्ञान और ध्यान में भेद है। श्री विद्यारण्य स्वामी ने भी पंचदशी के ध्यानदीप प्रकरण के (७४) श्लोक में ज्ञान और ध्यान में क्या भेद है इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि, "वस्तुतन्त्रो भवेद्बोधः कर्तृतन्त्र-मुपासनम्" अर्थात् ज्ञान तो वस्तु के आधीन है, और ध्यान कर्ता (उपासक) के आधीन है। इस प्रकार हे शिष्य! ध्यान और ज्ञान में भेद माना जाता है।

शंका :—भगवन्! यह जो आपने लयचिन्तन रूप ध्यान बतलाया यह एक ही ध्यान है कि और भी ध्यान के प्रकार हैं?

उत्तर :—हे शिष्य! ध्यान (उपासना) प्रधानतया चार प्रकार का होता है। (१) प्रतीक-ध्यान (२) संपद्-ध्यान (३) ध्येय-अनुसार-ध्यान (४) अहंग्रह-ध्यान।

(१) प्रतीक-ध्यान :- अन्यवस्तु के अन्यरूप से ध्यान करने को प्रतीकध्यान कहते हैं। जैसे शालिग्राम का (एक प्रकार के गोल पत्थर का) विष्णुरूप से तथा नर्मदेश्वर का (शिवलिङ्ग नामक एक गोल पत्थर का) शिवरूप से ध्यान होता है।

यह ध्यान भी मुख्यतया आठ प्रकार का होता है (१) अग्नि (२) जल (३) सूर्य (४) मिट्टी की मूर्ति (५) पत्थर की मूर्ति (६) काष्ठ की मूर्ति (७) कागज़ का चित्र और (८) भीत पर रंगों की बनी हुई मूर्ति, इन आठ प्रकारों में से किसी न किसी में अपने ध्येय रूप की भावना करके ध्यान किया जाता है। इन आठ प्रकारों में से फिर और कई प्रकार निकलते हैं जैसे तुलसी, पीपल, तलवार त्रिशूल, बाण पंचाग्नि इत्यादि [छांदोग्य उपनिषद् में पंचाग्नि विद्या प्रकरण में स्वर्गलोक, मेघ, भूमि, पुरुष और स्त्री इन पांच पदार्थों की अग्निरूप से उपासना बताई है और श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न तथा वीर्य इन पाँच पदार्थों की पंचअग्नि की आहुति रूप से उपासना बतलाई है। वास्तव में स्वर्ग आदिक अग्नि नहीं हैं और श्रद्धा सोम आदिक आहुति नहीं हैं, तो भी वेद की आज्ञा से स्वर्गलोक आदिकों की अग्निरूप से और श्रद्धा आदिकों की आहुतिरूप से उपासना की जाती है।] ये सब प्रतीक उपासना (प्रतीक ध्यान) के अन्तर्गत हैं। इन में से जिसका जिसमें

मन लगे वह उसी में ईश्वर-भावना रख कर ध्यान करे। इस प्रतीकध्यान का फल सालोक्य मोक्ष है।

(२) संपद् ध्यान :- एक अंग में संपूर्ण स्वरूप की भावना करके ध्यान करने को संपद्-ध्यान कहते हैं। जैसे किसी देवता के अनेक गुणों में से किसी एक गुण में सब गुणों की भावना करके ध्यान करना, जैसे विराट् के किसी एक अंग में सारे विराट स्वरूप की भावना करके ध्यान किया जाता है। इस संपद्-ध्यान का फल सामीप्य मोक्ष है।

(३) ध्येय-अनुसार-ध्यान :- जैसा ध्येय हो (ध्यान करने योग्य इष्टदेव हो) उसके उसी रूप से ध्यान करने को ध्येयानुसार ध्यान कहते हैं। जैसे:-शास्त्र ने जैसा विष्णु का स्वरूप, शंखचक्रादिक सहित चतुर्भुज मूर्ति रूप से वर्णन किया है, उसी रूप से विष्णु का ध्यान करना विष्णु का ध्येयानुसार ध्यान है। इस ध्येयानुसार ध्यान का फल सारूप्य मोक्ष है।

(४) अहंग्रह-ध्यान :—जिस ध्यान में अहं (मैं) का ग्रहण हो जैसे "मैं शिव हूँ" तो उस ध्यान को अहंग्रह-ध्यान कहते हैं। इस ध्यान को ध्येयानुसार-ध्यान का एक भेद भी मानते हैं। इन में अन्तर केवल इतना ही है कि ध्येयानुसार-ध्यान में तो जैसा ध्येय होता है उसी स्वरूप का भेद बुद्धि से ध्यान किया जाता है और अहंग्रह-ध्यान में ध्येय-स्वरूप का अपने से अभेद (एकता) करके ध्यान किया जाता है। जैसे :-विष्णु

के स्वरूप का ध्यान करके फिर "सो विष्णु मैं हूँ" ऐसा ध्यान करना। जैसे प्रह्लाद ने किया। यदि ब्रह्म का अहंग्रह-ध्यान करना हो तो "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा ध्यान करना चाहिये। इस अहंग्रह ध्यान का फल सायुज्यमोक्ष है। इसप्रकार हे शिष्य! ध्यान चार प्रकार के ही होते हैं।

शंका:-भगवन्! ध्यान के प्रकार तो मुझे समझ में आ गए किन्तु इन के फल जो सालोक्यसारूप्य आदि मोक्ष बतलाए उन को कृपा करके समझाइये?

उत्तर:-हे शिष्य! मोक्ष कुल छः प्रकार के होते हैं। (१) स्वर्ग्यमोक्ष (२) सालोक्यमोक्ष (३) सामीप्य-मोक्ष (४) सारूप्यमोक्ष (५) सायुज्यमोक्ष (६) कैवल्य-मोक्ष।

(१) स्वर्ग्यमोक्ष:-जिस प्रकार राजा के देश में जहाँ राज-प्रबन्ध अच्छा रहता है वहाँ लोग सुखी रहते हैं; उसी प्रकार ईश्वर रूपी राजा के देश में जहाँ अच्छे अच्छे भोग प्राप्त होते हैं जैसे स्वर्ग में; तो इस भूलोक से मोक्ष (छुटकारा) पाकर वहाँ स्वर्ग में जाकर जब तक पुण्य नष्ट न हों तब तक स्वर्ग के भोग भोगना स्वर्ग्य-मोक्ष कहलाता है। यह मोक्ष स्वर्ग की कामना रखकर स्वर्गेष्टि यज्ञ आदि कर्म करने से प्राप्त होता है।

(२) सालोक्यमोक्ष:-जैसे राजा जिस नगर में रहते हैं, उस नगर में रहने वाले लोग कभी कभी राजा के दर्शन भी कर लेते हैं और वहाँ के भोग भी भोगते

हैं। उसी प्रकार जिस देवता की उपासना की हो उसी देवता के लोक की प्राप्ति होना और वहाँ के भोगों का भोगना सालोक्यमोक्ष कहलाता है। यह मोक्ष प्रतीक-ध्यान से प्राप्त होता है।

(३) सामीप्यमोक्ष :–जैसे राजा के नौकर राजा के समीप रहते हैं उसी प्रकार विष्णुलोक, शिवलोक इत्यादि लोकों में जाकर शिव विष्णु आदिकों के समीप निवास करने को सामीप्यमोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष संपद्ध्यान से प्राप्त होता है।

(४) सारूप्यमोक्ष :–राजा के छोटे भाई की तरह, विष्णुलोक आदिकों में विष्णु आदिकों के समान चतुर्भुज आदि रूप को प्राप्त करके, वहाँ के भोग भोगने को सारूप्यमोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष ध्येयानुसार ध्यान से प्राप्त होता है।

(५) सायुज्यमोक्ष :–राजा के बड़े पुत्र (युवराज) की तरह विष्णुलोक आदिकों में जाकर विष्णु आदिकों के समान विभूति को प्राप्त करना सायुज्यमोक्ष कहलाता है। यह मोक्ष अहंग्रह ध्यान से प्राप्त होता है।

किन्तु हे शिष्य ! ब्रह्मलोक को प्राप्त करके, वहाँ जगत् की उत्पत्ति पालन व संहार को छोड़कर और सारी कार्यब्रह्म (समष्टि सूक्ष्म सृष्टि के अभिमानी चेतन हिरण्यगर्भ) के समान विभूति को अर्थात् संकल्प-मात्र से सिद्ध होने वाले दिव्य पदार्थों को भोगना रूप जो सार्ष्टिमोक्ष है जिसे सायुज्यमोक्ष भी कहते हैं वह तो

केवल "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार पर (निर्गुण) अथवा अपर (सगुण) ब्रह्म का ॐकार द्वारा अहंग्रह ध्यान करने से ही प्राप्त होता है। ॐकार का अहंग्रह-ध्यान परब्रह्म और अपरब्रह्म रूप से दो प्रकार का होता है इस बात को बताते हुए श्रुति कहती है कि "एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्मा द्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति।"

अर्थात्—पिप्लाद मुनि कहते हैं, "हे सत्यकाम! निश्चितरूप से यह ॐकार पर (निर्गुण) और अपर (सगुण) ब्रह्मरूप है [अर्थात् इस ॐकार का ध्यान पर-ब्रह्म और अपर-ब्रह्म रूप से दो प्रकार का होता है] अतः विद्वान् इसी मार्ग से [अर्थात् इस ॐकार रूपी साधन के द्वारा ही] एकतर को (पर-ब्रह्म और अपरब्रह्म में से एक को) प्राप्त होता है। उस में भी जो ब्रह्मलोक के भोगों की (सायुज्यमोक्ष की) इच्छा रखने वाले, ॐकार द्वारा सगुणब्रह्म का अहंग्रह ध्यान करते हैं, उन्हें ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है किन्तु पुण्य क्षीण होने के बाद फिर जन्ममरण के चक्कर में आना पड़ता है। भगवान् ने भी श्रीमद्भगवद्गीता के (८) अध्याय के (१६) श्लोक में कहा है, "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन" अर्थात् हे अर्जुन! ब्रह्मलोक तक जितने भी लोक हैं, उनमें जाकर पुण्य क्षीण होने के बाद फिर संसार में जन्म लेना पड़ता है।

और जो ॐकार द्वारा निर्गुण ब्रह्म का अहंग्रह ध्यान करते हैं उन्हें यदि इस लोक के भोगों की इच्छा

रह गई तो इस लोक में अत्यन्तविभूति वाले पवित्र सत्संगी कुल में जन्म लेकर, पूर्व इच्छा अनुसार सारे भोग प्राप्त करके, पहिले जन्म के अहंग्रह–ध्यान के संस्कारों से फिर अहंग्रह–ध्यान में अथवा आत्म-विचार में प्रवृत्त होकर आत्मज्ञान प्राप्त करके कैवल्यमोक्ष को प्राप्त होते हैं।

यदि ब्रह्मलोक के भोगों की कामना रह गई हो तो वह निर्गुणब्रह्म का अभेद उपासक उत्तरायण मार्ग (देव मार्ग) से ब्रह्मलोक (सायुज्यमोक्ष) को प्राप्त करके, हिरण्यगर्भ के समान बहुत समय तक संकल्पसिद्ध दिव्यपदार्थों को भोग कर, प्रलय काल में जब हिरण्यगर्भ के लोक का नाश होता है, तब ज्ञान प्राप्त करके विदेहमोक्ष (कैवल्यमोक्ष) को प्राप्त हो जाता है। इसी बात को भगवान् ने गीता में (८) अध्याय के (१३) श्लोक में कहा है कि :—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

अर्थात् जो पुरुष, 'ॐ' इस एकाक्षर प्रणव का उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरा (शुद्ध निर्गुण ब्रह्म का) अभेद रूप से ध्यान करता हुआ शरीर को छोड़ता है, वह पुरुष क्रम से (देवमार्ग द्वारा ब्रह्मलोक जाकर, वहाँ के भोग भोगने के बाद ज्ञान प्राप्त करके) परम गति को अर्थात् कैवल्यमोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

और यदि उस निर्गुण ब्रह्म के अहंग्रह–ध्यान

करने वाले को कोई इच्छा न होगी तो उसे इस लोक में ही ज्ञान प्राप्त होकर कैवल्यमोक्ष की प्राप्ति हो जायगी।

(६) **कैवल्यमोक्ष**:-जिस स्थिति को प्राप्त करने के बाद फिर जन्म मरण के चक्कर में आना नहीं पड़ता, उस ब्राह्मी स्थिति को कैवल्यमोक्ष कहते हैं। इस कैवल्यमोक्ष को प्राप्त करने के लिये किसी लोक में जाना नहीं पड़ता किन्तु यहीं प्राण लीन हो जाते हैं अर्थात् जैसे स्वप्न टूटने से स्वप्न के शरीर आदि सभी पदार्थों का लय हो जाता है उसी प्रकार विदेह मोक्ष होने पर सूक्ष्म शरीर आदि सारे संसार का यहीं लय हो जाता है। और घड़े के टूटने से जैसे घटाकाश कोई उड़कर महाकाश में नहीं मिलता किन्तु वह पहिले से ही मिला हुआ है; केवल घड़े की उपाधि से होने वाली भेद प्रतीति ही नष्ट होती है; ठीक इसी प्रकार विदेहमोक्ष होने पर, साक्षी-चेतन कोई दौड़कर ब्रह्म में नहीं मिलता किन्तु वह पहिले से ही मिला हुआ है केवल अविद्या (अविद्या व अविद्या के कार्य सूक्ष्म-शरीरादि) उपाधि से होने वाली भेद प्रतीति ही नष्ट होती है। और इस प्रकार भेद प्रतीति के सदा के लिये नष्ट हो जाने को (जन्म-मरण के अभाव को) ही कैवल्यमोक्ष कहते हैं।

शंका:-भगवन्! यह कैवल्य-मोक्ष कैसे प्राप्त होता है?

उत्तर:-हे शिष्य! कैवल्य-मोक्ष तो केवल आत्मज्ञान से ही प्राप्त होता है। श्रुति (वेद) कहती है कि "ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः" अर्थात् बिना ज्ञान के मुक्ति

नहीं हो सकती । "तमेवं विद्वानमृत इह भवति" (नृसिंहपूर्व० १ । ६) अर्थात् उसको (ब्रह्म को) जानने वाला इस लोक में अमृत (मुक्त) हो जाता है। "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वेता० ६ । १५) अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के लिये ज्ञान के सिवाय और कोई दूसरा मार्ग नहीं है । "तरति शोकमात्मवित्" (छा० उ० ७ । १ । ३) अर्थात् आत्मज्ञानी शोक (जन्ममरणादिदुःख) के पार हो जाता है । "निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।" (क० उ० १ । ३ । १५) उसका (ब्रह्म से अभिन्न आत्मा का) अनुभव कर लेने पर मृत्यु के मुख से छूट जाता है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि, फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ (गीता २।५१)

अर्थात् समत्वबुद्धि (ज्ञान) से युक्त आत्मज्ञानी पुरुष कर्मजनित फल (जन्ममरणादि संसार) को त्यागकर, जन्म-बन्धन से मुक्त होकर समस्त उपद्रवों से रहित मोक्ष नामक परमपद को प्राप्त करते हैं ।

"सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।"
"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।"
(गीता ४ । ३६-३७)

अर्थात् "हे अर्जुन ! तू ज्ञानरूप नौका के द्वारा ही समस्त पाप रूप समुद्र से अच्छी तरह पार उतर जायगा अर्थात् मुक्त हो जायगा ।"

"उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म (निर्बीज) कर देता है अर्थात् कर्मों के भस्म होने से जन्ममरण का चक्कर टूट जाता है।"

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं यतः ॥

अर्थात् इन सभी साधनों में आत्मज्ञान ही उत्कृष्ट साधन माना गया है तथा सम्पूर्ण विद्याओं में भी वही सबसे बढ़कर है; क्योंकि इससे अमृतत्व (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

हे शिष्य ! इस प्रकार श्रुति (वेद), गीतादि स्मृति और इतिहासादिकों के अनेक प्रमाण हैं जिन से यह सिद्ध होता है कि केवल ज्ञान से ही कैवल्यमोक्ष की प्राप्ति हो सकती है न कि किसी और उपाय से।

किन्तु जिसको अन्तःकरण अशुद्ध होने के कारण आत्मज्ञान की बातें समझ में नहीं आतीं, उन्हें ॐ द्वारा परब्रह्म (निर्गुण ब्रह्म) का अहंग्रह ध्यान करना चाहिये। जिससे उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञानप्राप्ति के बाद, मोक्ष हो जायगा।

अथर्ववेद के श्रीनृसिंहोत्तर तापनी उपनिषद् में भी ॐकार द्वारा निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करने से ज्ञान होकर मोक्ष मिलता है यह बतलाते हुए कहा कि:—

"सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति अशरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणो ह्यमनाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराट् भवति य एवं वेद चिन्मयो ह्ययमोङ्कारश्चिन्मयमिदं सर्वं तस्मात्परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद्ब्रह्माभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् ।"

अर्थात् "वह कामना-रहित हो जाता है। उसके मनसे सब लौकिक-कामनाएँ निकल जाती हैं। उसे सम्पूर्ण कामनाओं का फल प्राप्त हो जाता है (उसके मन में किसी भी वस्तु को पाने की इच्छा शेष नहीं रहती)। वह केवल आत्मा की ही कामना रखता है; अनात्मा की नहीं। मृत्यु के पश्चात् उसके प्राण (साधारण प्राणियों के समान) उत्क्रमण (कर्मफल-भोगार्थ अन्य शरीर धारण करने के लिये गमन) नहीं करते, किन्तु यहीं (आत्मा-अभिन्न-ब्रह्म में ही) लीन हो जाते हैं। वह पहिले से ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही पुनः ब्रह्म को ही प्राप्त होता है (केवल ब्रह्म से भिन्न होने का भ्रममात्र ही दूर होता है ; अर्थात् अपने असली स्वरूप ब्रह्म के अज्ञान से उत्पन्न हुआ अब्रह्मत्व (जीवपना) नष्ट हो जाता है)।

वह शरीर-रहित, इन्द्रिय-रहित, प्राण-रहित, तम (मोह एवं अज्ञान) से रहित तथा शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप स्वराट् (स्वयम्प्रकाश ब्रह्म) हो जाता है जो कि यह जान जाता है कि :—

निश्चय ही यह ओंकार चिन्मय है [चित् का अर्थ है चेतन—शुद्धचेतनब्रह्म; ॐकार चेतन का बोधक (वाचक) है, इसलिये चिन्मय है]। यह सब जो कुछ प्रतीत होता है, (सारा संसार), चिन्यम ही है। इसलिये ब्रह्म के लक्षणभूत चिन्मयत्व से युक्त होने के कारण, यह ॐकार परमेश्वर (ब्रह्मस्वरूप) ही है। इसप्रकार संसार और ॐकार दोनों की चिन्मयता एक होने के

कारण, दोनों एकमात्र ब्रह्म ही हैं। यह अमृतस्वरूप है, यह ब्रह्म सर्वथा भय-रहित है। जिसे ॐकार द्वारा इस प्रकार ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है, वह अवश्य ही भय-रहित ब्रह्म हो जाता है। यह इस प्रसंग का गूढ़ रहस्य है।"

शंका :—भगवन्! तो कृपा करके बतलाइये कि ॐ का अहंग्रह-ध्यान कैसे किया जाय?

उत्तर :—हे शिष्य! ॐ का अहंग्रह-ध्यान सगुण ब्रह्म व निर्गुण ब्रह्म रूप से दो प्रकार का होता है, और ब्रह्मलोक की कामना वाले को सगुण ॐ का तथा कैवल्यमोक्ष अथवा ब्रह्मलोक की प्राप्ति के बाद कैवल्य-मोक्ष की कामना वाले को निर्गुण ॐ का ध्यान करना चाहिये; यह तो मैंने पहिले विस्तार से तुम्हें बतला दिया है। अब उन दोनों ध्यानों में से तुम्हें सगुण ॐ के ध्यान का प्रकार (तरीका) बतलाकर फिर निर्गुण ॐ के ध्यान का प्रकार बतलाता हूँ।

सगुण ॐ का ध्यान :—सगुण-ध्यान दो प्रकार का होता है।

(१) साकारसगुणध्यान (२) निराकारसगुणध्यान।

(१) साकार-सगुण-ध्यान :—यह ध्यान नाना प्रकार का होता है; क्योंकि ईश्वर के साकार-सगुण-अवतार भी रामकृष्ण आदि रूप से नाना हुए हैं। उन में से जिस में भी मन लगे उसे ॐ रूप समझ करके उस से अभेद-भावना रखकर ध्यान करने को, साकार-सगुण ॐ का अहंग्रह-ध्यान कहते हैं।

(२) निराकार-सगुण-ध्यान :-जो माया-विशिष्ट चेतन ईश्वर है, वह रंग रूप आदि आकार से रहित होने के कारण निराकार तो है किन्तु त्रिगुणमयी माया से विशिष्ट (मिला हुआ) होने के कारण सगुण भी है। उस निराकार सगुण ईश्वर का ॐकार से अभेद करके अहंग्रह-ध्यान (सो मैं हूँ इसप्रकार के ध्यान) करने को निराकार सगुण ॐ का अहंग्रह-ध्यान कहते हैं।

निर्गुण ॐ का ध्यान :-संसार में जो कुछ कार्य-कारण रूप वस्तु दीखती हैं वे सब ओंकार-स्वरूप हैं, इसलिये सारा संसार ॐ रूप माना जाता है। क्योंकि जितने भी संसार में पदार्थ हैं उन सब में नाम और रूप ये दो भाग हैं। उस में रूप-भाग, अपने-अपने नाम-भाग से अलग नहीं है किन्तु नाम-स्वरूप ही है; क्योंकि पदार्थों के जो रूप अर्थात् आकार हैं, उनका नाम द्वारा निरूपण करके ही ग्रहण अथवा त्याग होता है। विना नाम के जाने केवल आकार से कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता। और जैसे घड़े का नाश होने पर भी मिट्टी के शेप रह जाने के कारण, घड़ा मिट्टी से भिन्न नहीं अपितु मिट्टी-स्वरूप ही माना जाता है, उसी प्रकार आकार के नष्ट होने पर भी नाम शेप रह जाता है इसलिये आकार नाम से भिन्न नहीं किन्तु नाम-स्वरूप ही है।

किंवा जैसे घड़ा, सुराई, ढक्कन इत्यादि जितने भी मिट्टी के बने हुए पदार्थ हैं उन सब में मिट्टी व्यापक होने के कारण वे सब मिट्टी से भिन्न नहीं, किन्तु मिट्टी-

स्वरूप ही हैं, ठीक इसी प्रकार जितने भी संसार में आकार हैं उन सब में नाम व्यापक है इसलिये वे सब अपने अपने नाम-भाग से भिन्न नहीं किन्तु नाम-स्वरूप ही हैं। और एक नाम वाले सभी पदार्थों के आकारों में वह एक नाम व्यापक रहता है जैसे घड़े नाम के जितने भी पदार्थ हैं उन सब के आकारों में 'घड़ा' यह दो अक्षर का नाम व्यापक है। इस से यह सिद्ध होता है कि संसार में जितने भी पदार्थ हैं उन सब के आकार (रूप-भाग), अपने अपने नाम-भाग से भिन्न नहीं हैं किन्तु नाम-स्वरूप ही हैं।

जैसे सभी पदार्थों के आकार नाम से भिन्न नहीं अपितु नामस्वरूप ही हैं, वैसे सभी नाम ॐकार से भिन्न नहीं अपितु ओंकार-स्वरूप ही हैं; क्योंकि ओंकार सभी नामों (शब्दों) का वाचक है। श्री नृसिंहोत्तर तापनी उपनिषद् में भी आया है कि "नैवमिति पृष्ट ओमित्येवाह वाग्वा ओङ्कारो वागेव" अर्थात् "जब कोई किसी मनुष्य से पूछता है कि 'क्या यह बात ऐसी ही है? क्या यह बात ऐसी नहीं है?' तो उसके उत्तर में वह ओम् (हाँ) का ही उच्चारण करता है। (अतः सब का वाचक होने के कारण ओङ्कार सर्वत्र व्यापक है।) निश्चय ही वाणीमात्र ॐकार है।" तथा सभी नाम ओंकार से उत्पन्न हुए हैं; यह भी वेद में प्रसिद्ध ही है। और यह नियम है कि 'सभी कार्य कारण-स्वरूप होते हैं'; इससे यह सिद्ध होता है कि ओंकार के कार्य, जितने भी वाचक शब्द (नाम) हैं, वे सब ओंकारस्वरूप हैं।

इसप्रकार हे शिष्य ! संसार के सभी पदार्थों के आकार नामस्वरूप हैं और सभी नाम ओंकार-स्वरूप हैं। इससे सिद्ध हुआ कि सारा संसार ओंकार-स्वरूप है। और वह ओंकार ब्रह्म-स्वरूप है; क्योंकि जैसे "ॐकार एवेदं सर्वम्" यह श्रुति सारे संसार को ॐकार-स्वरूप बतलाती है, उसी प्रकार "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है। "सर्वं ह्येतद् ब्रह्म" अर्थात् यह सब ब्रह्म ही है। "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन" अर्थात् एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, यह जो नानापन प्रतीत हो रहा है वह वास्तव में कुछ नहीं। इत्यादि श्रुतियाँ, सारे संसार को ब्रह्म-स्वरूप ही बतलाती हैं। और ॐकार ब्रह्म का वाचक है तथा ब्रह्म वाच्य है। वाच्य और वाचक का आपस में अभेद होता है; इसलिये भी ॐकार ब्रह्म-स्वरूप है। और जब सारा संसार ब्रह्म में कल्पित है तो ॐकार भी संसार के अन्तर्गत होने के कारण ब्रह्म में कल्पित ही है। यह नियम है कि 'कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती।' इस नियम से भी ॐकार ब्रह्म-स्वरूप ही है। और श्रुति भी कहती है कि "ओमित्येतदक्षरं परं ब्रह्म" अर्थात् "ओम्' यह अक्षर परब्रह्म-स्वरूप है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी (८) अध्याय के (१३) श्लोक में आया है कि "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" अर्थात् ओम् यह एक अक्षर ब्रह्म-स्वरूप है। इत्यादि प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि ॐकार ब्रह्म-स्वरूप है। इसलिये हे शिष्य ! ॐकार को ब्रह्म-स्वरूप समझ कर चिन्तन करना चाहिये।

और जैसे ओंकार ब्रह्म-स्वरूप है उसी प्रकार आत्मा भी ब्रह्म-स्वरूप ही है; क्योंकि जैसे ब्रह्म सत् चित् आनन्द स्वरूप है, वैसे आत्मा भी सच्चिदानन्द स्वरूप ही है। श्रुति भी कहती है कि "सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवात्र ह्येव न विचिकित्स्यम्" अर्थात् यह सत्य है कि आत्मा ब्रह्म ही है और ब्रह्म आत्मा ही है; इस विषय में कोई संशय नहीं करना चाहिए। और "अयमात्मा ब्रह्म" अर्थात् यह आत्मा (मेरा असली स्वरूप) ब्रह्म है। इसलिए हे शिष्य! ओंकार का अहंग्रह ध्यान करते समय ओंकार, ब्रह्म और आत्मा इन तीनों का आपस में अभेद-चिन्तन करना चाहिए।

शंकाः—भगवन्! तो कृपा करके बतलाइये कि ॐकार का ध्यान करते समय ॐ, ब्रह्म तथा आत्मा का अभेद-चिन्तन कैसे किया जाय?

उत्तरः-हे शिष्य! ॐकार का वाच्य (अर्थ) जो ब्रह्म है वही आत्मा का असली स्वरूप है अर्थात् वह आत्मा से (अपने असली स्वरूप साक्षी से) भिन्न नहीं है। इसलिये ॐकार का ध्यान करते समय "वह ॐकार रूप ब्रह्म मैं हूँ" इस प्रकार ॐकार, ब्रह्म और आत्मा के अभेद का चिन्तन करना चाहिये।

हे शिष्य! अब इन तीनों के अभेद को, अधिक स्पष्ट करने के लिये, नीचे एक कोष्ठक-चित्र (नकशा) बताता हूँ, जिसे समझने से तुम्हें इन का अभेद अच्छी तरह से समझ में आजायगा।

ओंकार, ब्रह्म और आत्मा के चार पादों का कोष्ठक-चित्र (नक्शा)

क्रमाङ्क	(१)	(२)	(३)	(४)
ॐकार के मात्रा-रूप चार पाद	अकार	उकार	मकार	अमात्र
आत्मा के चार पाद	विश्व	तैजस	प्राज्ञ	जीव-साक्षी वा कूटस्थ
ब्रह्म के चार पाद	विराट्	हिरण्यगर्भ	ईश्वर	ईश्वर-साक्षी वा शुद्ध ब्रह्म
उपाधि	स्थूल	सूक्ष्म	कारण	स्थूलादि तीनों का अभाव
अवस्था	जाग्रत्	स्वप्न	सुषुप्ति	तुरीया

हे शिष्य ! जैसे शास्त्रों में ब्रह्म के चार पाद (¼ अंश) कहे गए हैं वैसे आत्मा तथा ॐकार के भी चार पाद हैं। जैसे :—

ब्रह्म के चार पाद:-(१) विराट् (२) हिरण्यगर्भ (३) ईश्वर और (४) तत्पद का लक्ष्य ईश्वर-साक्षी।

आत्मा के चार पाद:-(१) विश्व (२) तैजस (३) प्राज्ञ और (४) त्वंपद का लक्ष्य जीव-साक्षी।

ॐकार के चार पाद:-(१) अकार (२) उकार (३) मकार और (४) अमात्र।

(१) विराट् :- समष्टि-स्थूल-प्रपंच-सहित-चेतन अर्थात् सम्पूर्ण-स्थूल-संसार-सहित-चेतन को विराट् कहते हैं। जिसका वर्णन गीता के (११) अध्याय में भी आया है।

(१) विश्व :-व्यष्टि-स्थूल-अभिमानी अर्थात् भिन्न भिन्न स्थूल शरीर में अभिमान करने वाले को विश्व कहते हैं।

विराट् और विश्व इन दोनों की उपाधि एक स्थूल ही है; अतः विश्व, विराट् से भिन्न नहीं अपितु विराट्रूप ही है अर्थात् इन दोनों का परस्पर अभेद है।

इस विराट्रूप विश्व के सात अंग हैं:—

(१) स्वर्गलोक मूर्धा (मस्तक) है। (२) सूर्य नेत्र है। (३) वायु प्राण है। (४) आकाश कबन्ध (धड़) है। (५) समुद्रादिरूप जल मूत्रस्थान है। (६) पृथ्वी

पाद (पांव) है। (७) जिस अग्नि में होम किया जाता है वह अग्नि मुख है।

और इसी विराट्रूप विश्व के उन्नीस मुख हैं:- पांच प्राण, पांच कर्म-इन्द्रिय, पांच ज्ञान-इन्द्रिय और चार अन्तःकरण; ये उन्नीस, मुख की तरह भोग के साधन होने के कारण, मुख कहलाते हैं।

किन्तु इन उन्नीस मुखों में जो श्रोत्रादिक दश इन्द्रियां और चार अन्तःकरण हैं, इन चौदहों से अपने अपने विषय तथा देवता की सहायता के बिना कोई भोग नहीं हो सकता; इसलिए पांच प्राण और चतुर्दशत्रिपुटी (दश इन्द्रियाँ, चार अन्तःकरण ये चौदह और उनके विषय व देवता इन सब को मिला कर चतुर्दश-त्रिपुटी कहते हैं) ये सभी विराट्रूप विश्व के मुख कहलाते हैं।

शंका :- भगवन्! इस चतुर्दशत्रिपुटी को कुछ स्पष्ट रूप से समझाइये।

उत्तर :- हे शिष्य! अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव के समुदाय को त्रिपुटी कहते हैं।

अध्यात्म :- ज्ञान-इन्द्रिय, कर्म-इन्द्रिय और अन्तःकरण को अध्यात्म कहते हैं।

अधिभूत :- इन के विषयों को अधिभूत कहते हैं।

अधिदैव :- और इन के सहायक देवताओं को अधिदैव कहते हैं।

ये त्रिपुटियाँ कुल चौदह हैं। जैसे :-

(१) श्रोत्र-इन्द्रिय (कान) अध्यात्म है, इस का विषय 'शब्द' अधिभूत है और दिशा का अभिमानी देवता अधिदैव है।

(२) त्वचा-इन्द्रिय अध्यात्म है, इस का विषय 'स्पर्श' अधिभूत है और वायु का अभिमानी देवता अधिदैव है।

(३) नेत्र-इन्द्रिय अध्यात्म है, रूप अधिभूत है और सूर्य अधिदैव है।

(४) रसना-इन्द्रिय अध्यात्म है, रस अधिभूत है और वरुण अधिदैव है।

(५) घ्राण-इन्द्रिय (नाक) अध्यात्म है, गन्ध अधिभूत है और अश्विनीकुमार वा पृथिवी का अभिमानी देवता अधिदैव है।

(६) वाक्-इन्द्रिय (वाणी) अध्यात्म है, वक्तव्य (कहने योग्य) अधिभूत है और अग्नि देवता अधिदैव है।

(७) हस्त-इन्द्रिय (हाथ) अध्यात्म है, पदार्थ को ग्रहण करना अधिभूत है और इन्द्र अधिदैव है।

(८) पाद-इन्द्रिय (पाँव) अध्यात्म है, गमन (चलना) अधिभूत है और विष्णु अधिदैव है।

(९) गुदा-इन्द्रिय अध्यात्म है, मल का त्याग अधिभूत है और यम अधिदैव है।

(१०) उपस्थ-इन्द्रिय (भोग-इन्द्रिय) अध्यात्म है,

ग्राम्यधर्म के सुख की उत्पत्ति अधिभूत है और प्रजापति अधिदैव है।

(११) मन अध्यात्म है, मनन का विषय अधिभूत है और चन्द्रमा अधिदैव है।

(१२) बुद्धि अध्यात्म हैं, बोद्धव्य (जानने योग्य) अधिभूत है और बृहस्पति अधिदैव है।

(१३) अहंकार अध्यात्म है, अहंकार का विषय अधिभूत है और रुद्र अधिदैव है।

(१४) चित्त अध्यात्म है, चिन्तन का विषय अधिभूत है और क्षेत्रज्ञ जो साक्षी है वह अधिदैव है।

यह चतुर्दश-त्रिपुटी और पांच प्राण ये उन्नीस विराट्रूप विश्व के मुख हैं।

जैसे विश्व का विराट् से अभेद है, वैसे ओंकार की पहिली मात्रा जो अकार है उसका भी विराट्रूप विश्व से अभेद है; क्योंकि जैसे ब्रह्म के चार पादों में पहिला पाद विराट् है और आत्मा के चार पादों में पहिला पाद विश्व है उसी प्रकार ओंकार के मात्रारूप चार पादों में पहिला पाद अकार है। इस प्रकार विराट् विश्व और अकार इन तीनों में 'पहिलापन' रूप समान धर्म होने के कारण, इन तीनों का आपस में अभेद-चिन्तन करना चाहिये।

(२) हिरण्यगर्भ :– समष्टि-सूक्ष्म-प्रपंच-सहित-

चेतन अर्थात् सारे सूक्ष्म संसार सहित चेतन को हिरण्यगर्भ कहते हैं।

(२) तैजस :- व्यष्टि-सूक्ष्म-अभिमानी अर्थात् भिन्न भिन्न (अकेले) सूक्ष्म शरीर में अभिमान करने वाले को तैजस कहते हैं।

जो सात अंग और उन्नीस मुख पहिले विश्व के बताए, वे ही तैजस के भी समझने चाहियें। उन में भेद केवल इतना है कि :- विश्व के जो अंग और मुख हैं, वे ईश्वर-रचित हैं और तैजस के जो इन्द्रिय-देवता-विषयरूप त्रिपुटी और मूर्धादि अंग हैं वे मनोमय हैं। और विश्व के भोग्य बाह्य शब्दादिक स्थूल हैं व तैजस के भोग्य मानस होने के कारण सूक्ष्म हैं; अतः विश्व का भोग स्थूल होने के कारण, उसे स्थूल का भोक्ता कहते हैं तथा तैजस का भोग सूक्ष्म होने के कारण, उसे सूक्ष्म का भोक्ता कहते हैं। और विश्व बहिःप्रज्ञ है अन्तःप्रज्ञ है; क्योंकि विश्व की जो अन्तःकरण की वृत्ति रूप प्रज्ञा है, वह बाहर जाती है और तैजस की बाहर नहीं जाती।

हे शिष्य! जैसे पहिले विश्व और विराट् का अभेद बताया था वैसे तैजस और हिरण्यगर्भ का भी अभेद (एकता) समझना; क्योंकि जैसे तैजस की उपाधि सूक्ष्म है वैसे हिरण्यगर्भ की भी उपाधि सूक्ष्म ही है।

इस प्रकार तैजस और हिरण्यगर्भ की एकता को जानने के बाद उस हिरण्यगर्भ रूप तैजस का ओंकार

की दूसरी मात्रा उकार से अभेद-चिन्तन करना चाहिये; क्योंकि जैसे ब्रह्म के चार पादों में दूसरा पाद हिरण्यगर्भ है और आत्मा के चार पादों में दूसरा पाद तैजस है, उसी प्रकार ओंकार के मात्रारूप चार पादों में भी दूसरा पाद उकार है। इस प्रकार हिरण्यगर्भ, तैजस और उकार इन तीनों में 'दूसरापन' रूप समान धर्म होने के कारण, इन तीनों का आपस में अभेद-चिन्तन करना चाहिये।

(३) ईश्वर :- समष्टि-कारण-प्रपंच (समष्टि-अविद्या अर्थात् माया) सहित-चेतन को ईश्वर कहते हैं।

(३) प्राज्ञ :- व्यष्टि-कारण-(अविद्या)-अभिमानी अर्थात् भिन्न भिन्न कारण-शरीर में अभिमान करने वाले को प्राज्ञ कहते हैं।

जैसे विश्व और तैजस का भोग त्रिपुटी से होता है, वैसे प्राज्ञ के भोग की भी त्रिपुटी है। उस में- चेतन के प्रतिबिंब-सहित जो अविद्या की वृत्ति है वह अध्यात्म है, अज्ञान से आवृत (ढका हुआ) जो स्वरूपानन्द है वह अधिभूत है और ईश्वर अधिदैव है।

अविद्या से आवृत उस स्वरूप-आनन्द को भोगने के कारण, वेद ने इस प्राज्ञ को आनन्दभुक् कहा है। और जैसे विश्व बहिःप्रज्ञ और तैजस अन्तःप्रज्ञ है वैसे यह प्राज्ञ प्रज्ञानघन है; क्योंकि जैसे पीसे हुए अन्न के कण जल की सहायता से आपस में मिल कर, घन रूप में (एक पिंड रूप में) हो जाते हैं अथवा

वर्षा के जल के अनेक कण तलाव में एक रूप हो जाते हैं, उसी प्रकार जाग्रत् व स्वप्न के अनेक प्रज्ञान (ज्ञान) सुषुप्ति-अवस्था में एक अविद्या-रूप में (घनरूप में) होजाते हैं; उस अविद्या में स्थित जो अधिष्ठान कूटस्थ चेतन का प्रतिबिम्बरूप प्राज्ञ-जीव है, वह प्रज्ञानघन कहलाता है।

ईश्वर और प्राज्ञ इन दोनों की उपाधि एक कारण (अविद्या) ही है; अतः प्राज्ञ, ईश्वर से भिन्न नहीं अपितु ईश्वररूप ही है अर्थात् प्राज्ञ और ईश्वर दोनों का परस्पर अभेद है।

हे शिष्य ! जैसे प्राज्ञ का ईश्वर से अभेद है, उसी प्रकार ओंकार की तीसरी मात्रा जो मकार है उसका भी ईश्वररूप प्राज्ञ से अभेद है; क्योंकि जैसे ब्रह्म के चार पादों में तीसरा पाद ईश्वर है और आत्मा के चार पादों में तीसरा पाद प्राज्ञ है, उसी प्रकार ओंकार के भी मात्रारूप चार पादों में तीसरा पाद मकार है। इस प्रकार ईश्वर, प्राज्ञ और मकार में 'तीसरापन' रूप समान धर्म होने के कारण, इन तीनों का परस्पर अभेद-चिन्तन करना चाहिये।

हे शिष्य ! इस प्रकार तुमने अकार के वाच्य (वाच्य-अर्थ) विराट्-अभिन्न-विश्व, उकार के वाच्य हिरण्यगर्भ-अभिन्न-तैजस व मकार के वाच्य ईश्वर-अभिन्न-प्राज्ञ, इन तीनों का पृथक् पृथक् रूप से अभेद-चिन्तन सुना। इस चिन्तन के बाद फिर इन तीनों का

(विश्व, तैजस व प्राज्ञ का) आपस में अभेद-चिन्तन (एकता-चिन्तन) करना चाहिये।

शंका :- भगवन्! इस शरीर में आपने तीन जीव बताए; (१) जाग्रत् का विराट्रूप विश्व (२) स्वप्न का हिरण्यगर्भ रूप तैजस और (३) सुषुप्ति का ईश्वररूप प्राज्ञ। सो भगवन्! इन भिन्न भिन्न अवस्था वाले तीनों जीवों की आपस में एकता कैसे हो सकती है?

उत्तर :- हे शिष्य! वास्तव में जीव एक ही है। यह जो तुम्हें भेद प्रतीत हो रहा है, वह केवल अवस्थाओं की उपाधि से ही। यदि जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ न होतीं तो तुम्हें विश्व तैजस व प्राज्ञ, ये तीन प्रकार के जीव के भेद भी नजर न आते।

और ये जीव वास्तव में ही यदि तीन होते तो स्वप्न की सृष्टि का भोक्ता तो है तैजस-जीव और जाग्रत् में उस स्वप्न-सृष्टि का वर्णन करता है विश्व-जीव; यह कैसे बन सकता। देखे एक बताये दूसरा यह नहीं बन सकता। इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में भी आनन्द का अनुभव करता है प्राज्ञ-जीव और जाग्रत् में उस आनन्द का वर्णन करता है विश्व-जीव; क्योंकि जाग्रत् अवस्था में स्वप्न व सुषुप्ति अवस्था का वर्णन करने वाला प्राज्ञ व तैजस न मान कर केवल विश्व ही माना जाता है। इस से यह

सिद्ध हुआ कि जीव एक ही है केवल उपाधि के कारण उस के तीन नाम रखे गए हैं। वही एक जीव, जब सुषुप्ति अवस्था होती है तब स्वरूप-आनन्द-आकार अविद्या की वृत्ति रूप उपाधि होने के कारण प्राज्ञ कहलाता है और जब स्वप्न-अवस्था में कण्ठ स्थान में आता है तब तैजस कहलाता है तथा जब जाग्रत्-अवस्था में नेत्र स्थान में आता है तब विश्व कहलाता है।

उस विश्व की उपाधि, स्थूल सूक्ष्म व कारण (अज्ञान) ये तीनों हैं; इसलिए वह तीनों अवस्थाओं को जानता है। तैजस की उपाधि सूक्ष्म और कारण ये दो हैं, इसलिए वह उस समय जाग्रत् को नहीं जानता किन्तु स्वप्न व सुषुप्ति इन दो अवस्थाओं को जानता है। और प्राज्ञ की उपाधि केवल कारण (अविद्या) है, इसलिए वह उस समय जाग्रत् व स्वप्न को नहीं जानता; क्योंकि जाग्रत् व स्वप्न को जानने वाली इन्द्रियाँ व संसार सभी का उस समय अज्ञान में लय हो जाता है। इस प्रकार उपाधि के भेद से इन तीनों में भेद प्रतीत होता है; परन्तु वास्तव में इन तीनों में स्वरूप से कोई भेद नहीं है अर्थात् ये तीनों एक रूप ही हैं। इसलिए इन तीनों का (विश्व, तैजस व प्राज्ञ का) आपस में अभेद-चिन्तन करना चाहिये।

(४) तत्पद का लक्ष्य ईश्वर-साक्षी :- विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर में अनुगत शुद्ध चेतन, जो

इन तीनों का अधिष्ठान है वह ईश्वर-साक्षी वा ब्रह्म कहलाता है।

(४) त्वं पद का लक्ष्य जीव-साक्षी :- विश्व, तैजस और प्राज्ञ में अनुगत शुद्ध चेतन, जो इन तीनों का अधिष्ठान है वह जीव-साक्षी वा कूटस्थ कहलाता है।

हे शिष्य! जैसे विराट् और विश्व, हिरण्यगर्भ और तैजस ईश्वर और प्राज्ञ इन सब का वास्तव में अभेद है, वैसे विराट् हिरण्यगर्भ व ईश्वर इन तीनों में अस्ति-भाति-प्रिय रूप से अनुगत (व्यापक) ईश्वर-साक्षी अर्थात् ब्रह्म और विश्व, तैजस व प्राज्ञ इन तीनों में अस्ति-भाति-प्रिय रूप से अनुगत जीव-साक्षी अर्थात् कूटस्थ इन दोनों का भी वास्तव में अभेद है। समष्टि-स्थूल-सूक्ष्म-कारण व व्यष्टि-स्थूल-सूक्ष्म-कारण उपाधियों से ही केवल उस अधिष्ठान रूप एक चेतन के जीवसाक्षी (कूटस्थ) व ईश्वर साक्षी (ब्रह्म) ये दो नाम पड़े हैं। उस शुद्ध चेतन से वास्तव में इन तीनों उपाधियों का कोई संबन्ध नहीं है। वह नहीं बहिःप्रज्ञ है, न अन्तःप्रज्ञ है न प्रज्ञान धन है, न कर्म-इन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों का विषय है, न बुद्धि का विषय है और न किसी शब्द का ही विषय है। ऐसा जो तुरीय है वही शुद्ध ब्रह्म है।

हे शिष्य! जैसे ईश्वर-साक्षी (ब्रह्म) व जीव-साक्षी (कूटस्थ) दोनों एक हैं अर्थात् इन दोनों का आपस में

अभेद है, वैसे ॐकार का चौथा पाद जो अमात्र है [ओंकार की तीनों मात्रा अकार, उकार व मकार में अस्ति-भाति-प्रिय रूप से अनुगत (व्यापक) शुद्ध चेतन जो ॐकार का परमार्थ रूप है वह अमात्र कहलाता है; क्योंकि उस परमार्थ रूप में कोई मात्रा विभाग नहीं है।] उसका भी ईश्वर साक्षी रूप जीव-साक्षी से अभेद है; क्योंकि जैसे ब्रह्म के चार पादों में चौथा पाद ईश्वर-साक्षी है और आत्मा के चार पादों में चौथा पाद जीव-साक्षी है, उसी प्रकार ॐकार के भी चार पादों में चौथा पाद अमात्र है। इस प्रकार ईश्वर-साक्षी, जीव-साक्षी और अमात्र में 'चौथापन' रूप समान धर्म होने के कारण, इन तीनों का आपस में अभेद चिन्तन करना चाहिये।

इस प्रकार हे शिष्य! ॐकार, ब्रह्म और आत्मा को एक रूप समझकर उनके परमार्थ स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये।

शंका:—भगवन्! आपने ॐकार, ब्रह्म व आत्मा के परमार्थ स्वरूप के चिन्तन करने की आज्ञा दी, किन्तु मैं इनके परमार्थ रूप को नहीं जानता अतः इन तीनों का परमार्थ स्वरूप और अपरमार्थ स्वरूप कौनसा है, यह कृपा करके समझाइये।

उत्तर:—हे शिष्य! पहिले जो ब्रह्मरूप आत्मा के चार पाद बताए थे, उन में से जो पहिले तीन पाद हैं वे ॐकार के वाच्य ब्रह्मरूप आत्मा का

अपरमार्थस्वरूप है, और चौथा पाद परमार्थस्वरूप है। जैसे ब्रह्म-अभिन्न-आत्मा के दो स्वरूप हैं वैसे ॐकार के भी दो स्वरूप हैं।

(१) अकार, उकार और मकार ये तीन मात्रारूप जो अक्षर हैं वह ओंकार का अपरमार्थस्वरूप है। और

(२) तीनों मात्राओं में व्यापक जो अस्ति-भाति-प्रियरूप अधिष्ठान चेतन अमात्र है वह ॐकार का परमार्थस्वरूप है।

हे शिष्य! इस प्रकार दो स्वरूप वाला जो ॐकार है, उसका दो स्वरूप वाले आत्मा से अभेद (एकता) जानना चाहिये; और इन दोनों के (आत्मा के पादों और ॐ की मात्राओं के) अभेद को जानने के बाद, लयचिन्तन करना चाहिये, जिससे ज्ञान उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

शंका :– भगवन्! लय-चिन्तन कैसे किया जाय, यह कृपा करके समझाइये।

उत्तर :– हे शिष्य! कार्य की उत्पत्ति और लय दोनों कारण में ही होते हैं, इसलिये कार्य कारण से भिन्न नहीं अपितु कारण-स्वरूप ही है; जैसे घड़े की उत्पत्ति और लय दोनों मिट्टी में ही होते हैं इस लिये घड़ा मिट्टी से भिन्न नहीं अपितु मिट्टी स्वरूप ही है; इस प्रकार कार्य के कारण में लय करने को लय-चिन्तन कहते हैं।

हे शिष्य! अब तुझे मैं ओंकार का उच्चारण

करते समय आत्मा-अभिन्न-ब्रह्म के चार पादों का लय-चिन्तन कैसे किया जाय, यह समझाता हूँ:—

(१) विश्व रूप जो अकार है वह तैजसरूप उकार से भिन्न नहीं किन्तु उकार-रूप ही है; इस प्रकार विश्व रूप अकार का तैजस रूप उकार में लय करना चाहिये। (यहां विश्व शब्द से विश्व-अभिन्न-विराट् का ग्रहण करना चाहिये इस प्रकार आगे भी जो तैजस व प्राज्ञ शब्द आवेंगे उनसे तैजस-अभिन्न-हिरण्यगर्भ व प्राज्ञ-अभिन्न ईश्वर का ही ग्रहण करना चाहिये।)

(२) जिस उकार में अकार का लय किया है, उस तैजस रूप उकार का फिर प्राज्ञ रूप जो मकार है उस में लय करना चाहिये; अर्थात् तैजसरूप, उकार, प्राज्ञरूप मकार से भिन्न नहीं अपितु मकार रूप ही है, ऐसा चिन्तन करना चाहिये।

(३) जिस प्राज्ञरूप मकार में उकार का लय किया है, उस मकार का फिर तुरीयरूप जो ओंकार का परमार्थ रूप अमात्र है, उस में लय करना चाहिये; क्योंकि ओंकार का जो परमार्थस्वरूप (अकार, उकार तथा मकार में व्यापक अस्ति-भाति-प्रिय रूप) अमात्र है, वही अस्ति-भाति-प्रियरूप शुद्ध चेतन, आत्मा-अभिन्न-ब्रह्म का परमार्थस्वरूप तुरीय (चौथा) पाद है। और उस शुद्धब्रह्म में ईश्वर और प्राज्ञ दोनों कल्पित हैं। यह नियम है कि, 'जो जिस में कल्पित होता

खाता रहेगा और नाना ठोकरों (दुःखों) का अनुभव करता हुआ इस जन्म मरण के चक्कर में भटकता रहेगा। किन्तु हे शिष्य! जिनके कोई पुण्य कर्म उदित होते हैं वे निष्काम कर्म व उपासना द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होने के बाद, प्रभु कृपा से गुरु-प्राप्ति होने पर आत्मज्ञान प्राप्त करके इस संसार के जन्म मरण के चक्कर से मुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार गुरुमुख से श्रवण करके, अदृष्टि नाम जो मध्यम-शिष्य था वह उस परमानन्द को प्राप्त करने के लिये निर्गुण ओंकार के अहंग्रह-ध्यान में प्रवृत्त हो गया।

इति श्रीविचारसागरदर्पणे गुरुवेदादिव्यावहारिकप्रतिपादनं वा मध्यमाधिकारी साधनवर्णनं नाम पंचमस्तरंङ्गः समाप्तः ॥५॥



* षष्ठस्तरंगः *

* अथ श्रीगुरुवेदादिसाधनवर्णनम् *

पहिले तरंग में ॐकार की उपासना और संसार की उत्पत्ति के कथन से पहिले, यह कहा गया था कि जो चेतन से भिन्न अज्ञान और अज्ञान का कार्य संसार है उसे अनात्मा कहते हैं, और वह सारा अनात्म संसार स्वप्न की तरह मिथ्या है। इस बात को सुन कर दोनों भाइयों को शान्त देख कर छोटा भाई "तर्क दृष्टि" गुरुजी से पूछने लगा।

शंका:–भगवन्! आपने जगत् को मिथ्या बतलाने के लिए स्वप्न का उदाहरण दिया। किन्तु सपना यदि मिथ्या होता तब तो आपका यह दृष्टान्त ठीक बन सकता, परन्तु मुझे तो सपना सत्य प्रतीत होता है; क्योंकि सपना एक प्रकार से संसार के सत् पदार्थों की स्मृति (यादाश्त) ही है। हम देखते हैं कि जिन पदार्थों का हमें जाग्रत् में किसी भी प्रकार का अनुभव नहीं होता, उनके सपने भी नहीं आते और जिनका अनुभव होता है केवल उनके ही सपने आते हैं; इस से सिद्ध होता है कि सपना जाग्रत् के पदार्थों की स्मृति ही

है। और सत्य पदार्थों की स्मृति भी सत्य ही कहलाती है, इसलिए सपना भी सत्य ही है।

उत्तर:-हे शिष्य! यह तुम्हारा कहना ठीक नहीं; क्योंकि जिन पदार्थों की स्मृति होती है वे पदार्थ सामने प्रत्यक्ष नहीं दीखते; किन्तु सपने में तो हमें सपने के समस्त पदार्थ सामने प्रत्यक्ष दीखते हैं। इसलिए हम स्वप्न के पदार्थों को जाग्रत् के पदार्थों की स्मृति नहीं कह सकते! यदि सपने में केवल स्मृति-ज्ञान (यादास्त) ही होता तो जगने के बाद स्वप्न-द्रष्टा ऐसे कहता कि "मुझे सपने में जाग्रत् के हाथी-घोड़े इत्यादि पदार्थों की याद आई थी।" किन्तु ऐसा कोई नहीं कहता। सब यही कहते हैं कि "मैंने सपने में जाग्रत् जैसे हाथी घोड़े देखे।" इन प्रत्यक्ष अनुभवों से यह सिद्ध होता है कि सपना जाग्रत् के पदार्थों की स्मृति नहीं है। और जब सपना स्मृति सिद्ध नहीं हुआ, तो यह कहना कि "जाग्रत् के सत्य पदार्थों की स्मृति होने के नाते सपना सत्य है" यह ठीक नहीं। और यह भी नियम नहीं है कि जिन पदार्थों का जाग्रत् में अनुभव होता है वे ही हमें सपने में दीखते हैं; क्योंकि कभी कभी सपने में ऐसे भी पदार्थ दिखते हैं, जिनको न कभी देखा हो, न सुना हो।

शंका:-भगवन्! इसी जन्म में देखे सुने पदार्थों की ही केवल स्मृति नहीं होती किन्तु जिन पदार्थों का अनुभव हमने पहिले जन्मों में किया है, उनकी भी स्मृति हुआ करती है; जैसे बालक जन्मते ही माँ का

दूध पीने के लिए स्तनों की तरफ बढ़ता है। अब उस समय उस बालक को कौन बताता अथवा सिखाता है कि 'माँ के स्तनों में दूध होता है, और उसको इस प्रकार पीना चाहिए;' कोई नहीं। इस से यह सिद्ध होता है कि पहिले जन्मों में अनुभव किये हुए स्तनपान की उसको स्मृति होती है और उसी स्मृति से वह दूध पीने में प्रवृत्त होता है। अतः यह मानना चाहिये कि सपने में जो ऐसे पदार्थ दीखते हैं, जिनका जाग्रत् में अनुभव न किया हो; तो पहिले जन्मों में उनका अनुभव अवश्य ही किया हुआ होगा।

उत्तर :-हे शिष्य! स्वप्न में तो कभी कभी ऐसे भी पदार्थ दीखते हैं, जिनका किसी भी जन्म में ज्ञान होना असंभव है। जैसे कभी स्वप्न में अपने कटे हुए सिर को भी देखा जाता है। इस प्रकार का ज्ञान तो कभी जाग्रत् में हो ही नहीं सकता। इसलिए हे शिष्य! स्वप्न के पदार्थों को जाग्रत् के पदार्थों की स्मृति कहना ठीक नहीं है।

शंका :--अच्छा गुरुजी! कुछ लोग तो ऐसा कहते हैं कि- स्वप्न में सूक्ष्म-शरीर स्थूल-शरीर से बाहर निकल कर जाग्रत् के सत्य पदार्थों को भोगता है इस-लिए सपना मिथ्या नहीं किन्तु सत्य है।

उत्तर :--हे शिष्य! यह उनका कहना ठीक नहीं; क्योंकि यदि सूक्ष्म शरीर बाहर निकल जाय, तो प्राण भी सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत (शामिल) हैं; उनके

निकलने से तो यह स्थूल-शरीर मुर्दे की तरह अमंगल हो जायगा। किन्तु हम देखते हैं कि सोए हुए मनुष्यों के प्राण (श्वास) चला करते हैं। यदि तुम कहो कि प्राण तो रहते हैं, किन्तु अन्तःकरण और ज्ञान-इन्द्रियाँ बाहर के पदार्थों को भोगने के लिए निकलती हैं; तो यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि प्राण, मन और इन्द्रियों का राजा है, अतः उसके बिना निकले, वे इन्द्रियाँ अपने आप बाहर नहीं निकल सकतीं; क्योंकि शरीर से बाहर निकलना और फिर अन्दर आना, यह क्रिया बिना प्राण के, केवल मन व इन्द्रियों में नहीं हो सकती। योग-शास्त्र में भी कहा है कि "प्राण के रोकने से मन रुकता है और प्राण के चलने से मन चलता है।" इस से भी यह सिद्ध होता है कि मन तथा इन्द्रियों का गमन प्राण के आधीन है। अतः यदि प्राण बाहर नहीं निकलेगा तो मन व इन्द्रियाँ भी बाहर नहीं निकल सकतीं। और यदि थोड़ी देर के लिए 'दुर्जनतोषन्याय' से तुम्हारी बात मान भी लें; तो फिर सपने में जितना व्यवहार होता है उसका संबन्ध जाग्रत में भी रहना चाहिये; किन्तु ऐसा होता नहीं। हम सो रहे हैं रात्रि को और सपना आ रहा है दिनका, या दिन में सपना आ रहा है रात्रि का। और यदि कभी तुमने किसी से सपने में कर्ज़ा लिया हो तो वह जाग्रत् में फिर चुकाना चाहिए। किन्तु तुम तो कहोगे कि "मैंने जो सपने में रुपये लिये थे वे कोई जाग्रत् वाले सच्चे थोड़े ही हैं।" इससे यह सिद्ध होता है कि

सपने का कोई संबन्ध इस जाग्रत् संसार से नहीं है; किन्तु वह सारा संसार अर्थात् ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय (अन्तःकरण, इन्द्रिय और विषय) ये तीनों (त्रिपुटी समाज) सपने में (कण्ठ की हितानामक नाड़ी में) नए ही कल्पित (अनिर्वचनीय) उत्पन्न होते हैं। हे शिष्य! जिस प्रकार स्वप्न में अनिर्वचनीय पदार्थ नए उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार जितने भी भ्रम-स्थल हैं अर्थात् जहाँ जहाँ भ्रम होता है वहाँ वहाँ विषय की (अनिर्वचनीय पदार्थ की) नई उत्पत्ति होती है।

शंका:-स्वामी जी! जैसे सपने में पदार्थों की उत्पत्ति होती है, वैसे जाग्रत् में भी घड़ा, हाथी, घोड़ा इत्यादि सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं; अतः जैसे हम जाग्रत् के पदार्थों को उत्पन्न होने के नाते सत्य मानते हैं, उसी प्रकार सपने के पदार्थों को भी उत्पन्न होने के नाते सत्य ही मानना पड़ेगा। अतः सपने के पदार्थों को मिथ्या सिद्ध करने के लिए आपको यह कहना चाहिये कि जाग्रत् के पदार्थ तो उत्पन्न होकर प्रतीत होते हैं इसलिए सत् हैं, और स्वप्न के पदार्थ बिना उत्पन्न हुए ही प्रतीत होते हैं इसलिए मिथ्या हैं।

उत्तर:-हे शिष्य! यह तुम्हारा कहना ठीक नहीं; क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न ही नहीं होता है तो उसकी प्रतीति भी नहीं होती, जैसे बाँझ के पुत्र उत्पन्न ही नहीं होता है तो दीखता भी नहीं। किन्तु सपना तो प्रत्यक्ष दीखता है; इसलिए सपने के पदार्थ उत्पन्न होते हैं, ऐसा मानना पड़ेगा। परन्तु जो पदार्थ बिना देश,

काल आदि सामग्री के उत्पन्न होते हैं, जैसे बाजीगर का (जितना समय चाहिए उससे पहिले) उत्पन्न किया हुआ आम का पेड़ अथवा मेस्मेरिज्म से पैदा की हुई रुपयों की वर्षा, उनको सच्चा नहीं किन्तु मिथ्या ही माना जाता है। इस प्रकार सपने में जो बड़ा देश और वर्षों तक लंबा काल (समय) नजर आता है वह स्वयं कल्पित है तो फिर बिना सच्चे देश काल आदि के जो हाथी घोड़े इत्यादि पदार्थ बनते हैं वे भी मिथ्या ही हैं। और वहीं सपने में जो एक-दूसरे के कार्य-कारण दीखते हैं, जैसे सपने के पुत्र का कारण पिता दीखता है तो वह भी भ्रान्ति ही है; क्योंकि वहाँ तो पिता-पुत्र दोनों एक ही समय में इकट्ठे अनिर्वचनीय उत्पन्न होते हैं, इसलिए वहाँ कोई किसीका कार्य तथा कारण नहीं माना जा सकता। किन्तु सपने के सारे पदार्थों का उपादान-कारण अज्ञान है और अधिष्ठान ब्रह्म है; क्योंकि जितने भी मिथ्या (अनिर्वचनीय) पदार्थ होते हैं, उन सब का उपादान-कारण अज्ञान (माया) और अधिष्ठान ब्रह्म ही माना जाता है। जैसे रस्सी में कल्पित सर्प का उपादान-कारण रस्सी-उपहित-चेतन के आश्रित अज्ञान है, और अधिष्ठान रस्सी-उपहित-चेतन है। अतः जिस प्रकार रस्सी में कल्पित सर्प को अज्ञान का परिणाम और चेतन (ब्रह्म) का विवर्त माना जाता है, उसी प्रकार स्वप्न भी अज्ञान का परिणाम और चेतन का विवर्त ही है।

शंका :--भगवन् ! आपने पहिले कहा था कि

भ्रान्ति की निवृत्ति अधिष्ठान के ज्ञान से ही होती है, तो स्वप्न की निवृत्ति भी उसके अधिष्ठान (ब्रह्म) के ज्ञान से ही होनी चाहिए। फिर बिना ब्रह्म ज्ञान के ही अज्ञानी के स्वप्न की निवृत्ति कैसे हो जाती है ?

उत्तर :-हे शिष्य ! निवृत्ति दो प्रकार की होती है; एक अत्यन्त-निवृत्ति, दूसरी लयरूप-निवृत्ति ।

(१) अत्यन्तनिवृत्ति :- कारणसहित कार्य की निवृत्ति को अत्यन्तनिवृत्ति कहते हैं। जैसे सर्प का कारण रस्सी का अज्ञान, और सर्प; इन दोनों की निवृत्ति एक साथ ही होती है।

(२) लयरूपनिवृत्ति :-कार्य के कारण में लय होने को लयरूपनिवृत्ति कहते हैं। जैसे सोने के जेवरों का गलने के बाद, सोने में लय हो जाता है। उनमें से लय-रूप-निवृत्ति तो अधिष्ठान के ज्ञान के बिना भी हो सकती है। जैसे बिना अधिष्ठान के ज्ञान के भी, जेवर का गलने के बाद, अपने अधिष्ठान सोने में लय हो जाता है। परन्तु अत्यन्त-निवृत्ति बिना अधिष्ठान के ज्ञान के नहीं हो सकती। इसलिए स्वप्न की अत्यन्त-निवृत्ति तो बिना ब्रह्म-ज्ञान के नहीं होती; किन्तु अपने कारण (अज्ञान) में लय-रूप-निवृत्ति तो बिना ब्रह्म-ज्ञान के हो जाती है।

शंका :-भगवन् ! आपने जैसे स्वप्न का अधिष्ठान ब्रह्म और उपादान-कारण अज्ञान कहा, वैसे वेदान्त मत में जाग्रत् के व्यावहारिक पदार्थों का भी अधिष्ठान

ब्रह्म है, और उपादान-कारण अज्ञान है। तो फिर दोनों की सत्ता भिन्न भिन्न क्यों मानी जाती है; या तो दोनों की सत्ता व्यावहारिक मानें या प्रातिभासिक मानें।

उत्तर :- हे शिष्य ! वस्तुतः तो दोनों (जाग्रत् और स्वप्न) एक ही अधिष्ठान ब्रह्म में कल्पित होने के नाते मिथ्या अथवा प्रातिभासिक ही हैं, किन्तु उनमें व्यावहारिकपन और प्रातिभासिकपन का जो भिन्न भिन्न व्यवहार होता है, वह उनके उपादान-कारण की दृष्टि से ही; क्योंकि जाग्रत् के पदार्थों का उपादान-कारण केवल अनादि अज्ञान (मूलाज्ञान) है और स्वप्न के पदार्थों का कारण निद्रा-दोष-सहित अज्ञान (तूलाज्ञान) है।

इस दृष्टि से तीन प्रकार की सत्ता मानी जाती है। जिन पदार्थों का कारण केवल अनादि अज्ञान है उनकी सत्ता व्यावहारिक, और जिन पदार्थों का कारण किसी दोष-सहित अज्ञान है, उनकी सत्ता प्रातिभासिक और चेतन (ब्रह्म) की सत्ता पारमार्थिक मानी जाती है। किन्तु वस्तुतः जाग्रत् और स्वप्न में कोई अन्तर (भेद) नहीं है; क्योंकि जैसे सपना जाग्रत् में नहीं रहता इसलिए मिथ्या कहलाता है, इस प्रकार जाग्रत संसार भी तो सपने में नहीं रहता इसलिए मिथ्या ही है। जैसे सपने का संसार बिना देश और काल के उत्पन्न होता है, इसलिए मिथ्या है तो इस प्रकार जाग्रत् संसार को भी मिथ्या ही कहना चाहिए; क्योंकि इस जाग्रत संसार की उत्पत्ति जिस ब्रह्म से हुई है, उसमें तो देशकाल का लेशमात्र भी नहीं है; बल्कि सपने के

संसार के लिये तो थोड़ा देश (कण्ठ की हिता नाड़ी) और थोड़ा समय माना भी जाता है, किन्तु जाग्रत् संसार के कारणरूप ब्रह्म में तो थोड़ा सा भी देश काल नहीं है; इसलिए दोनों (जाग्रत् और स्वप्न) बिना देश काल के उत्पन्न होने के कारण मिथ्या ही हैं।

शंका :– भगवन् ! हम तो देखते हैं कि सब वस्तुएँ अपने अपने समय पर और अपने अपने स्थान पर ही उत्पन्न होती हैं। जैसे सब ऋतुएँ अपने अपने समय पर अपना अपना फल देती हैं, और भिन्न भिन्न फल भिन्न भिन्न देशों में भी उत्पन्न होते हैं। तो फिर आपने यह कैसे कहा कि सपने की तरह जाग्रत् के पदार्थ भी बिना देश और काल के उत्पन्न होने के कारण मिथ्या हैं ?

उत्तर :–हे शिष्य ! जैसे तुम्हें जाग्रत् में जाग्रत् के पदार्थ अपने अपने देश काल में उत्पन्न हुए प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार स्वप्न में भी तो सपने के पदार्थ अपने अपने स्थान पर और अपने अपने समय पर उत्पन्न हुए प्रतीत होते हैं। जैसे सपने के काश्मीर में काश्मीर के फल, और सपने के मरुस्थल में वे ही बालू के टीले नजर आते हैं, तथा भिन्न भिन्न ऋतुओं का भिन्न भिन्न प्रभाव भी दीखता है; किन्तु ये सब देश–काल सपने में सच्चे प्रतीत होते हुए भी जैसे मिथ्या माने जाते हैं, उसी प्रकार जाग्रत् के देश काल भी सच्चे मालूम होते हैं, किन्तु हैं मिथ्या। क्योंकि जिस प्रकार

जिस अज्ञान ने सपने के पदार्थों को खड़ा किया है, उसी अज्ञान ने सपने के देश काल को तथा उस देश काल में कारणपने को भी उत्पन्न किया है; ठीक इसी प्रकार जिस अज्ञान (समष्टि अज्ञान अर्थात् माया) ने इस जाग्रत् संसार के पदार्थों को उत्पन्न किया है, उसी अज्ञान अर्थात् माया ने जाग्रत् के देश काल को तथा उसके कारणपने को भी उत्पन्न किया है।

सारांश यह है कि जैसे सपने के सारे देश-काल इत्यादि पदार्थ अज्ञान के परिणाम (परिवर्तित स्वरूप) और चेतन के विवर्त होने का कारण मिथ्या हैं; ठीक इसी प्रकार इस जाग्रत् संसार के भी सारे देश-काल इत्यादि पदार्थ अज्ञान (माया) के परिणाम और ब्रह्म (चेतन) के विवर्त होने के कारण मिथ्या ही हैं।

शंका :— स्वामी जी ! ये आपकी बातें समझ में तो आती हैं किन्तु हृदय में जचती नहीं; क्योंकि सपना तो थोड़ी देरी तक ही रहता है, और सपने के पदार्थ विना किसी कारण के ही उत्पन्न हो जाते हैं, इस लिए सपना तो मिथ्या है, किन्तु जाग्रत् में तो हम वर्षों तक जीवित रहकर अपना अपना व्यवहार करते हैं, और सब वस्तुएँ अपने अपने कारण से उत्पन्न होती हैं, घड़ा मिट्टी से बनता है, विना वृक्ष के फल नहीं लगता, विना माता पिता के कोई सन्तान उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार सब जाग्रत् के पदार्थ अपने अपने कारण से ही उत्पन्न होते हैं; अतः वे मिथ्या कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर :- हे शिष्य ! सपने में भी तो जब तक स्वप्न चलता है, तब तक जाग्रत् की तरह वोही लम्बा समय और एक दूसरे के कारण व कार्य प्रतीत होते हैं। मानलो कि कोई छोटा १५ वर्ष का लड़का है उसको ऐसा सपना आया है कि मैं अब पच्चीस वर्ष का नवयुवक हो गया हूँ, और विवाह कर लिया है, पुत्र पौत्र भी हो गये हैं। अब वह बूढ़ा होने के बाद एक दिन अपने पौत्र को जल लाने के लिये कहता है, वह पौत्र सामने रखे हुए मिट्टी के घड़े में से जल लाकर जब पिलाता है, तब वह अपने पौत्र को आज्ञाकारी देख कर बड़ा प्रसन्न होता है। और उसी क्षण अकस्मात् उसकी आँखें खुलते ही उसका सारा वर्षों का बना हुआ संसार क्षण भर में नष्ट हो जाता है।

उस समय सपने में वह लड़का अपने आप को बूढ़ा समझ रहा था और बराबर जैसे पचासों वर्ष बीत गए हों, ऐसा लम्बा समय उसे प्रतीत हो रहा था। मेरा पुत्र मेरे से तथा मेरा पौत्र मेरे पुत्र से उत्पन्न हुआ है, और घड़ा मिट्टी से ही बना है, उसमें जल कुएँ का है, इस प्रकार एक दूसरे में कार्य कारण भाव को समझ रहा था, और उसी संसार से अपने आपको कृतकृत्य दुःखी और सुखी भी मान रहा था। इस प्रकार जाग्रत् की तरह लम्बा प्रतीत होता हुआ भी जैसे सपना मिथ्या है, उसी प्रकार यह जाग्रत् भी जाग्रत् के समय इतने लम्बे समय

वाला और एक दूसरे से उत्पन्न होने वाला प्रतीत होता हुआ भी मिथ्या ही है।

शंका :—प्रभो ! यदि यह संसार मिथ्या है, तो फिर सत्य क्यों प्रतीत होता है, और देश काल इसके कारण हैं, ऐसी भ्रान्ति क्यों होती है ?

उत्तर :—हे शिष्य ! इस प्रकार की भ्रान्ति तुम्हें संसार और ब्रह्म का विवेक (विवेचन=भिन्न भिन्न समझना) न करने से ही होती है। जिस प्रकार दूर रखे हुए लाल जल से भरे हुए सफ़ेद काच के ग्लास को (ललाई जल की है, और ग्लास स्वयं सफ़ेद है, ऐसा विवेक न होने के कारण) हम लाल ही समझ लेते हैं, यह भ्रान्ति है; क्योंकि ललाई है जल की और हम मान रहे हैं ग्लास में; तथा अधिष्ठान चेतन (साक्षी) में कल्पित् सपने को (सपना स्वयं मिथ्या है, और अधिष्ठान चेतन सत्य है ऐसा विवेक न होने से) हम सत्य मान लेते हैं, यह भ्रान्ति है, (इसको अन्यथा-ख्याति भी कहते हैं); क्योंकि सत्यता है चेतन की और प्रतीत हो रही है सपने के संसार में। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न हुए इस संसार को (संसार स्वयं मिथ्या है, व ब्रह्म ही सत्य है और वही संसार का कारण है, ऐसा विवेक न होने के कारण) हम सत्य मानते हैं और इसी संसार के अन्तर्गत (शामिल) देश काल को संसार का कारण भी समझ लेते हैं, यह भ्रान्ति ही है; क्योंकि कारणता और सत्यता है ब्रह्म की और हमें प्रतीत हो रही है संसार में।

अथवा जैसे सपने में पिता आदि पदार्थ अज्ञान के रचे हुए हैं तो वहाँ पिता आदि में जो पुत्र आदि की कारणता दीखती है, वह भी अज्ञान द्वारा ही मिथ्या रची हुई है; उसी प्रकार जैसे सारे जाग्रत् संसार के पदार्थ और देश-काल, सब माया के परिणाम हैं अर्थात् माया के रचे हुए हैं वैसे देश-काल में जो कारणता दीखती है वह भी माया का ही परिणाम है, अर्थात् माया की ही रची हुई है; क्योंकि ब्रह्म तो कारण इत्यादि धर्मों से रहित असंग है; उसमें कारणता होती तो यह कहना बन सकता कि ब्रह्म की कारणता देश काल में प्रतीत होती है; किन्तु वास्तवमें ब्रह्म में किसी की कारणता नहीं है, अतः जो देश काल में कारणता प्रतीत होती है वह केवल भ्रान्ति ही है। तो इसलिए 'बिना देश काल के उत्पन्न हुई वस्तु मिथ्या होती है,' इस नियम से यह सिद्ध होता है कि देश काल आदि सामग्री के बिना ही उत्पन्न हुआ यह जाग्रत् संसार भी स्वप्न की तरह मिथ्या ही है।

शंका :- भगवन्! यदि जाग्रत् संसार भी बिल्कुल सपने की तरह मिथ्या (कल्पित) ही है, तो फिर सपना जैसे आँख खुलने व याद आने पर हमें झूँठा प्रतीत होता है, वैसे ही इस संसार के झूँठेपन का हमें अनुभव क्यों नहीं होता ?

उत्तर :- हे शिष्य! जैसे सपने का झूँठापन सपने के टूटने से और जाग्रत् अवस्था के आने पर ही प्रतीत होता है, वैसे जाग्रत का झूँठापन भी जाग्रत्

के टूटने पर और समाधि अवस्था के अनुभव करने पर, अथवा ज्ञान रूपी नेत्र खुलने पर ही प्रतीत होता है। सो आपको अब तक दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान नहीं हुआ है इसलिए ही संसार के झूँठेपन का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो रहा है।

और जैसे सपना भी याद करने से कल्पित (झूँठा) प्रतीत होता है, उसी प्रकार इस बीते हुए संसार रूपी सपने को भी जब हम याद करते हैं तो बिल्कुल सपने की तरह कल्पना मात्र ही प्रतीत होता है। जब हम कभी अपनी बीती हुई जिन्दगी को याद करते हैं कि हम इतने छोटे थे, मिट्टी में खेला करते थे, बड़े होने पर स्कूल में पढ़ते थे, कई परीक्षाएँ पास की, फिर विवाह किया, सन्तान उत्पन्न हुआ, पौत्र हो गये, कई खेल किये; अब तो हम बूढ़े हो गये हैं, किन्तु इतना सारा लम्बा समय ऐसे बीत गया जैसे केवल कोई कल्पना ही हो बिल्कुल सपने की तरह प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

जिस प्रकार सपना याद करने से कल्पित प्रतीत होता है; उसी प्रकार यह जाग्रत् संसार भी याद करने से कल्पित सपने की तरह ही प्रतीत होता है। जब बीता हुआ समय हमें सपना प्रतीत होता है, तो जो चल रहा है वह भी सपना ही है, और जो आएगा वह भी सपना ही है। ऐसा विचार करने से स्पष्ट अनुभव होता है कि यह जाग्रत् संसार भी सपने की तरह मिथ्या (कल्पित) ही है।

शंका :—भगवन्! आपका उपदेश सुनने से अब

मुझे कुछ कुछ अनुभव होने लगा है कि वास्तव में यह संसार सपना ही है। किन्तु एक शंका और उठ रही है, कृपा करके उसका भी समाधान कर दीजिए। वह यह है कि जब हम सपने से जाग्रत् में आते हैं, तो सपने के पदार्थ बिल्कुल रहते ही नहीं हैं, किन्तु जब हम जाग्रत् में से स्वप्न में जाते हैं तो फिर भी जाग्रत् के पदार्थ तो अपनी जगह रहते ही हैं; क्योंकि जब हम सो कर उठते हैं, तब हमें वो के वो हजारों वर्ष पहिले के जाग्रत् के पदार्थ दिखलाई देते हैं। यदि यह जाग्रत् वास्तव में स्वप्न ही होता, तो इतने वर्षों के पुराने वो के वो पदार्थ कैसे दीखते ?

उत्तर :– हे शिष्य ! यह शंका तुम्हें वेदान्त के सिद्धान्त को न जानने से ही हो रही है; क्योंकि सिद्धान्त तो यह है कि सारा संसार चेतन का विवर्त और अविद्या (अज्ञान) का परिणाम है। [जैसे रस्सी में कल्पित साँप, रस्सी–उपहित–चेतन का विवर्त है और उस अधिष्ठान चेतन के आश्रित अविद्या (अज्ञान) का परिणाम है] वह अज्ञान का परिणाम :–विषय और विषय के ज्ञान रूप से [जैसे सर्प और सर्प के ज्ञान रूप से] दो प्रकार का होता है। उस अज्ञान (माया) में तीन गुण हैं। अतः (१) विषयरूप परिणाम, अज्ञान के तमोगुण अंश का होता है, और (२) विषय का ज्ञान रूप (वृत्ति–ज्ञान रूप) परिणाम अज्ञान के सत्त्वगुण अंश का होता है।

इस सिद्धान्त से सारे संसार के पदार्थ और

उनका ज्ञान, ये दोनों अज्ञान (माया) के परिणाम हैं। पदार्थ तो माया के तमोगुण के परिणाम हैं व उनका ज्ञान, माया के सत्त्वगुण का परिणाम है; और ये दोनों परिणाम (विषय और विषय का ज्ञान) साथ साथ उत्पन्न होते हैं, और साथ ही नष्ट होते हैं। जैसे रस्सी में सर्प और सर्प का ज्ञान, ये दोनों साथ साथ ही उत्पन्न होते हैं और साथ साथ ही नष्ट होते हैं अथवा जैसे स्वप्न के पदार्थ और उनका ज्ञान, ये दोनों भी साथ ही उत्पन्न होते हैं तथा साथ ही नष्ट होते हैं; ठीक इसी प्रकार जाग्रत् संसार के पदार्थ और उनका ज्ञान ये दोनों भी साथ साथ उत्पन्न होते हैं और साथ साथ ही नष्ट होते हैं। किन्तु जब हम रस्सी में सर्प देखते हैं तो उस समय समझते हैं कि यह सर्प तो पुराना कई वर्षों का है, और जब सपना देखते हैं तब यह समझते हैं कि ये पर्वत, समुद्र आदि नाना पदार्थ मेरे जन्म से भी पहिले के ही उत्पन्न हुए हुए हैं। इसी प्रकार जब हम जाग्रत् में पदार्थों को देखते हैं तब उस समय भी ऐसी प्रतीति होती है कि ये जाग्रत् के पदार्थ मेरे जन्म से भी कई लाख वर्ष पहिले के बने हुए हैं। किन्तु यह भ्रान्ति ही है; क्योंकि अज्ञान के परिणाम, विषय और विषय का ज्ञान, ये दोनों साथ साथ ही उत्पन्न होते हैं। पहिले विषय हो और बाद में ज्ञान, ऐसा नहीं होता। जैसे सर्प का ज्ञान और सर्प, ये दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं, चाहे भ्रान्ति सर्प के पुरानेपन की क्यों न हो, और जैसे सपने के पदार्थ व उनका ज्ञान दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं, चाहे

भ्रान्ति उन पदार्थों के पुरानेपन की क्यों न हो; ठीक इसी प्रकार जाग्रत् के पदार्थ और उनका ज्ञान ये दोनों भी साथ ही उत्पन्न होते हैं, चाहे भ्रान्ति जाग्रत् के पदार्थों के पुरानेपन की क्यों न हो।

अतः जो तुमने यह कहा कि सोकर उठने के बाद भी जाग्रत् के पदार्थ वो के वो ही दीखते हैं, यह तुम्हारी भ्रान्ति है; क्योंकि जाग्रत् के पदार्थ व उनका ज्ञान दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं और फिर ज्यों ही तुम सपने में जाते हो तो उस समय जाग्रत् के पदार्थों के ज्ञान के साथ साथ जाग्रत् के पदार्थ भी नहीं रहते; फिर जब सपने से जाग्रत् में आते हो, तो उसी समय जाग्रत् और जाग्रत् का ज्ञान, ये दोनों नये अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होते हैं।

शंका :– भगवन्! यदि सपने से जाग्रत् में आने पर जाग्रत् के पदार्थ नए उत्पन्न होते हैं, तो फिर नए प्रतीत क्यों नहीं होते? मुझे तो वो के वो ही प्रतीत होते हैं।

उत्तर :– हे शिष्य! जैसे रस्सी में साँप देखने के बाद, लोग उसको मारने के लिये लाठी उठाने जाते हैं, तो पीछे से वह सर्प बिल्कुल नहीं रहता; और जब लाठी लेकर वापिस आते हैं, तो फिर वहाँ वैसा ही कल्पित नया सर्प उत्पन्न होता है और दीखता है। जो संस्कार पहिले वाले सर्प को उत्पन्न करते हैं उन्हीं संस्कारों से दूसरा सर्प भी उत्पन्न होता है। इसलिए (संस्कारों के एक होने के कारण) वह सर्प भी हमें

एक ही (वो का वो) प्रतीत होता है; किन्तु वास्तव में वह सर्प वो का वो नहीं है, किन्तु वैसा का वैसा है।

ठीक इसी प्रकार जब जाग्रत् के पदार्थों को देखते देखते हमें नींद आ जाती है, तो पीछे से जाग्रत् के पदार्थ और उनका ज्ञान ये दोनों साथ साथ ही नष्ट हो जाते हैं और जब सोकर उठते हैं तो उसी समय (जाग्रत् में) फिर वैसे ही पहिले जैसे नये पदार्थ व उनका ज्ञान, ये दोनों एक साथ ही उत्पन्न होते हैं; क्योंकि जिन संस्कारों से पहिले वाले जाग्रत् के पदार्थ व उनका ज्ञान, ये दोनों उत्पन्न होते हैं, उठने के बाद दूसरे जाग्रत् के पदार्थ व उनका ज्ञान भी उन्हीं संस्कारों से ही उत्पन्न होते हैं; इसी कारण (संस्कारों के एक होने के कारण) जगने के बाद दूसरे जाग्रत् के पदार्थ और उनका ज्ञान ये दोनों एक ही अर्थात् वो के वो ही प्रतीत होते हैं; परन्तु वह दूसरा जाग्रत् संसार वो का वो है नहीं, किन्तु वैसा का वैसा है; और जो हमें वो का वो प्रतीत होता है, वह भ्रान्ति है।

शंका:—गुरुजी! अब यह समझ में आ रहा है कि जैसे सपने के पदार्थ और उनका ज्ञान ये दोनों साथ साथ उत्पन्न होते हैं और साथ ही नष्ट होते हैं, इसलिये सपना मिथ्या है; और वहाँ जब कुम्हार को घड़ा बनाते हुए और गऊ को ब्याते हुए देखते हैं, तो उस समय ऐसी प्रतीति होती है कि घड़े का कारण कुम्हार और मिट्टी इत्यादि घड़े के बनने

से पहिले ही मौजूद थे, और बछड़े की कारण मां भी उसके उत्पन्न होने से पहिले ही मौजूद थी। किन्तु इस प्रकार सपने में जो एक दूसरे के कार्य (उत्पन्न होने वाले) और कारण (उत्पन्न करने वाले) प्रतीत होते हैं वह भ्रान्ति ही है; क्योंकि वहां के सब कार्य और कारण साथ ही उत्पन्न होते हैं और साथ ही नष्ट होते हैं। ठीक इसी प्रकार जाग्रत् के पदार्थ और उनका ज्ञान भी साथ ही उत्पन्न होते हैं व साथ ही नष्ट होते हैं। और जो हमें जाग्रत् में एक दूसरे के कार्य और कारण प्रतीत होते हैं, वह भी भ्रान्ति ही है; क्योंकि जाग्रत् के सब कार्य और कारण भी साथ ही उत्पन्न होते हैं और साथ ही नष्ट होते हैं। अब भगवन्! मुझे केवल यह बात समझ में नहीं आरही है कि यह आकाश, वायु, तेज, जल, और पृथ्वी व सारा ब्रह्माण्ड ये सब जब साथ ही उत्पन्न होते हैं, और एक दूसरे के कार्य कारण भी नहीं हैं तो फिर इनका क्रम से उत्पन्न होना, और एक दूसरे का कार्य कारण भाव श्रुति (वेद) ने क्यों बताया है?

उत्तर:—हे शिष्य! जैसे घड़ा, सुराई, ढक्कन इत्यादि सब मिट्टी के बने हुए पदार्थों में किसी बच्चे को मिट्टी का दर्शन करवाने के लिए और उन सब मिट्टी के बर्तनों में वस्तुतः केवल मिट्टी के सिवाय और कुछ है ही नहीं; इस बात को समझाने के लिए हम उसे घड़े इत्यादि पदार्थों की

उत्पत्ति का क्रम बतलाते हैं, कि पहिले केवल चिकनी मिट्टी (किसी भी दोष रहित साफ़ मिट्टी) थी। उसको पानी से गीली करके गूँदा गया। फिर एक बड़ा ढेला बना कर चक्कर के बीच में रख कर जैसा पदार्थ उस मिट्टी से बनाना था उसके अनुसार चक्कर को घुमाया गया और डण्डे से थाप थाप कर मिट्टी के बर्तन बनाये गये। यों इस क्रम को सुन कर बच्चे को यह समझ में आ जाता है कि घड़े इत्यादि पदार्थों में किस प्रकार मिट्टी व्यापक है और किस प्रकार वह मिट्टी अद्वितीय अर्थात् द्वैत से रहित (अकेली) है; ठीक इसी प्रकार आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी इत्यादि ब्रह्म रूपी कारण से उत्पन्न हुए सभी जगत् के पदार्थों में, अज्ञानी रूपी बच्चों को ब्रह्म का दर्शन करवाने के लिए अर्थात् ब्रह्म की व्यापकता को बतलाने के लिए और इन सब संसार के पदर्थों में वास्तव में केवल ब्रह्म के सिवाय और कुछ है ही नहीं अर्थात् ब्रह्म अद्वितीय है इस बात को समझाने के लिए ही श्रुति (वेद) ने आकाश इत्यादि संसार के पदार्थों की उत्पत्ति का क्रम बतलाया है, कि पहिले केवल एक शुद्ध ब्रह्म ही था। फिर उसका अनादि कल्पित (अनिर्वचनीय) माया से संबन्ध होने पर अर्थात् उस माया में जो जीवों के अनेक संस्कार रहते थे वे जब अपना फल देने के लिए तैयार हुए तब उस माया-विशिष्ट-चेतन में संसार को उत्पन्न करने की इच्छा (संकल्प) हुई।

संकल्प होते ही माया से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होकर यह सारा ब्रह्माण्ड बना। अब इस प्रकार सृष्टि के क्रम को सुन कर अज्ञानी रूपी बच्चों को यह समझ में आजाता है कि जैसे मिट्टी के सब बर्तन मिट्टी से उत्पन्न होते हैं, मिट्टी में स्थित हैं और मिट्टी में ही लीन हो जाते हैं; इसलिए सभी मिट्टी स्वरूप हैं और मिट्टी के सिवाय कुछ है ही नहीं; ठीक इसी प्रकार ये सब जाग्रत् के पदार्थ ब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं, ब्रह्म में स्थित हैं और ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं; इसलिए ये सब ब्रह्म स्वरूप हैं, अर्थात् सब में ब्रह्म ही व्यापक है और ब्रह्म के सिवाय कुछ है ही नहीं, अर्थात् वह ब्रह्म अद्वितीय (केवल एक ही) है। माया के साथ भी उसका द्वैत सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि माया कल्पित है और ब्रह्म वास्तविक (सत्य) है। कल्पित और सत्य का आपस में द्वैत नहीं हो सकता; क्योंकि द्वैत सर्वदा समान सत्ता वालों में ही होता है। जैसे रस्सी और रस्सी में कल्पित सर्प ये दो नहीं माने जाते किन्तु वास्तव में एक रस्सी ही होती है, इसी प्रकार ब्रह्म और कल्पित माया, ये दो नहीं माने जाते, किन्तु वास्तव में एक ब्रह्म ही है। इस प्रकार ब्रह्म का अद्वैत ज्ञान कराने के लिए और लय-चिन्तन की विधि (तरीके) से ब्रह्म के दर्शन करवाने के लिए ही वेद ने संसार की उत्पत्ति का क्रम बतलाया है; किन्तु वस्तुतः जैसे सपने की सृष्टि का कोई क्रम

विशेष नहीं, केवल एक साथ ही हो जाती है; इसी प्रकार इस जाग्रत् सृष्टि का भी कोई क्रम नहीं है; यह जाग्रत् सृष्टि और इसका ज्ञान भी एक साथ ही उत्पन्न होते हैं और साथ ही नष्ट होते हैं। इसीको 'दृष्टि-सृष्टि-वाद' कहते हैं।

शंका:-स्वामीजी ! इस दृष्टि-सृष्टि-वाद का कुछ स्पष्टीकरण करने की कृपा करें ?

उत्तर:-हे शिष्य ! इस वाद के अनुसार जैसे रस्सी में सर्प अथवा सपने के सारे पदार्थ अज्ञान के कार्य हैं उसी प्रकार जाग्रत् संसार के भी सभी पदार्थ अज्ञान के ही कार्य हैं। और उन सबका प्रकाश, अज्ञान की वृत्ति-उपहित-चेतन (साक्षी) द्वारा ही होता है, इसलिए सपने के अथवा जाग्रत् के सब पदार्थ साक्षी-भास्य कहलाते हैं।

इस प्रकार सपने और जाग्रत् के पदार्थों में कोई अन्तर (भेद) न होने के कारण दोनों की एक प्रातिभासिक सत्ता ही मानी जाती है। यों तीन सत्ताओं की जगह दो सत्ताएँ ही मुख्य रूप से मानी जाती हैं:—

(१) चेतन की परमार्थ सत्ता और (२) चेतन से भिन्न सभी अनात्म-पदार्थों की प्रातिभासिक सत्ता।

शंका:-भगवन् ! इस वाद का नाम 'दृष्टि-सृष्टि-वाद' क्यों रखा गया है ?

उत्तर:-पहिले मैंने तुम्हें यह बताया था कि अज्ञान का परिणाम (परिवर्तन) दो प्रकार से एक ही

समय में होता है। एक विषय रूप से व दूसरा विषय के ज्ञान रूप से।

जब वह चेतन के आश्रित अज्ञान विषय के ज्ञान रूप से परिणाम को प्राप्त होता (पलटता) है तब उस विषय के ज्ञान को अज्ञान की वृत्ति अथवा दृष्टि कहते हैं। और उसी समय वह अज्ञान जिस विषय (ज्ञेय) रूप से पलटता है उस विषय को सृष्टि कहते हैं। ये दृष्टि और सृष्टि [विषय और उसका ज्ञान (जैसे कल्पित सर्प है सृष्टि व उसका ज्ञान है दृष्टि उसी प्रकार यह संसार है सृष्टि और इसका ज्ञान है दृष्टि)] दोनों साथ साथ उत्पन्न होते हैं और साथ साथ ही नष्ट होते हैं तथा दोनों का आकार भी एक ही प्रकार का होता है। हे शिष्य ! जब इस प्रकार से जाग्रत् की वास्तविकता (असलियत) बतलाई जाती है तब इस बताने के प्रकार (तरीके) को कहते हैं दृष्टि-सृष्टि-वाद। इस दृष्टि-सृष्टि-वाद को अजात-वाद भी कहते हैं; क्योंकि दृष्टि और सृष्टि (ज्ञान और ज्ञेय) ये दोनों अज्ञान के परिणाम हैं; और वह अज्ञान कल्पित है और कल्पित का अधिष्ठान में वस्तुतः अभाव होता है। जैसे कल्पित सर्प का वस्तुतः रस्सी में अभाव है अर्थात् है ही नहीं; उसीप्रकार कल्पित अज्ञान और उसी के परिणाम संसार का भी वस्तुतः अधिष्ठान ब्रह्म में अभाव ही है अर्थात् ब्रह्म में अज्ञान और संसार तीनों कालों में बना ही नहीं है। इस प्रकार दृष्टि-सृष्टि-वाद से यह जाना जाता है कि वास्तव में यह संसार ब्रह्म

में अजात है अर्थात् उत्पन्न ही नहीं हुआ है। इसीलिए इस दृष्टि-सृष्टि-वाद को अजात-वाद भी कहते हैं। इस दृष्टि-सृष्टि-वाद के मुख्य तीन स्वरूप हैः—

(१) जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।

(२) जब तक दृष्टि तब तक सृष्टि।

(३) जिसके लिए दृष्टि उसके लिए सृष्टि।

अर्थात् जैसे जिसको जिस समय जैसा सपना दीखता है, उस समय वैसा सपना उसी के लिए ही है, दूसरे के लिए नहीं; ठीक इसी प्रकार जिसको जिस समय जैसा जाग्रत् संसार नजर आता है उस समय वैसा जाग्रत् संसार उसी के लिये ही है, दूसरे के लिए नहीं।

शंकाः—भगवन्! यदि यह संसार जो अनादि काल से प्रतीत हो रहा है, जिसमें असंख्य व्यक्ति बन्धन में फंसे हुए हैं, और ज्ञानी लोग मुक्त हो जाते हैं, ऐसा यह संसार यदि सपने की तरह मिथ्या ही है, तब तो सपने की भाँति क्षण भर, पन्द्रह बीस मिनट, आधा घंटा, घंटा अथवा अधिक से अधिक प्रहर भर ही चलेगा। अतः जिस प्रकार सपना अपने आप टूट जाता है, उसी प्रकार जाग्रत् रूपी सपना भी अपने आप ही थोड़ा समय चल कर टूट जायगा, फिर इससे छूटने के लिए अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने के लिए आत्म-ज्ञान और उसके साधन वेदान्त का श्रवण, मनन इत्यादि करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तरः—हे शिष्य! जिस प्रकार अज्ञान से सपने में अध्यापक, अध्ययन, वेद, शास्त्र, पुराण, और उनका पढ़ने वाला, कर्म और उसका फल, सुख और

दुःख, इन सबको सत्य समझ कर अर्थात् सपने के संसार रूपी बन्धन को सत्य समझ कर उससे मोक्ष को प्राप्त करने के लिए अर्थात् उससे छूटने के लिए सपने के गुरु के पास जाना, और वहाँ वेदान्त सुन कर ज्ञान द्वारा मोक्ष को प्राप्त करना, इत्यादि सब मिथ्या ही है; क्योंकि वास्तव में न तो सपने का बन्धन है न मोक्ष।

ठीक इसी प्रकार यह संसार जो तुम्हें सत्य प्रतीत हो रहा है, और इस दुःख-रूप संसार को बंधन समझ कर, इससे जो तुम्हें छूटने की इच्छा हो रही है, और इसलिए (संसार से मोक्ष प्राप्त करने के लिए) मुझे गुरु मान कर जो तुम वेदान्त का श्रवण, मनन व निदिध्यासन आदि कर रहे हो, यह सब तुम्हारी प्रतीति-(दृष्टि)-मात्र ही है, अर्थात् भ्रान्ति-मात्र ही है; क्योंकि सपने की तरह यह जाग्रत् भी मिथ्या कल्पित (कल्पना मात्र) होने के कारण, वास्तव में न गुरु है, न शास्त्र और न बंधन है न मोक्ष।

शंका :—भगवन् ! जब यह सारा संसार कल्पित ही है तो फिर इससे छूटने के लिए गुरु के उपदेश की क्या आवश्यकता है?

उत्तर :—हे शिष्य ! यह तुम्हारा कहना सही है कि इस कल्पित संसार का बंधन भी कल्पित है, फिर इससे छूटना क्या ? किन्तु जब तक कल्पित को कल्पित नहीं समझा जाता, तब तक वह कल्पित बन्धन भी सच्चा प्रतीत होकर दुःखदायी हो जाता है।

जैसे रस्सी में कल्पित सर्प को जब तक कल्पित नहीं समझा जाता, तब तक उससे भय होता ही रहता है। उस भय से मोक्ष (छुटकारा) तब ही हो सकता है, जब हम उस कल्पित सर्प को कल्पित ही समझ लें। ठीक इसी प्रकार जब तक संसार कल्पित समझ में नहीं आता तब तक ही भय, हर्ष, शोक, जन्म, मरण इत्यादि दुःख प्रतीत होते हैं। इन दुःखों से मोक्ष तब ही हो सकता है, जब हम इस कल्पित संसार को कल्पित ही समझ लें। यद्यपि यह दुःख रूप बंधन कल्पित है, और इससे मोक्ष को प्राप्त करना भी कल्पित ही है, तथापि जैसे सपने के कल्पित शेर की निवृत्ति के लिए कल्पित बन्दूक की ही आवश्यकता होती है, इसी प्रकार इस कल्पित संसार की निवृत्ति के लिये (कल्पित संसार को कल्पित समझने के लिये) भी कल्पित गुरु के कल्पित उपदेश की ही आवश्यकता है।

इस बात को समझाने के लिए मैं तुम्हें एक अगृध देव की कथा सुनाता हूँ। जिस प्रकार तुम्हें इस जाग्रत सपने में सब पदार्थ सच्चे प्रतीत हो रहे हैं, और मैं जीव हूँ, मैं कर्त्ता भोक्ता हूँ, मैं दुःखी हूँ, ऐसा मान कर दुःख से छुटने के लिए गुरु को खोजते खोजते मेरे पास पहुँचे हो, इसी प्रकार वह अगृध देव भी सपने में सपने के संसार को सच्चा समझ कर और अपने आप को एक जलते हुए वन में भटकता हुआ देख कर, व अपने को चांडाल समझ करके दुःखी होकर सोचने लगा कि "किस प्रकार मैं इस जलते हुये वन से बाहर

निकलूँ, अथवा कम से कम इस चांडालपने से छूट कर देवता रूप में अगृध (इच्छा रहित) देव होकर रहूँ।

ऐसा सोचते २ उसको किसी सज्जन ने कहा कि "ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने वाले आचार्य अपने शिष्यों का उद्धार करते हैं अर्थात् अपने शिष्यों को इस जलते हुए वन से बाहर निकाल देते हैं।" ऐसा सुन कर वह ब्रह्मनिष्ठ व ब्रह्मश्रोत्रिय गुरु की खोज में निकला। खोजते खोजते उसको सपने में वैसा ही ब्रह्मज्ञानी गुरु मिल गया। उस गुरु को नमस्कार करके तथा विधि पूर्वक आज्ञा मांग कर उस अगृध देव ने तीन प्रश्न किये:—

(१) मैं कौन हूँ ?
(२) संसार का कर्त्ता कौन है ?
(३) मुक्ति का हेतु (साधन) ज्ञान है अथवा कर्म है वा उपासना, है, अथवा इनमें से कोई दो हैं वा तीनों ही हैं ?

पहिले प्रश्न का अभिप्राय यह है कि-हे भगवन् ! मैं कौन हूँ ? मैं शरीर हूँ, अथवा शरीर से भिन्न हूँ ? यह संशय मुझे इसलिये हो रहा है कि मुझे, 'मैं मनुष्य हूँ और मेरा मनुष्य का शरीर है,' इस प्रकार की दो प्रतीतियाँ (ज्ञान) हो रही हैं। यदि आप कहो कि मैं शरीर से भिन्न हूँ, तो मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ अथवा अक्रिय (क्रिया रहित) हूँ। यदि अक्रिय कहो तो भी मैं सभी शरीरों में एक ही हूँ अथवा नाना (अनेक)

हूँ। इस पहिले प्रश्न के अभिप्राय को समझ कर वे सपने वाले कल्पित गुरु, उस कल्पित चांडाल शिष्य को, यह उपदेश देने लगे किः—

"सत् चित् आनंद एक तू, ब्रह्म अजन्म असंग"

अर्थात् हे शिष्य ! तू तो सत् चित् आनन्द स्वरूप और शरीर असत्, जड़ व दुःख रूप है। इसलिये तू शरीर से भिन्न है, और पुण्य पाप कर्मों का भोक्ता भी यही, स्थूल-सूक्ष्म-संघात (स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर ये दोनों) है, तू नहीं। तू तो इन दोनों का साक्षी है। वह साक्षी रूप आत्मा एक है, नाना नहीं। यदि आत्मा कर्त्ता-भोक्ता होता, तो वह अनेक होता; क्योंकि हम देखते हैं कि कोई दुःख भोगता है, कोई सुख भोगता है, अर्थात् दुःख-सुख के भोगने वाले अनेक दीखते हैं। इससे सिद्ध होता है कि पुण्य-पाप के कर्त्ता भी अनेक हैं, किन्तु आत्मा नहीं कर्त्ता है न भोक्ता; अतः वह एक ही है।

शंकाः—स्वामिन् ! जैसे आपने कहा कि आत्मा कर्त्ता-भोक्ता नहीं है, वैसे सांख्य-मत वाले भी आत्मा को कर्त्ता-भोक्ता नहीं मानते, फिर आप में और उन में क्या अन्तर है ?

उत्तरः—यह ठीक है कि सांख्य मत वाले भी आत्मा को कर्त्ता भोक्ता नहीं मानते; किन्तु अन्तर (भेद) यह है कि हम (वेदान्ती) तो आत्मा को एक मानते हैं और सांख्य-मत-वादी आत्मा को अनेक मानते हैं।

शंकाः—स्वामीजी ! मुझे सांख्य मत का पूरा ज्ञान नहीं है, कृपया जब प्रसंग छिड़ा है तो सांख्य मत का भी थोड़े में वर्णन कीजिये ।

उत्तरः—सांख्य मत में सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की समान (बराबर) अवस्था को प्रधान कहते हैं। वह प्रधान जब महत्तत्त्व का उपादान-कारण बनती है, तब प्रकृति कहलाती है और जब उसका कार्य रूप से परिणाम (परिवर्तन) होता है, तब उस कार्य को विकृति कहते हैं ।

(१) इस मत में २५ तत्त्व माने जाते हैं, जिनको पदार्थ भी कहते हैं। वे ये हैं:—

महत्तत्व, अहंकार, पांच तन्मात्रा, पांच महाभूत, दश इन्द्रियाँ, मन, प्रकृति और पुरुष । (२) सांख्य वादी ईश्वर को नहीं मानते (३) प्रकृति स्वतंत्र रूप से (बिना चेतन की सहायता के ही) जगत् का कारण है (४) पुरुष के भोग और मोक्ष के निमित्त प्रकृति ही प्रवृत्त होती है, न कि पुरुष । (५) प्रकृति का जो विषय रूप से परिणाम (परिवर्तन) होता है, उससे पुरुष को भोग-प्राप्ति होती है । (६) बुद्धि द्वारा जो प्रकृति का विवेक रूप से परिणाम होता है, उससे मोक्ष होता है अर्थात् जब प्रकृति और पुरुष का विवेक (विवेचन) होता है, तभी मोक्ष होता है। (७) यद्यपि पुरुष असंग है, उसमें भोग (बंधन) और मोक्ष नहीं बन सकता तो भी जिस बुद्धि के ज्ञान, सुख, दुःख, राग व द्वेष

इत्यादि रूप से कई परिणाम होते हैं, उस बुद्धि का आत्मा से अविवेक है अर्थात् उस बुद्धि को और आत्मा को अलग नहीं समझते। इसीलिए ही आत्मा में कल्पित बंधन और मोक्ष बनता है किन्तु वास्तव में नहीं है। (८) अविवेक से आत्मा में भोग प्रतीत होने के कारण ही आत्मा को सांख्य मत में भोक्ता माना जाता है। (६) वस्तुतः आत्मा भोक्ता नहीं, किन्तु बुद्धि ही भोक्ता है। (१०) बुद्धि आत्मा से भिन्न है। (११) इस प्रकार के ज्ञान को विवेक कहते हैं। (१२) इस प्रकार के ज्ञान के अभाव को (नहीं होने को) अविवेक कहते हैं। (१३) इस रीति से सांख्य मत में आत्मा असंग है। (१४) सुख दुःख आदि बुद्धि के परिणाम (परिवर्तित रूप) होने के कारण बुद्धि के ही धर्म हैं। और (१५) आत्मा नाना (अनेक) हैं।

हे शिष्य! यह जो तुमने सांख्य मत सुना, इस मत में प्रकृति को जड़ कह कर फिर यह कहना कि प्रकृति स्वतन्त्र रूप से अर्थात् बिना चेतन की सहायता के ही जगत् को उत्पन्न करती है अर्थात् जगत् के रूप में परिणत होती है (बदलती है), यह ठीक नहीं; क्योंकि बिना चेतन के सम्बन्ध के, केवल जड़ से कभी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। अतः सांख्य मत वालों को ऐसा मानना चाहिये कि प्रकृति-(माया)-विशिष्ट-(सहित)-चेतन, जो ईश्वर है, वही संसार का कर्त्ता है। यों ईश्वर को अंगीकार कर लेने से सांख्य मत में दोष नहीं आएगा। और आत्मा को अनेक मानना भी

निष्फल व युक्ति-हीन (बेदलील) है; क्योंकि वे सुख-दुःख व बन्धन-मोक्ष आदि को, यदि आत्मा के धर्म मानते होते तब तो यह उनका दलील ठीक हो सकता था कि "यदि आत्मा एक होता, तो एक के सुखी, दुःखी, बद्ध (बन्धा हुआ), अथवा मुक्त होने से सभी सुखी, दुःखी, बद्ध अथवा मुक्त हो जाते; परन्तु ऐसा होता नहीं; अतः आत्मा एक नहीं किन्तु अनेक हैं।" किन्तु यह उनका कहना ठीक नहीं; क्योंकि उनके मत में (सांख्य मत में) भी ये सुख, दुःख, बन्धन व मोक्ष इत्यादि सब धर्म बुद्धि के ही माने जाते हैं न कि आत्मा के। यदि वे सुख-दुःख आत्मा के धर्म मानते तब तो आत्मा में अनेकपना सिद्ध कर सकते; अतः ये सुख-दुःख इत्यादि धर्म बुद्धि के मान कर बुद्धि को ही अनेक मानना ठीक है, न कि आत्मा को। आत्मा को अनेक मानना युक्ति-हीन होने के कारण, एक ही मानना उचित है।

और सांख्य मत में आत्मा को अनेक मानने से एक आत्मा का दूसरी आत्माओं से सजातीय-सम्बन्ध तथा प्रकृति को नित्य मानने से आत्मा का प्रकृति के साथ विजातीय-सम्बन्ध (संग) हो जाने से आत्मा असंग कैसे सिद्ध हो सकेगा। और इस प्रकार आत्मा में संग सिद्ध हो जाने के बाद फिर आत्मा को असंग कहना, सांख्य मत में व्याघात दोष अर्थात् उल्टा कथन है; जैसे कोई कहे कि मेरा पिता बालब्रह्मचारी है। अतः सांख्य मत में आत्मा को असंग मानना तभी

सही हो सकता है, जब आत्मा को अनेक न मान कर एक ही माना जाय तथा प्रकृति को नित्य न मान कर असत् ही माना जाय।

शंका :– स्वामीजी ! जिस प्रकार सांख्य मत में आत्मा को अनेक मानना आपने असंगत (युक्ति रहित) कहा; क्या इस प्रकार न्याय मत में जो आत्मा को अनेक मानते हैं वह भी असंगत ही है ?

उत्तर :– हे शिष्य ! यह तुम निश्चय कर लो कि आत्मा को अनेक मानने वाले सभी मत असंगत हैं; क्योंकि आत्मा को अनेक मानना वेद के विरुद्ध व युक्ति-रहित (बेदलील) है।

शंका :– भगवन् ! जिस प्रकार आपने सांख्य मत का थोड़ा परिचय दिया, उसी प्रकार कृपा करके न्याय मत का भी आत्म-सम्बन्धी थोड़ा परिचय करा दीजिये।

उत्तर :– न्याय मत में (१) ज्ञान (२) इच्छा (३) प्रयत्न (४) संख्या (५) परिमाण (६) पृथक्ता (अलगपना) (७) संयोग (८) विभाग (९) सुख (१०) दुःख (११) धर्म (१२) अधर्म (१३) द्वेष और (१४) ज्ञान के संस्कार; ये चौदह गुण जीव रूप आत्मा के (जीवात्मा के) हैं। और इनमें से पहिले वाले आठ गुण ईश्वर में भी हैं। इनमें से पहिले तीन गुण (ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न) ईश्वर में नित्य हैं, और जीव में अनित्य हैं। इस मत में ईश्वर और जीव को व्यापक और

नित्य मानते हुए भी जीव को अनेक मानते हैं। और इस मत में केवल जीव व ईश्वर को ही नित्य नहीं मानते, किन्तु आकाश, काल, दिशा और मन भी नित्य हैं, तथा पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु भी नित्य ही हैं। इनके सिवाय और भी जाति इत्यादि कई पदार्थ न्याय-मत में नित्य माने जाते हैं।

इस मत में इक्कीस प्रकार के दुःखों के नाश को मोक्ष कहते हैं, वे इक्कीस प्रकार के दुःख ये हैं:- एक शरीर, और कान, त्वचा (चमड़ी) आँख, रसना, नाक, व मन; ये छः इन्द्रियाँ तथा इन छः इन्द्रियों के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और संकल्प विकल्प रूप चिन्तन) और इन छः विषयों के ज्ञान तथा सुख और दुःख।

इन इक्कीस प्रकार के दुःखों से छूटना (मोक्ष) तभी होगा, जब भ्रान्ति टूटे। और वह भ्रान्ति टूटेगी तत्त्वज्ञान से; इनके मत में शरीर को आत्मा समझना ही भ्रान्ति है। और शरीर आदि सब पदार्थों से आत्मा को भिन्न समझना ही तत्त्व-ज्ञान कहलाता है। और इसी तत्त्वज्ञान से मोक्ष को प्राप्त करने की परम्परा (सिलसिला) यह है :— तत्त्वज्ञान से "मैं ब्राह्मण हूँ, मैं मनुष्य हूँ," इस प्रकार की जो शरीर में आत्म-भ्रान्ति होती है, वह नष्ट होगी। आत्म-भ्रान्ति के नष्ट होने पर राग-द्वेष का नाश होगा। राग-द्वेष के न रहने पर धर्म और अधर्म में प्रवृत्ति नहीं होगी। धर्म और अधर्म में प्रवृत्ति न होने से दूसरा जन्म नहीं

मिलेगा और प्रारब्ध का भोग से नाश हो जायगा। जन्म के न मिलने से इक्कीस दुःखों का नाश हो जायगा। और वह इकीस दुःखों का नाश ही मोक्ष है।

इस प्रकार न्याय मत वाले तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष को मानते हुए भी सुख-दुःख और बन्ध-मोक्ष को आत्मा में मानते हैं; और इसी कारण उन्हें आत्मा को व्यापक मानते हुए भी नाना (अनेक) मानना पड़ता है। जैसे अपने (वेदान्त) मत में सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से रहित को व्यापक मानते हैं, वैसे नैयायिक नहीं मानते। वे लोग उसको व्यापक कहते हैं जिसका सभी अल्प (छोटे) पदार्थों से संयोग हो। किन्तु उनका यह मानना ठीक नहीं; क्योंकि यदि आत्मा को व्यापक मान करके अर्थात् सभी शरीर इत्यादि पदार्थों से सम्बन्ध मान करके, और फिर नाना (अनेक) भी माना जायगा तो सब शरीरों से सभी आत्माओं का सम्बन्ध भी मानना पड़ेगा, और ऐसा मानने से कौन सा शरीर किस आत्मा का है, यह निश्चय नहीं हो सकेगा; अपितु प्रत्येक आत्मा का प्रत्येक शरीर हो जायगा, अर्थात् सभी आत्माओं के सभी शरीर हो जायँगे।

यदि नैयायिक यह दलील दें कि जिस आत्मा के कर्मों से जो शरीर उत्पन्न होता है, उस आत्मा का वही शरीर है; तो उनकी यह दलील भी ठीक नहीं; क्योंकि न्यायमत में जब सभी आत्माओं का सभी शरीरों से सम्बन्ध है, तब जिस शरीर द्वारा पहिले

कर्म किये थे, उस शरीर से भी सभी आत्माओं का सम्बन्ध होगा, अतः उस शरीर द्वारा किये हुए कर्म भी सभी आत्माओं के माने जायँगे। ऐसी दशा में किस आत्मा के कर्मों से कौनसा शरीर उत्पन्न हुआ है, यह निश्चय कैसे होगा ? और जब यह निश्चय नहीं हो सकेगा, तब हम कैसे समझ सकेंगे कि किस आत्मा का कौनसा शरीर है; अतः सभी आत्माओं के सभी शरीर हैं, ऐसा ही मानना पड़ेगा। और इस प्रकार जब सभी आत्माओं का सभी मन के साथ सम्बन्ध है, तब कौनसा मन किस आत्मा का है, यह निश्चय भी नहीं होगा; किन्तु सभी आत्माओं के सभी मन हैं, ऐसा ही मानना पड़ेगा। इसी प्रकार सभी इन्द्रियाँ भी सब आत्माओं की हो जायँगी, और सभी पदार्थ भी सभी आत्माओं के हो जायेंगे। और जब किसी एक शरीर में एक आत्मा को मैंपन की बुद्धि होती है (जैसे मैं मनुष्य हूँ, मैं यज्ञदत्त हूँ, इस प्रकार की शरीर में मैं-पन की बुद्धि होती है) और उसी शरीर से यदि सभी आत्माओं का सम्बन्ध है, तब उसी एक शरीर में सभी आत्माओं को मैंपन की बुद्धि होनी चाहिये। इस प्रकार जब सभी मनों से सभी आत्माओं का नैयायिक लोग सम्बन्ध मानते हैं, तब सभी मनों में जो सुख-दुःख होते हैं, उनका अनुभव भी सभी आत्माओं को होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता; इसलिये न्याय मत में आत्मा को अनेक, व्यापक (सभी अल्प पदार्थों से संयोग वाला) और जो कर्त्ता भोक्ता माना जाता

है, वह वेद के विरुद्ध और युक्ति-हीन (बे दलील) होने के कारण ठीक नहीं है।

इसलिये वेदान्त-सिद्धान्ताऽनुसार आत्मा को व्यापक (सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से रहित) और एक ही माना जाता है। और उस आत्मा में यदि धर्म, अधर्म, सुख, दुःख, बन्धन व मोक्ष आदि स्वीकार करेंगे, तो किसी को सुख, किसी को दुःख, किसी को बन्धन, किसी को मोक्ष, यह व्यवहार नहीं बन सकेगा। इसलिये धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, इत्यादि सब धर्म बुद्धि के ही माने जाते हैं, न कि आत्मा के। यद्यपि बुद्धि आत्मा में कल्पित है, इसलिये जो बुद्धि के धर्म हैं, वे भी आत्मा में ही कल्पित हैं किन्तु जो वस्तु जिसमें कल्पित होती है, वह वस्तु उस अधिष्ठान में परमार्थ से (वास्तव में) नहीं होती। जैसे रस्सी में कल्पित सर्प वास्तव में रस्सी में नहीं होता, उसी प्रकार राग-द्वेष, धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, बन्धन-मोक्ष ये सब वास्तव में आत्मा में नहीं हैं। इसलिये आत्मा इन सब धर्मों से रहित, व्यापक और एक है।

जैसे हम देखते हैं कि संसार में उसी वस्तु का नाश होता है, जो परिच्छिन्न (महदूद) होती है किन्तु आत्मा व्यापक है (परिच्छिन्न नहीं किन्तु बेहद है); इसलिये आत्मा का कभी नाश नहीं होता। और जिसका कभी (तीनों कालों में) नाश नहीं होता, उसको सत् कहते हैं। इसलिये आत्मा सत् है।

यदि कोई कहे कि मैंने आत्मा के नाश का अनुभव

किया है (आत्मा के नाश को जाना है) तो हम कहेंगे कि जानने वाला तो फिर भी रह गया, और वही आत्मा है। और उस का (उस साक्षी का) तो नाश हुआ ही नहीं; इसलिये वह साक्षी रूप आत्मा सत् है।

वह आत्मा चित् (चैतन्य) है; क्योंकि चित् कहते हैं प्रकाशरूप ज्ञान को। अन्तःकरण और इन्द्रियाँ तो जड़ हैं, उनसे किसी वस्तु का प्रकाश (ज्ञान) हो ही नहीं सकता। इसलिये आत्मा सबका प्रकाशक होने के कारण प्रकाशरूप (चित् अथवा ज्ञान स्वरूप) ही सिद्ध होता है।

यदि कोई कहे कि आत्मा जड़ है, और ज्ञान केवल उसका गुण है, न कि स्वरूप। तो हम उनसे पूछते हैं कि आप जिस ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हो, वह नित्य है या अनित्य। यदि नित्य कहोगे तो आत्मा का स्वरूप ही मानना पड़ेगा, क्योंकि आत्मा से भिन्न सब वस्तु अनित्य हैं। और यदि ज्ञान को आत्मा से भिन्न मानोगे, तो अनित्य मानना पड़ेगा। इसलिये यह कहना चाहिए कि ज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं, किन्तु आत्मा का ही स्वरूप है। और आत्मा को ज्ञान स्वरूप मान करके फिर जड़ कह देना अपनी बुद्धि की मन्दता को प्रकट करना ही है।

यदि कोई कहे कि ज्ञान आत्मा का गुण तो है, किन्तु नित्य नहीं, अनित्य है तो यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि हम देखते हैं कि जो वस्तुएँ अनित्य होती हैं, वे सब जड़ ही होती हैं, जैसे घड़ा इत्यादि।

और यदि ज्ञान को अनित्य मानकर जड़ स्वीकार कर लोगे, तो जो वस्तु स्वयं जड़ है, वह दूसरे को कैसे जनवा सकती है? इसलिये ज्ञान को अनित्य न मान कर नित्य ही मानना चाहिए।

इतना समझाने पर भी यदि कोई हठ करे कि ज्ञान तो अनित्य ही है; तो फिर उसको यह कहना पड़ेगा कि "इन्द्रिय-अथवा अन्तःकरण से ज्ञान उत्पन्न होता है।" किन्तु वह ठीक नहीं; क्योंकि यदि ऐसा होता तो सुषुप्ति (गहरी नींद) में इन्द्रिय अथवा अन्तःकरण आदि के न होने पर भी जो सुख का ज्ञान होता है वह नहीं होना चाहिए।

और अनित्य वस्तु तो कभी होती है और कभी नहीं होती किन्तु ज्ञान तो जाग्रत् में जाग्रत् के पदार्थों का, स्वप्न में स्वप्न के पदार्थों का और सुषुप्ति में आनन्द का, इस प्रकार सदा रहता ही है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान अनित्य नहीं किन्तु नित्य ही है। और वह नित्य ज्ञान आत्मा का स्वरूप ही सिद्ध हो सकता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि आत्मा ज्ञान-स्वरूप अर्थात् चित् (चैतन्य) है।

इसी भाँति आत्मा आनन्द स्वरूप भी है; क्योंकि यदि आत्मा आनन्द स्वरूप न होता तो सुषुप्ति में अथवा समाधि में जहाँ विषयों का नाम भी नहीं है, वहाँ आनन्द का भान न होता। तथा विषय सम्बन्ध से जो आनन्द प्रतीत होता है, वह भी उसी आत्मा रूपी आनन्द का ही प्रतिबिम्ब है; क्योंकि यदि विषयों

में आनन्द होता तो जिस विषय से एक पुरुष को आनन्द आता है, उस विषय से दूसरे को दुःख नहीं होना चाहिए। परन्तु हम देखते हैं कि एक पुरुष को देख कर उसके मित्र को तो आनन्द होता है किन्तु उसके शत्रु को दुःख होता है। यदि कोई कहे कि विषय ही आनन्द रूप हैं तो यह उनका कहना ठीक नहीं; क्योंकि यदि विषय ही आनन्द रूप होते तो जैसा आनन्द भोग के समय आता है, वैसा तृप्ति के बाद भी आना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। हम देखते हैं कि किसी बच्चे को जब तक भूख रहती है, तब तक तो उसे मिठाई से आनन्द आता रहता है किन्तु जब पेट भर कर तृप्त हो जाता है, तब उसी मिठाई से उसको घृणा हो जाती है। यदि मिठाई आनन्द स्वरूप होती तो जैसा आनन्द भूख के समय आता है, वैसा ही तृप्ति के बाद भी आना चाहिये, किन्तु नहीं आता। इसलिए यह मानना चाहिए कि विषय स्वयं आनन्द स्वरूप नहीं हैं; और जो उनमें आनन्द आता है उसका कारण यह है कि जब हमारा मन विषय को भोगते समय विषय में तल्लीन (एकाग्र) हो जाता है, तब उसी एकाग्र मन में आनन्द स्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब (अक्स) पड़ता है। और यह नियम है कि जैसा बिम्ब वैसा प्रतिबिम्ब। अतः आत्मा आनन्द स्वरूप होने के कारण, उसका प्रतिबिम्ब भी आनन्द रूप ही पड़ता है। जिस समय हमें मन विषय में एकाग्र हो जाता है, उस समय हमें

जिस आनन्द की प्रतीति होती है, वह आनन्द तो वास्तव में आत्मा का ही प्रतिविम्ब है अर्थात् प्रतिविम्ब रूप से आत्मा से ही आता है किन्तु अज्ञानी लोग समझते हैं कि यह आनन्द विषय से ही आ रहा है। यदि यह आत्मा, आनन्द स्वरूप न होता तो इसका प्रतिविम्ब भी आनन्द स्वरूप न पड़ता। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा (अपना आप) आनन्द-स्वरूप है।।

यह भी देखा जाता है कि हम संसार में उसीसे प्रेम करते हैं, जो सुखरूप हो; क्योंकि दुःख को तो कोई नहीं चाहता। इससे सिद्ध होता है कि जिसको सब चाहते हैं, उसका नाम आनन्द है। अब हमें देखना है कि हम सब किसको चाहते हैं? वास्तव में हम सब चाहते हैं, अपने आपको; क्योंकि स्त्री को, धन को और पुत्र आदि को भी हम अपने लिए ही चाहते हैं, अधिक क्या कहें, हम संसार के सभी पदार्थों को भी अपने लिए ही चाहते हैं किन्तु अपने आपको और किसी के लिए नहीं चाहते अर्थात् हमारा जो अपने आप में प्रेम है वह दूसरे के लिए नहीं, किन्तु खुद के लिए ही है। इससे सिद्ध होता है कि हम सब अपने आप को ही चाहते हैं। प्रथम हम बतला चुके हैं कि जिसको हम सब चाहते हैं, उसका नाम है आनन्द। इससे यह सिद्ध हुआ कि अपना आप (आत्मा) ही आनन्द स्वरूप है। किन्तु उस आत्मा के आनन्दपने का भान तभी होता है,

जब वृत्ति अन्तर्मुख (एकाग्र) होकर उस आत्मा के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है।

इस प्रकार आत्मा सत चित् आनन्द स्वरूप है, यह सिद्ध हुआ। और यह सत् चित् आनन्द परस्पर भिन्न नहीं, किन्तु एक ही हैं; क्योंकि यदि ये आत्मा के गुण होते तो आपस में भिन्न होते किन्तु ये तो आत्मा के स्वरूप ही हैं, अतः भिन्न नहीं हैं। यह सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा ब्रह्म स्वरूप ही है; क्योंकि वेद ब्रह्म को भी सत चित् आनन्द स्वरूप ही बताता है। अतः आत्मा और ब्रह्म की एकता ही वेद का परम सिद्धान्त है।

यद्यपि जीव और ईश्वर की एकता वाच्य-अर्थ की दृष्टि से नहीं बन सकती; किन्तु जीव-साक्षी (आत्मा) और ईश्वर-साक्षी (ब्रह्म) इन दोनों का तो आपस में अभेद ही है। भेद तो केवल अविद्या और माया रूप उपाधि के भेद से ही प्रतीत होता है। जैसे किसी कमरे में रक्खे हुए घड़े में जो आकाश है, उसका उस कमरे वाले आकाश से (घड़े और कमरे की दृष्टि से) यद्यपि भेद प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में यह घड़े वाला आकाश, उस कमरे वाले आकाश से भिन्न नहीं; ठीक इसी प्रकार आत्मा और ब्रह्म का भी उपाधि की दृष्टि से भेद नजर आता है, किन्तु वास्तव में दोनों एक ही हैं।

श्रुति भी कहती है कि:—"अयमात्मा ब्रह्म" अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है। और "तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव

ब्रह्मात्मैवात्र ह्येव न विचिकित्स्यमित्यों सत्यमात्मैव नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति"। अर्थात् "वही यह सत्य है। आत्मा ब्रह्म ही है और ब्रह्म आत्मा ही है। निश्चय ही इस विषय में कोई संशय नहीं करना चाहिए। हाँ, यह सत्य ही है कि आत्मा ही नृसिंह-देव रूप ब्रह्म है।"

वह ब्रह्म रूप आत्मा अजन्मा अर्थात् जन्म से रहित है; क्योंकि यदि आत्मा का जन्म मानेंगे तो अन्त भी मानना पड़ेगा। यह हम पहिले सिद्ध कर चुके हैं कि आत्मा अनित्य नहीं किन्तु नित्य है। भगवान् ने भी गीता में कहा कि:—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ (गीता २-१२) अर्थात् मैं (तत्पदार्थ परमात्मा) किसी समय नहीं था, ऐसा नहीं; किन्तु सदा मैं था ही। वैसे तुम और ये सब राजा नहीं थे, ऐसा नहीं है; किन्तु थे ही। और भविष्य में भी हम सब नहीं होंगे, ऐसा नहीं है; किन्तु होंगे ही अर्थात् हम सब पहिले भी थे, अब भी हैं, और बाद में भी रहेंगे!

भगवान् ने जो सब को नित्य बतलाया है, वह शरीर की दृष्टि से नहीं, किन्तु आत्मा की ही दृष्टि से। जब आत्मा का आभास (प्रतिबिम्ब) जो सूक्ष्म शरीर में पड़ता है, जिसको चिदाभास कहते हैं, वह भी विदेह-मोक्ष तक नित्य रहता है, तब आत्मा के नित्य-पने को सिद्ध करने के लिए और दलील की तो

आवश्यकता ही क्या है। यदि सूक्ष्म शरीर में आए हुए चिदाभास को विदेह-मोक्ष से पहिले ही अनित्य मान लेंगे, तो ऐसा मानना पड़ेगा कि प्रत्येक जन्म में यह सूक्ष्म शरीर और चिदाभास नया ही उत्पन्न होता है। किन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि यह सिद्धान्त है कि पुण्य पाप का कर्त्ता, और सुख दुःख फल का भोक्ता, चिदाभास ही है। जैसे अभी कोई दो लड़के उत्पन्न हुए हैं, और वे दोनों ही जन्म से सुखी और दुःखी हैं। यह तो सभी मानते हैं कि सुख और दुःख, पुण्य पाप कर्मों का फल है; किन्तु इन अभी उत्पन्न होने वाले बच्चों ने तो कोई पुण्य पाप कर्म किये ही नहीं हैं, फिर उनको सुख दुःख रूपी फल कैसे मिल रहा है। यदि तुम कहो कि पहिले जन्मों के कर्मों का फल है तो इस पर हम कहेंगे कि तुम तो आत्मा तथा सूक्ष्म शरीर में पड़े हुए चिदाभास को भी अन्त वाला मानते हो, इसलिये तुम्हारे मत में पहिले जन्म में कर्म करने वाला जीवात्मा (चिदाभास अंश) तो मर चुका, अब यह दूसरा नया उत्पन्न हुआ है। ऐसी दशा में यह सिद्ध होता है कि कर्म तो किया किसी एक ने, और उसका फल मिल रहा है किसी दूसरे को; जो कि वास्तव में अन्याय है। इस अन्याय को हटाने के लिए यदि तुम यह कहो कि जो चिदाभास पहिले जन्म में था, वही इस जन्म में भी है, और वही आगे जन्म में भी अपना फल भोगता रहेगा; तो इस कथन से यह प्रतीत होता है कि तुमने चिदाभास

(चेतन के आभास) को नित्य मान लिया। और जब चिदाभास नित्य है तो फिर जिस चेतन का आभास पड़ता है, उस चेतन आत्मा को तो नित्य मानना ही पड़ेगा।

और यदि तुम हठ करो कि नहीं; आत्मा का जन्म होता है तो फिर आत्मा की उत्पत्ति का कारण बताओ; क्योंकि किसी भी वस्तु के जन्म में कोई न कोई कारण अवश्य होता है। आत्मा की उत्पत्ति में स्वयं आत्मा को तो कारण मान ही नहीं सकते; क्योंकि कोई भी वस्तु स्वयं अपने आप अपना कारण नहीं बना करती। जैसे कोई भी पुरुष अपने आप अपना पिता नहीं बन सकता; अतः तुम्हें आत्मा से भिन्न अनात्मा (कल्पित नाम रूप) को आत्मा का कारण मानना पड़ेगा। किन्तु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि कल्पित वस्तु अधिष्ठान की उत्पत्ति में कारण नहीं बन सकती। जैसे रस्सी में कल्पित साँप रस्सी को उत्पन्न नहीं कर सकता; ठीक इसी प्रकार आत्मा में कल्पित नाम रूप अनात्मा, कभी आत्मा के जन्म (उत्पत्ति) में कारण नहीं बन सकता। इस प्रकार जब आत्मा की उत्पत्ति में कोई भी कारण सिद्ध नहीं हो सकता, तो इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा अजन्मा (जन्म से रहित अर्थात् उत्पत्ति से रहित) नित्य है। इसी कारण आत्मा को जन्मादिक छः विकारों से रहित मानते हैं; क्योंकि जिसका जन्म नहीं होता, उसका प्रकट होना, बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट होना भी नहीं होता।

वह सब विकारों से रहित निर्विकार आत्मा ही ब्रह्म अर्थात् सर्वत्र व्यापक है।

शंका:-भगवन्! यदि वह आत्मा सर्वत्र व्यापक है तो दिखता क्यों नहीं है?

उत्तर :-हे! तात (प्रिय)! वह आत्मा इन चर्म-चक्षु से नहीं दीखता, किन्तु ज्ञान-चक्षु के प्रदान करने से अर्थात् समझाने से ही दीखता है (समझ में आता है)।

देखिये इस संसार में जितनी वस्तुएँ नजर आती हैं, उन सब के पांच अंश हैं। (१) नाम (वाचक-शब्द = बतलाने वाला जैसे घड़ा, पुस्तक इत्यादि) (२) रूप (आकार) (३) अस्ति (हैपन) (४) भाति (प्रतीति अथवा ज्ञान) (५) प्रिय (जो प्यारा लगे)। जैसे यह पुस्तक ही तुम्हारे सामने है। इसमें भी पांचों अंश मौजूद हैं; जैसे इसका 'पुस्तक' यह नाम भी है। जो सामने दीख रहा है यह आकार भी है। और "पुस्तक है" इस प्रकार है पन भी मौजूद है और इसका ज्ञान भी हो रहा है तथा यह किसी न किसी को प्रिय भी है इनमें पहिले वाले जो दो अंश नाम और रूप हैं, वे तो बदलके रहते हैं. इसलिए नाम और रूप का दर्शन माया का दर्शन कहलाता है और इस पुस्तक में जो अस्ति (हैपन) भाति (ज्ञान) व प्रिय अर्थात् प्रियता नजर आ रही है, यही आत्मा का

दर्शन है। नाम, रूप यद्यपि सब के भिन्न भिन्न हैं, किन्तु अस्ति, भाति और प्रिय ये तीनों सभी में एक ही रूप से व्यापक हैं। इसीलिए हे शिष्य! अस्ति भाति प्रिय रूप आत्मा (सत् चित् आनन्द रूप आत्मा) को सर्वत्र व्यापक माना जाता है।

उस आत्मा का किसी के साथ कोई संग (सम्बन्ध) न होने के कारण, उसे असंग भी कहते हैं। क्योंकि सम्बन्ध तीन प्रकार के होते हैं; (१) सजातीय-जैसे एक शरीर का दूसरे शरीर से (२) विजातीय-जैसे शरीर का घड़े से (३) स्वगत-जैसे शरीर का अपने अवयवों (अंगों) से।

आत्मा में सजातीय सम्बन्ध तो तब होता, जब आत्मा एक से अधिक होते। और विजातीय सम्बन्ध तब बन सकता, जब आत्मा से विजातीय अनात्मा कोई सच्चा होता किन्तु अनात्मा तो कल्पित है। उस कल्पित अनात्मा का आत्मा से विजातीय सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। और स्वगत सम्बन्ध भी तभी सिद्ध हो सकता, जब आत्मा के कोई अवयव होते किन्तु आत्मा तो निरवयव है, अतः स्वगत सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। इस प्रकार जब आत्मा का किसी के साथ कोई सम्बन्ध (संग) ही नहीं बनता, तो इससे सिद्ध होता है कि आत्मा असंग है।

इस प्रकार हे शिष्य! श्रुति सम्मत युक्तियों से सिद्ध किया हुआ सच्चिदानन्द ब्रह्म रूप, जन्मादि

छः विकारों से रहित और असंग जो आत्मा है, वही तू है अर्थात् वही तेरा असली स्वरूप है। यहाँ अगृधदेव के "मैं कौन हूँ" इस पहिले प्रश्न का उत्तर समाप्त हुआ।

अगृधदेव के दूसरे प्रश्न का यह अभिप्राय था कि हे भगवन्! हम देखते हैं कि जितने भी इस संसार में पदार्थ हैं, उनका कोई न कोई कर्त्ता (बनाने वाला) होता ही है, जैसे घड़े का कुम्हार। इसी भाँति इस संसार का भी तो कोई न कोई कर्त्ता होना ही चाहिये। अतः कृपा करके बताइये कि संसार का कर्त्ता कौन है?

इस प्रश्न को सुन कर स्वप्न वाले गुरुजी उसी स्वप्न अवस्था में अगृधदेव को कहने लगे कि हे शिष्य! माया-विशिष्ट-चेतन [एक माया, दूसरा शुद्ध-चेतन, तीसरा उस चेतन का आया हुआ माया में प्रतिबिम्ब (अक्स) ये तीनों] जिसे ईश्वर कहते हैं, वही इस जगत् का कर्त्ता है अर्थात् वही इस संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार करता है। और वह ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, स्वतंत्र और व्यापक है। यद्यपि वैसे तो जीव का लक्ष्य-अर्थ अर्थात् असली स्वरूप शुद्ध चेतन, साक्षी आत्मा भी व्यापक ही है और जीव के लक्ष्य अर्थ का ईश्वर के लक्ष्य-अर्थ से अभेद (एकता) है; किन्तु अविद्या-विशिष्ट-चेतन (एक अविद्या, दूसरा शुद्ध-चेतन और तीसरा उस चेतन का अविद्या में आया हुआ प्रति-

बिम्ब ये तीनों) जो जीव का वाच्य-अर्थ है, वह तो अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, पराधीन और एकदेशी (परिच्छिन्न अर्थात् हद वाला) है।

शंका:--भगवन् ! जैसे जीव एकदेशी है, वैसे ईश्वर भी एकदेशी अर्थात् हद वाला क्यों नहीं माना जाता?

उत्तर:--हे शिष्य ! हम देखते हैं कि जो पदार्थ हद वाले होते हैं, उनका नाश भी होता है और जिनका नाश होता है, उनको उत्पन्न करने वाला भी कोई न कोई अवश्य होता ही है। अतः यदि ईश्वर को भी हद वाला और नाश वाला मान कर, उत्पन्न होने वाला मानोगे तो फिर ईश्वर को उत्पन्न करने वाला कौन है; यह प्रश्न खड़ा होगा। यदि यह कहा जाय कि ईश्वर अपने आप ही अपना कर्त्ता (उत्पन्न करने वाला) है, तो आत्माश्रय-दोष आ जायगा; क्योंकि कोई अपने आप ही अपना पिता (उत्पन्न करने वाला) नहीं बन सकता।

यदि कहो कि नहीं, इस ईश्वर का कोई दूसरा ईश्वर कर्त्ता (जनक) है। तो फिर उस दूसरे ईश्वर का भी कोई तीसरा ईश्वर कर्त्ता मानना पड़ेगा। यदि कहो कि नहीं, पहिले वाले ईश्वर का दूसरा ईश्वर कर्त्ता है, और दूसरे ईश्वर का पहिला ईश्वर कर्त्ता है। तो अन्योन्याश्रय-दोष आजायगा; क्योंकि कोई दो मनुष्य आपस में एक दूसरे के पिता नहीं बन सकते।

फिर यदि कहो कि दूसरे ईश्वर का कर्त्ता कोई तीसरा ईश्वर है। तो फिर हम पूछेंगे कि उस तीसरे ईश्वर का कर्त्ता कौनसा ईश्वर है। यदि कहो कि तीसरे का तो पहिले वाला ईश्वर ही कर्त्ता है, तो चक्रिका-दोष आ जायगा; क्योंकि पहिले ईश्वर का कर्त्ता दूसरा ईश्वर, और दुसरे का तीसरा, फिर तीसरे का पहिला, इस तरह तो चक्र घूमता रहेगा। यदि इस दोष को हटाने के लिए यह कहो कि तीसरे ईश्वर का कर्त्ता चौथा ईश्वर है। तब यों तुम दूसरा दूसरा ईश्वर कर्त्ता बताते जाओ, और हम पूछते जायँगे। इस तरह तो अनवस्था दोष हो जायगा।

यदि कहो कि अनवस्था हो जाय तो इससे क्या हानि है; क्योंकि हम तो उन सब ईश्वरों में से किसी एक को ईश्वर मान लेंगे तो यह ठीक नहीं; क्योंकि बिना किसी युक्ति व प्रमाण के किसी चीज को मान लेना भी एक विनिगमन-विरह नाम का दोष कहलाता है। तुम यदि अपना हठ न छोड़ते हुए फिर भी यह कहो कि जो ईश्वरों की अनवस्था अर्थात् एक धारा चली थी, उसको हम कहीं समाप्त करके अन्त वाले को जगत् का कर्त्ता ईश्वर मान लेंगे और पीछे वालों का अपने आप लोप (अभाव) हो जायगा; तो ऐसा कहना भी प्राग्लोप नामक दोष कहलाता है; क्योंकि पहिले धारा चला कर फिर एक को मान कर और बाकी का लोप करना निरर्थक ही है।

इस प्रकार ईश्वर का कर्त्ता मानने से जब दोष

ही आते हैं तो इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर की उत्पत्ति नहीं होती। और जब उत्पत्ति ही नहीं होती तो उसका नाश भी नहीं हो सकता। और जब नाश-रहित ही मानते हैं तो फिर एकदेशी अर्थात् हद वाला न मान कर व्यापक ही मानना पड़ेगा; क्योंकि जो हद वाला होता है उसका तो नाश हो ही जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत् का कर्त्ता ईश्वर व्यापक और नित्य है। यह दूसरे प्रश्न का उत्तर समाप्त हुआ।

अगृध देव का तीसरा प्रश्नः—स्वामिन्! "मोक्ष का साधन ज्ञान है अथवा कर्म है, या उपासना (भक्ति) है वा इनमें से कोई दो हैं?

उत्तरः—हे शिष्य! मोक्ष का साधन केवल एक ज्ञान ही है; न कर्म, न उपासना और न कर्म उपासना दोनों हैं; क्योंकि यह संसार का बन्धन कल्पित है और कल्पित वस्तु की निवृत्ति तो केवल अधिष्ठान के ज्ञान से ही हुआ करती है, न कि कर्म और उपासना से। जैसे रस्सी में कल्पित साँप किसी भी नमस्कार इत्यादि कर्म से अथवा भक्ति से निवृत्त नहीं हो सकता, किन्तु उसके अधिष्ठान रस्सी के ज्ञान से ही केवल निवृत्त हो सकता है; उसी प्रकार यह मिथ्या (कल्पित) संसार भी इसके अधिष्ठान ब्रह्मरूप आत्मा के ज्ञान से ही निवृत्त हो सकता है, न कि किसी कर्म और उपासना से। वेद भी कहता है कि "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" अर्थात् विना ज्ञान के मुक्ति नहीं हो सकती।

"ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" अर्थात् कैवल्य-मोक्ष तो ज्ञान से ही हो सकता है। "नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय" अर्थात् उस मोक्ष रूप अयन (घर) को प्राप्त करने के लिए दूसरा मार्ग (रास्ता) है ही नहीं। इत्यादि कई जगह वेद ने डण्डे की चोट पर घोषणा करके कहा है कि मोक्ष केवल ज्ञान से ही हो सकता है, न कि कर्म और उपासना से।

और यदि मोक्ष कर्म का फल होता तो अनित्य होता, बल्कि यदि उपासना का भी फल होता तो भी अनित्य ही मानना पड़ता; क्योंकि स्वर्ग इत्यादि जितने भी कर्मों के फल हैं, वे सभी अनित्य हैं। उपासना भी एक प्रकार का मानसिक कर्म है। इसलिए उसके भी जितने फल हैं वे सभी अनित्य होते हैं। मोक्ष तो नित्य है। वेद भी कहता है कि "न स पुनरावर्तते" अर्थात् उस आत्म-ज्ञानी का (मोक्ष प्राप्ति के बाद) फिर जन्म मरण नहीं होता अर्थात् वह मोक्ष नित्य ही प्राप्त होता है।

थोड़ा विचार करके देखें तो कर्म से मोक्ष की प्राप्ति तो हो ही नहीं सकती; क्योंकि कर्म सदा पांच प्रकार के फलों के लिए ही किया जाता है। जैसे:- किसी पदार्थ को उत्पन्न करना हो, अथवा किसी पदार्थ का नाश करना हो, अथवा किसी पदार्थ को प्राप्त करना हो, अथवा किसी पदार्थ का रूप बदलना हो, अथवा किसी पदार्थ का संस्कार करना हो अर्थात् किसी पदार्थ में से मल को हटाना व उसमें गुण को

लाना हो; किन्तु मोक्ष में तो न किसी की उत्पत्ति करनी है, न नाश करना है, न प्राप्ति करनी है, न किसी को बदलना है, और न किसी का कोई संस्कार ही करना है; क्योंकि मोक्ष कहते हैं संसार के जन्म-मरण रूपी दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति को; और ये दोनों फल आत्मा में तो पहिले से ही मौजूद हैं। वेदान्त का श्रवण तो केवल संसार की भ्रान्ति को हटाने के लिये तथा आत्मा (मेरा असली स्वरूप साक्षी) नित्य मुक्त है और इसके मोक्ष के लिए किसी कर्म की आवश्यकता नहीं है; इस बात को समझाने के लिये ही किया जाता है।

यदि समुच्चयवाद के अनुसार कोई कहे कि "मोक्ष का हेतु (साधन) ज्ञान तभी हो सकता है, जब ज्ञान के साथ साथ कर्म और उपासना भी किये जायँ; अथवा ज्ञान की रक्षा के लिए तो कर्म और उपासना अवश्य करने ही चाहियें, तो यह उनका कहना ठीक नहीं; क्योंकि कर्म करने वाला और उपासक (भक्त) ये दोनों यद्यपि अपने आप को शरीर तो नहीं समझते, किन्तु 'मैं कर्त्ता भोक्ता हूँ' इस प्रकार आत्मा को कर्त्ता भोक्ता तो मानते ही हैं। और यह कर्त्ता भोक्ता की भ्रान्ति विद्वान् (आत्मज्ञानी) को तो होती ही नहीं है। तथा जाति, आश्रम, व अवस्था आदिकों की भावनाएँ भी कर्म में हेतु (कारण) पड़ा करती हैं, और ये सब भावनाएँ शरीर में ही हुआ करती हैं, न कि आत्मा में॥

ज्ञानी तो अपने को जब शरीर ही नहीं समझता, तो उसमें जाति, आश्रम, अवस्था आदिकों की भावनाएँ कैसे हो सकती हैं। इससे सिद्ध हुआ कि कर्त्ता-भोक्ता-पन की भ्रान्ति से रहित तथा जाति इत्यादि की भावनाओं से रहित ज्ञानी का कर्मों में (यज्ञ इत्यादि कर्मों में) अधिकार नहीं है अर्थात् यज्ञ इत्यादि कर्म उनके लिए कर्तव्य नहीं हैं।

उपासना भी इस बुद्धि से होती है कि "मैं उपासक (उपासना करने वाला) हूँ और देवता (ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि) उपास्य (उपासना करने योग्य) हैं"। इस प्रकार की द्वैत-बुद्धि ज्ञानी को तो होती ही नहीं; वह तो समझता है कि "शरीर इत्यादि मेरे अथवा देवता के सभी सपने की तरह कल्पित ही हैं, और चेतन सब में एक ही है।" इसलिये आत्मज्ञानी से द्वैतमूलक (द्वैत भावना से होने वाली) उपासना (भक्ति) नहीं हो सकती; क्योंकि अद्वैत-ज्ञान और द्वैत-उपासना का प्रकाश और अंधकार की तरह आपस में विरोध है।

ब्रह्मज्ञान का फल जो मोक्ष है; वह स्वर्ग इत्यादि की तरह अदृष्ट नहीं है, किन्तु नित्य प्राप्त है। यह बंधन तो केवल भ्रान्ति से ही प्रतीत हो रहा है; जिसकी निवृत्ति ब्रह्मज्ञान का दृष्ट फल अर्थात् प्रत्यक्ष फल है।

शंका:—स्वामीजी ! जब मोक्ष केवल ज्ञान से ही होता है तो फिर वेद ने कर्म और उपासना का

वर्णन क्यों किया है ?

उत्तरः-हे शिष्य ! जिस प्रकार अन्न को उत्पन्न करने से पहिले भूमि को ठीक करने के लिये हल इत्यादि चलाने की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार ज्ञान से पहिले चित्त को शुद्ध करने के लिए कर्म और उपासना की आवश्यकता पड़ती है; किन्तु वह आवश्यकता केवल ज्ञान की उत्पत्ति के लिये ही है, न कि मोक्ष के लिए; क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति से पहिले जिस अन्तःकरण में अर्थात् बुद्धि में ज्ञान होता है, उसको शुद्ध करने के लिए कर्म और निश्चल (एकाग्र) करने के लिए उपासना की आवश्यकता है; किन्तु जिसका अन्तःकरण पहिले जन्मों में किये हुए कर्म और उपासना से ही शुद्ध है तो उसको फिर कर्म और उपासना की आवश्यकता नहीं है।

शंकाः-भगवन् ! यद्यपि मोक्ष के लिये कर्म और उपासना की आवश्यकत नहीं है; किन्तु ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होने के बाद उसकी रक्षा के लिये तो कर्म उपासना करने चाहियें कि नहीं ?

उत्तरः-नहीं; क्योंकि कर्म और उपासना से ब्रह्मज्ञान की रक्षा तो नहीं होती, उल्टा उनका आपस में विरोध होने के कारण, कर्म और उपासना से ब्रह्माकार वृत्ति टूटती है और आत्म-चिन्तन की जगह अनात्म-चिन्तन होता है।

शंकाः—भगवन् ! यदि ज्ञानवान् कर्म नहीं

करेगा तो उसे पाप तो नहीं लगेगा ?

उत्तर :—नहीं; क्योंकि किसी कर्म को न करने से पाप नहीं लगता, किन्तु निषिद्ध कर्मों (पाप कर्मों) को करने से ही पाप लगता है। यह बात भाष्यकार श्रीस्वामी शंकराचार्यजी ने कई प्रकारों से बतलाई है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्म न करने से पाप नहीं लगता।

वास्तव में ज्ञानी को पाप व पुण्य कर्मों द्वारा बन्धन (जन्म मरण रूप संसार की प्राप्ति) तो हो ही नहीं सकता; क्योंकि उससे निषिद्ध कर्म (पाप कर्म) तो कभी होते ही नहीं है। इसका कारण यह है कि ज्ञानी, जिज्ञासु-अवस्था में पाप कर्मों को न करने का, तथा निष्काम शुभ कर्मों को करने का अभ्यास करता ही रहता है और वही अभ्यास परिपक्व होकर ज्ञान होने के बाद स्वभाव में परिणत हो जाता है। अतः ज्ञान होने के बाद ज्ञानी की प्रवृत्ति किसी भी दशा के पाप कर्मों में तो हो ही नहीं सकती। जब उसकी पाप कर्मों में प्रवृत्ति ही नहीं होती, तो पाप लगने की तो शंका ही कहाँ है। और शुभ कर्म भी उससे बिना इच्छा के प्रारब्ध-वशात् वा स्वभाव से ही होते रहते हैं, अतः उनका भी लेप (बन्धन) ज्ञानी को नहीं लग सकता।

जब ज्ञान होने पर ज्ञानी का अज्ञान ही नष्ट हो जाता है, तो फिर अज्ञान का कार्य "संसार और कर्म इत्यादि" उसको बन्धन में डाल ही कैसे सकते हैं।

शंका :- स्वामीजी ! अन्य कर्म तो चाहे ज्ञानी न करे, किन्तु वेदान्त का पढ़ना-पढ़ाना और उसका चिन्तन करना भी तो एक कर्म है; उसका करना आवश्यक है या नहीं ।

उत्तर :- हे शिष्य ! वस्तुतः यह कर्म, कर्म नहीं है; क्योंकि जिस कर्म से साक्षात् अकर्म की (मोक्ष की) प्राप्ति होती , वह कर्म भी अकर्म रूप ही है । और यदि इसको चिन्तनरूप कर्म माना भी जाय तो भी कोई हानि नहीं है । किन्तु इसका करना अथवा न करना ज्ञानी की इच्छा पर है, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं । परन्तु जो मन्द ज्ञानी है, अर्थात् जिसका ज्ञान अब तक दृढ़ नहीं हुआ है और संशय अभी रहे हुए हैं, उसके लिये तो आत्म-चिन्तन कर्तव्य है । जिस वेदान्त का उसने पहिले श्रवण किया है, उसका ही केवल वह मनन तथा निदिध्यासन करता रहे । उसे भी कर्म उपासना करने की आवश्यकता नहीं है ।

शंका :- भगवन् ! जिसके मल (पाप कर्म) और विक्षेप (चंचलता) अब तक नष्ट नहीं हुए हैं, किन्तु वेदान्त-श्रवण में लग चुका है उसे तो फिर विक्षेप को हटाने के लिए कर्म उपासना करने चाहियें कि नहीं ।

उत्तर:- नहीं ! उसको वेदान्त श्रवण करने के बाद मनन और निदिध्यासन को छोड़ कर फिर,

पीछे हटने की अर्थात् कर्म और उपासना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह तो श्रवण किये हुए वेदान्त का मनन और निदिध्यासन करता हुआ ही आगे बढ़ता रहे; क्योंकि मनन और निदिध्यासन ही उसके मल और विक्षेप को हटा कर उसमें दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान उत्पन्न कर लेंगे।

शंका :—स्वामीजी ! ज्ञान होने के बाद भी कई ज्ञानी पुरुष कर्म करते हुए दीखते हैं; यदि ज्ञान के बाद कर्म की आवश्यकता नहीं है, तो फिर वे ऐसा क्यों करते हैं ?

उत्तर:—हे शिष्य ! यह तो मैंने तुम्हें पहिले ही बतलाया था कि जिज्ञासु अवस्था में शुभ कर्म करने का जो स्वभाव पड़ जाता है, उसी स्वभाव-वश ज्ञानी कर्म करते हैं, न कि कर्तव्य बुद्धि से। दूसरी बात यह है कि कर्म का सम्बन्ध प्रारब्ध से भी है। जिन ज्ञानियों की प्रारब्ध प्रवृत्ति-प्रधान होती है, वे तो लौकिक कर्म करते ही रहते हैं और जिनकी प्रारब्ध निवृत्ति-प्रधान होती है, वे उन लौकिक कर्मों से उपराम (हटे हुए) हो जाते हैं।

किन्तु ज्ञानी की प्रारब्ध चाहे भोग-प्रधान (प्रवृत्ति-प्रधान जैसे गृहस्थ जनकादिकों की) हो चाहे निवृत्ति-प्रधान (जैसे त्यागी शुकदेव, वामदेव आदिकों की) हो उसके ज्ञान में कोई हानि व मोक्ष में कोई बाधा (रुकावट) नहीं हो सकती।

शंका :—भगवन् ! अब तो मेरी समझ में आ गया

कि कर्म और उपासना से तो केवल मल और विक्षेप ही नष्ट होते हैं, किन्तु अज्ञान रह जाता है। और वह अज्ञान केवल ज्ञान से ही नष्ट हो सकता है। अब भगवन् ! जिस ज्ञान से अज्ञान नष्ट होता है उसका कृपा करके थोड़े में वर्णन कीजिये।

उत्तर :—हे शिष्य ! वह ज्ञान तो मैंने तुम्हें पहिले ही बतला दिया है कि "जगत् का कर्त्ता जो ईश्वर है, वह वास्तव में (असली स्वरूप की दृष्टि से) तुझ से भिन्न नहीं है; क्योंकि तेरा असली स्वरूप भी सत् चित् आनन्द स्वरूप ब्रह्म है और ईश्वर का असली स्वरूप भी सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही है; अर्थात् तू ही शुद्ध ब्रह्म है, तू ही माया की उपाधि से ईश्वर और जीवरूप में दिखाई दे रहा है। तू ही माया की उपाधि से जगत् का कर्त्ता होकर इस दृश्य रूप जगत् को रचता है, तू ही इसका पालन करता है और तू ही इसका संहार करता है; किन्तु तू स्वयं संहार से अर्थात् नाश से रहित है।

इस अर्थ को श्रीनिश्चलदासजी ने कविता में इस प्रकार लिखा है कि:—

दीनता कूँ त्यागि नर, अपनो स्वरूप देखि।
तू तौ शुद्ध ब्रह्म अज, दृश्य को प्रकासी है॥
आपनै अज्ञानतैं, जगत सब तूही रचै।
सर्वको संहार करै, आप अविनासी है॥
मिथ्या परपंच देखि, दुःख जिन आनि जिय।
देवनको देव तू तौ, सब सुखरासी है॥

जीव जग ईस होय, मायासैं प्रभासैं तूही।
जैसैं रज्जु साप सीप, रूप ह्वै प्रभासी है॥

शंका:—भगवन्! मुझ में और ईश्वर में जो भेद दिखाई देता है वह यदि केवल भ्राँति ही है, अर्थात् मुझ में और ईश्वर में यदि कोई वास्तव में अन्तर है ही नहीं तो फिर जीव (मैं) अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् इत्यादि धर्मों वाला और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् इत्यादि धर्मों वाला, क्यों गिना जाता है?

उत्तर:—हे शिष्य! ईश्वर और जीव की जो एकता की जाती है वह वाच्य-अर्थ को लेकर नहीं किन्तु लक्ष्य-अर्थ को ही लेकर की जाती है। और यह जो तुम्हें भेद प्रतीत हो रहा है, वह सारा वाच्य-अर्थ में ही है। अतः भाग-त्याग-लक्षणा से वाच्य-अर्थ के विरोधी भाग (हिस्से) अविद्या और माया को त्याग कर (बुद्धि से मिथ्या समझ करके) उसके अविरोधी भाग की (जीव-साक्षी और ईश्वर साक्षी की अर्थात् शुद्ध चेतन की) ही आपस में एकता की जाती है। इस प्रकार लक्ष्य-अर्थ की आपस में एकता करने से तुम्हें यह शंका नहीं रहेगी; क्योंकि ये सर्वज्ञ और अल्पज्ञ इत्यादि जो धर्म हैं वे सब अविद्या और माया की उपाधि से ही प्रतीत होते हैं। इन उपाधियों के हटते ही वे विरुद्ध धर्म भी प्रतीत नहीं होंगे और फिर शुद्ध चेतन की आपस में एकता अनायास (आसानी से) ही समझ में

आ जायगी।

शंका:-गुरुजी! आपने जो भाग-त्याग-लक्षणा का नाम लिया है; वह पूरा समझ में नहीं आया। अतः लक्षणा किसको कहते हैं, तथा भाग-त्याग-लक्षणा का क्या अर्थ है; यह कृपा करके संक्षेप थोड़े) में समझाइये।

उत्तर:-हे शिष्य! लक्षणा एक प्रकार की वृत्ति है। इस लक्षणा वृत्ति को समझने के लिये पहिले तुम्हें यह समझना चाहिये कि वृत्ति किसको कहते हैं।

शब्द का जो अर्थ से सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध को कहते हैं वृत्ति। वह वृत्ति दो प्रकार की होती है। (१) शक्ति-वृत्ति (२) लक्षणा-वृत्ति।

(१) शक्ति-वृत्ति:—पहिले तुम्हें मैं शक्तिवृत्ति के बारे में कुछ मत बताता हूँ। न्याय मत वाले कहते हैं "कि इस शब्द को सुनने से इसी अर्थ की प्रतीति हो", जैसे अग्नि शब्द को सुनने से जलती हुई आग का ही ज्ञान हो; इस प्रकार की जो ईश्वर की इच्छा है वही शक्ति है। किन्तु सिद्धान्त (वेदान्त) मत तो यह कहता है कि शब्द में जो अर्थ के ज्ञान करवाने का सामर्थ्य (ताकत) है, वही शब्द की शक्ति-वृत्ति है। यह शक्ति केवल शब्दों में ही नहीं होती, किन्तु सभी पदार्थों में निहित (मौजूद) है; जैसे अग्नि में जलाने की शक्ति।

शक्ति, शक्तिमान् से जुदा नहीं हुआ करती; अतः

न्याय मत में ईश्वर की इच्छा को जो पद की शक्ति कहते हैं; वह ठीक नहीं; क्योंकि ईश्वर की इच्छा तो ईश्वर का धर्म है; इसलिए वह ईश्वर की शक्ति हो सकती है, न कि शब्द की; क्योंकि धर्म हो ईश्वर का और शक्ति माने शब्द की, यह असंगत (अनुचित) है।

व्याकरण वाले कहते हैं कि शब्द में जो अर्थ को बतलाने की योग्यता है, वही शब्द की शक्ति है, न कि सामर्थ्य। उनका यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि बिना सामर्थ्य के कभी किसी प्रकार की योग्यता नहीं हुआ करती; और यदि कहो कि असमर्थ शब्द भी अर्थ को बतलाने के लिये योग्य हो सकता है तो हम कहेंगे कि इस वाक्य में तो ऐसा विरोध दिखाई दे रहा है, जैसे कोई कहे कि असमर्थ (नपुँसक) भी अमोघ-वीर्य अर्थात् पुत्र को उत्पन्न करने वाला बन सकता है; क्योंकि जैसे असमर्थ किसी कार्य को करने के योग्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार असमर्थ (सामर्थ्य-रहित) शब्द भी किसी अर्थ को बतलाने के योग्य नहीं बन सकता। इसलिये शब्द में सामर्थ्य को मानना ही पड़ेगा, और वह "सामर्थ्य" ही शब्द की शक्ति है।

पूर्व-मीमांसा के वार्तिककार कुमारिल भट्ट का मत यह है कि शब्द (पद) का अर्थ के साथ जो भेदा-भेद रूप तादात्म्य सम्बन्ध है, वही शब्द की शक्ति है। वे भट्ट इस तादात्म्य सम्बन्ध को भेदाभेदरूप से सिद्ध करने के लिये यह दलील देते हैं कि शब्द

का अर्थ के साथ न केवल अत्यन्त भेद है और न केवल अत्यन्त अभेद ही है; किन्तु भेद भी है और अभेद भी है; इसीलिये शब्द का अर्थ के साथ भेदाभेदरूप तादात्म्य संबन्ध माना जाता है। यदि हम शब्द का अर्थ के साथ केवल अत्यन्त भेद ही मानेंगे तो जैसे अग्नि के उच्चारण करने से उससे अत्यन्त भिन्न जलादि की प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार अंगाररूप अग्नि की भी प्रतीति नहीं होनी चाहिये, किन्तु अग्नि शब्द से अंगाररूप अग्नि की प्रतीति होती है, इसलिये शब्द का अर्थ के साथ केवल भेद नहीं, किन्तु कोई अभेद भी है।

और यदि शब्द का अर्थ के साथ केवल अत्यन्त अभेद ही मानेंगे तो जैसे अग्नि शब्द का अर्थ अंगाररूप अग्नि मुख को जला देती है तो उससे अभिन्न अग्नि शब्द भी मुख को जला देता किन्तु ऐसा होता नहीं; इसलिये अग्नि शब्द का अंगाररूप अर्थ से न तो अत्यन्त भेद है, और न अत्यन्त अभेद ही है; किन्तु भेद और अभेद दोनों हैं।

इसी अभिप्राय से भट्ट, शब्द का अर्थ के साथ भेदाभेदरूप तादात्म्य-सम्बन्ध मानते हैं। वे इसमें प्रमाण भी देते हैं कि जैसे ॐ अक्षर के साथ उसके अर्थरूप ब्रह्म का भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध है; क्योंकि वेद कहता है कि ॐ अक्षर ब्रह्म है, इससे सिद्ध होता है कि ॐ अक्षर का और ब्रह्म का आपस में अभेद है। और लोक में तो भेद सिद्ध ही है; क्योंकि

ॐ अक्षर तो केवल वाणी में है, और ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। इस प्रकार ॐ और ब्रह्म का आपस में भेद भी है और अभेद भी है। इसीप्रकार गुण और गुणी का, जाति और व्यक्ति का, क्रिया और क्रियावान् का तथा उपादान-कारण (जैसे मिट्टी) और कार्य (जैसे घड़ा) इन सब का आपस में तादात्म्य-सम्बन्ध अर्थात् भेदाभेद सम्बन्ध (भेद सहित अभेद) है।

यह भट्ट का मत भी गलत है; क्योंकि भेद और अभेद ये आपस में विरोधी हैं। हम देखते हैं कि जिस वस्तु का किसी वस्तु के साथ यदि अभेद है, तो उस वस्तु का उसी वस्तु के साथ किसी भी प्रकार से भेद सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे घड़े का अपने आपसे अभेद है, और दूसरे से भेद है; किन्तु जिससे भेद है, उससे कभी अभेद नहीं हो सकता और जिस अपने आप से अभेद है, उस अपने आप से कभी भेद नहीं हो सकता। अतः यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि एक वस्तु का भेद और अभेद एक में नहीं हो सकते।

इसलिये वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ), गुण और गुणी, जाति और व्यक्ति, क्रिया और क्रियावान्, कारण और कार्य में भी भेदाभेदारूप तादात्म्य सम्बन्ध मानना ठीक नहीं है; किन्तु भेदाभेद से विलक्षण अनिर्वचनीय तादात्म्य सम्बन्ध ही मानना चाहिये।

शब्द का अर्थ के साथ अनिर्वचनीय सम्बन्ध इसलिये मानते हैं कि उस सम्बन्ध को न केवल भेद रूप कह सकते हैं, न केवल अभेद रूप कह सकते हैं और न भेदाभेदरूप ही कह सकते हैं; क्योंकि पहिले बताए अनुसार यदि शब्द का अर्थ के साथ भेद मानें तो जैसे अग्नि शब्द के उच्चारण से उससे भिन्न जल का ज्ञान नहीं होता, वैसे अङ्गाररूप अग्नि का भी ज्ञान नहीं होना चाहिये; यदि केवल अभेद मानें तो अग्नि शब्द के उच्चारण से मुख जल जाना चाहिए और यदि भेद अभेद दोनों मानें तो ये आपस में विरोधी होने के कारण एक जगह बन नहीं सकते; क्योंकि जहाँ भेद है वहाँ अभेद नहीं और जहाँ अभेद है, वहाँ भेद नहीं।

इसलिये इन तीनों सम्बन्धों से विलक्षण (न्यारा) अनिर्वचनीय तादात्म्य-सम्बन्ध माना जाता है। विलक्षण कहने का तात्पर्य यह है-भेद से विलक्षण है, इस प्रकार कहने से वास्तव भेद से रहित और कल्पित भेद सहित बताया गया और अभेद से विलक्षण कहने से कल्पित अभेद से रहित और वास्तव अभेद सहित बताया गया अर्थात् जो हमें शब्द और अर्थ का भेद नजर आता है वह कल्पित है, और जो अभेद नज़र आता है वह वास्तविक है। इस प्रकार वेदान्त सिद्धान्त में कल्पित भेद सहित वास्तव अभेद, तादात्म्य-सम्बन्ध कहलाता है और इसी को दूसरे शब्दों में अनिर्वचनीय तादात्म्य-सम्बन्ध

कहते हैं।

शंका:—स्वामीजी ! यदि अक्षर का अर्थ के साथ अभेद नहीं है तो फिर "प्रणव अर्थात् ॐ अक्षर ब्रह्म है" यह वेद ने क्यों कहा है ?

उत्तर :—हे शिष्य ! इस वेद के वचन का जो असली तात्पर्य है वह भट्ट के ध्यान में नहीं आया; क्योंकि वहाँ वेद की यह आज्ञा है कि ॐ अक्षर को ब्रह्म रूप समझ करके उपासना करो। और उपासना में यह नियम नहीं है कि जैसी वस्तु हो उसकी उसी रूप से ही उपासना की जाय; क्योंकि शालिग्राम रूपी पत्थर की विष्णुरूप से और नर्मदेश्वर (शिव लिंग) की शिव रूप से उपासना की जाती है। इसलिये ॐ अक्षर यद्यपि ब्रह्म रूप नहीं है, तो भी उसकी ब्रह्मरूप से उपासना की जा सकती है। अथवा यों भी मान सकते हैं कि ॐ अक्षर ब्रह्म में कल्पित है, और कल्पित वस्तु वास्तव में अधिष्ठान से भिन्न नहीं हुआ करती, इस दृष्टि से कल्पित ॐ अधिष्ठान ब्रह्म से भिन्न नहीं है, किन्तु ब्रह्म स्वरूप ही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पद (शब्द) को सुनने से ही जो उसमें अर्थ को जनवाने का अनिर्वचनीय-तादात्म्य-सम्बन्धरूप सामर्थ्य प्रतीत होता है, वही पद की शक्ति है।

वह शब्द की शक्ति-वृत्ति जिस अर्थ को जनवाती है उस अर्थ को शक्य-अर्थ अथवा मुख्य-अर्थ भी कहते हैं; जैसे अग्नि शब्द में रहने वाली शक्ति-वृत्ति (सामर्थ्य)

अंगाररूप अग्नि को जनवाती है अर्थात् अग्नि शब्द का उच्चारण करते ही हमें जिस जलती हुई आग का ज्ञान होता है वह आग, अग्नि शब्द का शक्य-अर्थ है, उसको वाच्य-अर्थ भी कहते हैं। [इस शक्य-अर्थ को शब्द का सीधा सीधा अर्थ भी कहते हैं]।

यदि किसी शब्द के अर्थ का ज्ञान उस शब्द की शक्ति-वृत्ति से न हो सके, किन्तु उस शब्द की शक्ति-वृत्ति के द्वारा जाने हुए शक्य-अर्थ के सम्बन्धी में से ही निकल सके तो उस शक्य-अर्थ के सम्बन्धी को कहते हैं लक्ष्य-अर्थ। जैसे:—किसी ने पूछा कि सत्संग कहाँ होता है ? इस पर उत्तर मिला कि बारहदरी पर। फिर पूछा गया कि वह बारहदरी कहाँ है ? कहा गया कि आनासागर पर। अब यदि 'आनासागर' शब्द का शक्ति-वृत्ति द्वारा शक्य-अर्थ (आनासागर का जल) लिया जायगा तो अर्थ ठीक नहीं निकल सकता; क्योंकि जल पर तो बारहदरी हो ही नहीं सकती; किन्तु यदि उसे शक्य-अर्थ (जल) के सम्बन्धी किनारे को ले लेंगे तब तो अर्थ ठीक बैठ सकता है; क्योंकि जल के किनारे पर बारहदरी बनी हुई है। इस प्रकार अर्थ को सही करने के लिये जो हमने 'आनासागर' शब्द के शक्य-अर्थ का सम्बन्धी किनारा लिया है, वह किनारा 'आनासागर' शब्द का लक्ष्य-अर्थ है।

उस शक्य-अर्थ का जो लक्ष्य-अर्थ से सम्बन्ध है, उसे लक्षणा-सम्बन्ध अर्थात् लक्षणा-वृत्ति कहते हैं।

लक्षणा-वृत्ति का तात्पर्य यह है कि जब कोई

शब्द अपने लक्ष्य-अर्थ को अपनी शक्ति-वृत्ति द्वारा (साक्षात् सम्बन्ध द्वारा अर्थात् सीधी वृत्ति द्वारा) नहीं जनवा सकता, तब अपनी शक्ति-वृत्ति से जाने हुए शक्य-अर्थ के द्वारा सम्बन्ध जोड़ कर ही अपने लक्ष्य-अर्थ को जनवाता है; तो उस समय उस शब्द के उस परम्परा-सम्बन्ध को शब्द की लक्षणा-वृत्ति अथवा परम्परा-वृत्ति (सम्बन्ध) कहते हैं। [जैसे शक्ति-वृत्ति को सीधी वृत्ति कह सकते हैं, उसीप्रकार इस लक्षणा-वृत्ति को टेढी वृत्ति भी कह सकते हैं] इस प्रकार 'आनासागर' शब्द अपने साक्षात् सम्बन्ध से (सीधे सम्बन्ध से) जल को जनवाता है, और परम्परा सम्बन्ध से (जल के द्वारा सम्बन्ध जोड़ कर) किनारे को जनवाता है। तो जिस परम्परा-संबन्ध से वह किनारे को जनवाता है, उस परम्परा सम्बन्ध को कहते हैं 'आनासागर' शब्द का लक्षणा-सम्बन्ध अर्थात् लक्षणा-वृत्ति। इसीलिये कहा जाता है कि 'आनासागर' शब्द की शक्ति-वृत्ति (साक्षात् सम्बन्ध) तो जल में है, और लक्षणा-वृत्ति (परम्परा सम्बन्ध) किनारे में है।

शंकाः—भगवन् ! यह लक्षणा-वृत्ति कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर :—(१) जहति (२) अजहति (३) जहति-अजहति अथवा भाग-त्याग। इस प्रकार से तीन लक्षणा-वृत्तियाँ मानी जाती हैं।

(१) जहति-लक्षणाः—जिस पद में सम्पूर्ण वाच्य-

अर्थ का (शक्य-अर्थ का) त्याग करके केवल शक्य-अर्थ के सम्बन्धी का ही ग्रहण हो, उस पद में जहति-लक्षणा मानी जाती है। इसको समझाने के लिये पहिले आनासागर पर स्थित बारहदरी का उदाहरण दे दिया है; क्योंकि वहाँ आनासागर शब्द के शक्य-अर्थ जल को छोड़ कर केवल उसके सम्बन्धी किनारे का ही ग्रहण किया जाता है। इसलिये 'आनासागर' शब्द की किनारे में जहति-लक्षणा मानी जाती है।

(२) अजहति-लक्षणाः—जिस पद में शक्य-अर्थ को न छोड़ कर उसके साथ सम्बन्धी का भी ग्रहण किया जाय, वहाँ अजहति-लक्षणा मानी जाती है। जैसे, कोई व्यक्ति घोड़ों की दौड़ देख रहा था, उसमें एक लाल घोड़ा सब घोड़ों से जब आगे दौड़ने लगा तब वह कहने लगा कि "देखो ! लाल सबसे तेज जा रहा है"। इस वाक्य में लाल शब्द के शक्य-अर्थ लाल रंग को न छोड़ कर उसके सम्बन्धी घोड़े का भी ग्रहण किया जाता है। इसलिये लाल शब्द की घोड़े में अजहति-लक्षणा-वृत्ति मानी जाती है।

(३) भाग-त्याग-लक्षणाः—जिस वाक्य में शब्दों के वाच्य-अर्थ के एक भाग को छोड़ा जाय और एक भाग का ग्रहण किया जाय, वहाँ भाग-त्याग-लक्षणा मानी जाती है। जैसे, किसी ने महात्मा गाँधीजी को देख कर अपने मित्र से कहा कि "ये वही महात्मा गाँधीजी हैं, जिनको मैंने अफ्रीका में देखा था।" तब

मित्र ने कहा कि "वह अफ्रीका देश था और यह भारत देश है, वहाँ आपने सूट कोट इत्यादि पाश्चात्य वेष धारण किये हुए तथा वकालात करते हुए देखा था और यहाँ साधारण खद्दर की धोती पहिने हुए भाषण देते हुए देख रहे हो। इतना अंतर होने के कारण ये वही महात्माजी कैसे बन सकते हैं" ? तब उन्होंने कहा कि "भाई मैं तो बोलते समय भाग-त्याग-लक्षणा वृत्ति को ध्यान में रखता हुआ ही बोल रहा था अर्थात् मेरे शब्दों में जो शक्य-अर्थ का विरोधी भाग था जैसे, अफ्रीका और भारत, पाश्चात्य वेष और भारतीय वेष, इन पर से दृष्टि हटाता हुआ केवल (महात्मा गाँधीजी जो दोनों शब्दों में समान था) को ही ध्यान में लाकर बोल रहा था।" इसी प्रकार जिस वाक्य में विरोधी वाच्य-अर्थ को छोड़ कर केवल अविरोधी वाच्य-अर्थ को ही लिया जाता है वहाँ भाग-त्याग-लक्षणा मानी जाती है।

शंकाः—भगवन् ! इस लक्षणा वृत्ति को समझाने का प्रयोजन (फल) क्या है ?

उत्तरः—हे शिष्य ! लक्षणा वृत्ति तो मैंने तुम्हें इसलिए समझाई है कि तुम चारों वेदों के चारों महा-वाक्यों का भाग-त्याग-लक्षणा द्वारा संशोधन (छान-बीन) करके सही अर्थ समझ सको।

शंकाः—प्रभो ! कृपा करके चारों वेदों के चारों महावाक्य सुनाइये।

उत्तर:—(१) साम वेद की छांदोग्य उपनिषद् का महावाक्य "तत्त्वमसि" है।

(२) अथर्वण वेद की माण्डूक्य उपनिषद् का महावाक्य "अयम् आत्मा ब्रह्म" है।

(३) यजुर्वेद की बृहदारण्यक उपनिषद् का महावाक्य "अहं ब्रह्मास्मि" है। और

(४) ऋग्वेद की ऐतरेय उपनिषद् का महावाक्य "प्रज्ञानम् ब्रह्म" है।

हे शिष्य! इन चारों महावाक्यों के अन्दर भाग-त्याग-लक्षणा करने के लिए, पहिले इनके अन्दर जो जीव-वाचक और ईश्वर-वाचक शब्द हैं, उनके वाच्य-अर्थ और लक्ष्य-अर्थ को जानना पड़ेगा।

शंका:—स्वामीजी! इन चारों महावाक्यों में ईश्वर-वाचक शब्द और जीव-वाचक शब्द कौन से हैं?

उत्तर:—"तत् त्वम् असि" महावाक्य में 'तत्' शब्द और बाकी तीन:महावाक्यों में 'ब्रह्म' शब्द ईश्वर का वाचक है। जीव के वाचक शब्द चारों वाक्यों में अलग अलग हैं; जैसे त्वम्, प्रज्ञानम्, अहम् और आत्मा।

शंका:—भगवन्! जीव और ईश्वर का वाच्य-अर्थ और लक्ष्य-अर्थ भी कृपा करके बतलाइये।

उत्तर:—हे शिष्य! वैसे तो जीव और ईश्वर

के वाच्य स्वरूप का वर्णन करने वाले और भी कई वाद हैं, किन्तु मैं तुम्हें प्रधान तीन वाद सुनाता हूँ ।

(१) अवच्छेद-वाद (२) प्रतिबिम्ब-वाद (३) आभास-वाद ।

(१) अवच्छेद-वादः—अवच्छेद-वाद के अनुसार शुद्ध-सत्त्वगुण-सहित-माया से विशिष्ट (मिला हुआ) चेतन, ईश्वर का वाच्य स्वरूप (शक्य-अर्थ) कहलाता है; और मलिन-सत्त्वगुण-सहित-अन्तःकरण के उपादान-कारण अविद्या के अंश से विशिष्ट चेतन, जीव का वाच्य स्वरूप (शक्य-अर्थ) कहलाता है ।

(२) प्रतिबिम्ब-वादः—प्रतिबिम्ब-वाद के अनुसार, अज्ञान में जो चेतन का प्रतिबिम्ब है वह जीव का वाच्य स्वरूप है; और जिस चेतन का अज्ञान में प्रतिबिम्ब पड़ता है वह बिम्बरूप चेतन ईश्वर का वाच्य स्वरूप है ।

शंका :—भगवन् ! हम देखते हैं कि जैसा बिम्ब होता है वैसा ही प्रतिबिम्ब पड़ा करता है । जैसे, दर्पण में जैसा हमारा मुख होता है, वैसा ही प्रतिबिम्ब पड़ता है; इसी प्रकार अज्ञान रूपी दर्पण में यदि जीव, ईश्वर का प्रतिबिम्ब है तो फिर ईश्वर में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् इत्यादि धर्म और जीव में अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् इत्यादि धर्म क्यों देखे जाते हैं ।

उत्तरः- हे शिष्य ! यह तुम्हारा कहना सही है; किन्तु कभी कभी यदि दर्पणरूप उपाधि में हरापन, पीलापन, टेढापन, छोटापन इत्यादि दोष होते हैं तो वे दोष प्रतिबिम्ब में भी दीखा करते हैं; इसी प्रकार यहाँ दर्पण की जगह जो अज्ञान है उसी में ही ये अल्पज्ञ इत्यादि दोष हैं जो तुम्हें भ्रान्ति से प्रतिबिम्बरूप जीव में दीखते हैं; तथा जैसे दर्पण के दोष वास्तव में बिम्बरूप मुख में नहीं होते, इसी प्रकार अज्ञान के दोष भी वास्तव में बिम्बरूप ईश्वर में नहीं हैं।

(३) आभास-वादः—आभास-वाद के अनुसार (१) शुद्ध-सत्त्व-गुण-सहित-माया (२) उसका अधिष्ठान सामान्य-चेतन (३) उस चेतन का आया हुआ माया में आभास (अक्स) ये तीनों मिल कर ईश्वर का वाच्य स्वरूप कहलाता है। और (१) अन्तःकरण का उपादान-कारणरूप मलिन-सत्त्वगुण-सहित-अविद्या का अंश (२) उसका अधिष्ठान सामान्य-चेतन (३) उस सामान्य-चेतन का आया हुआ अविद्या में आभास, ये तीनों मिल कर जीव का वाच्य स्वरूप कहलाता है।

ईश्वर की उपाधि माया में शुद्ध सत्त्वगुण होने से ईश्वर में सर्व-शक्ति, सर्वज्ञतादि धर्म हैं और जीव की उपाधि अविद्या में मलिन सत्त्वगुण होने से अर्थात् रजोगुण तमोगुण के बढ़ जाने से, जीव में अल्प-शक्ति अल्पज्ञतादि धर्म हैं।

शंका :-भगवन् ! लोक में तो आभास और प्रतिबिम्ब इन दोनों शब्दों का अर्थ एक (अक्स) ही माना जाता है, फिर विवरण आदि ग्रन्थों में प्रतिबिम्ब-वाद और पंचदशी आदि ग्रन्थों में आभास-वाद ये अलग अलग दो वाद क्यों माने जाते हैं ?

उत्तर:—आभास-वाद और प्रतिबिम्ब-वाद में भेद होने के कारण ही दोनों को भिन्न (अलग) माना जाता है; क्योंकि अभास-वाद वाले कहते हैं कि जैसे दर्पण में जो मुख का आभास (अक्स) पड़ता है, वह गर्दन वाले मुख की छाया होने के कारण मिथ्या है, अर्थात् जो दर्पण में मुख दीखता है वह कल्पित (अनिर्वचनीय) उत्पन्न होता है । इसी प्रकार अज्ञान में जो चेतन का आभास (अक्स) पड़ता है वह चेतन की छाया होने के कारण मिथ्या है, अर्थात् कल्पित (अनिर्वचनीय) ही उत्पन्न होता है ।

किन्तु प्रतिबिम्ब-वाद वाले कहते हैं कि दर्पण में जो मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह मुख की छाया नहीं हो सकती । यदि छाया होती तो मिथ्या कहते; क्योंकि छाया का यह स्वभाव है कि जिस दिशा में छाया वाले पुरुष के मुख और पीठ होते हैं तो छाया का मुख और पीठ भी उसी दिशा में ही हुआ करते हैं; किन्तु दर्पण में जो मनुष्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है उस प्रतिबिम्ब के मुख और पीठ बिम्बरूप मनुष्य के मुख और पीठ से बिल्कुल उल्टे होते हैं । जैसे यदि बिम्बरूप मनुष्य का मुख उत्तर दिशा की तरफ है तो दर्पण वाले प्रतिबिम्ब

का मुख दक्षिण दिशा की तरफ ही दिखाई देता है और यदि बिम्बरूप मनुष्य के दायें हाथ का इशारा पूर्व की तरफ होता है तो प्रतिबिम्बरूप मनुष्य के दायें हाथ का इशारा पश्चिम की तरफ होता है।

इससे सिद्ध होता है कि दर्पण में हमें जो प्रतिबिम्ब दीखता है वह बिम्ब की छाया नहीं, किन्तु उल्टा बिम्ब का ही दर्शन है; क्योंकि यह नियम है कि जब अन्तःकरण की वृत्ति आँख के द्वारा बाहर निकलती है, और यदि सामने दर्पण जैसा कोई स्वच्छ पदार्थ होता है तो वह वृत्ति उससे (दर्पण से) टकरा कर उसी समय वापिस लौट कर गर्दन वाले मुख को ही विषय करती है अर्थात् जनवाती है। अतः यह जो हमें एक ही मुख बिम्बरूप और प्रतिबिम्ब रूप से दीखता है वह केवल दर्पणरूप उपाधि के सम्बन्ध से ही। यदि विचार दृष्टि से देखें तो बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव वास्तव में है ही नहीं। इसी प्रकार अज्ञानरूप उपाधि के सम्बन्ध से ही उसी असंग शुद्ध चेतन में बिम्ब की जगह ईश्वरपन और प्रतिबिम्ब की जगह जीवपन प्रतीत होता है किन्तु विचार दृष्टि से यदि देखें तो ईश्वर-भाव और जीव-भाव वास्तव में है ही नहीं अर्थात् जैसे दर्पण की उपाधि को हटाने से मुख का बिम्बपन और प्रतिबिम्बपन नष्ट हो जाता है, अतः मिथ्या है। इसी प्रकार अज्ञान की उपाधि को हटाने से चेतन का ईश्वरपन और जीवपन भी नष्ट हो जाता है, अतः मिथ्या ही है।

अर्थात् दर्पणरूप अज्ञान (माया) की उपाधि के कारण ही उस शुद्ध चेतन में ईश्वरपन, जीवपन, सर्वज्ञपन व अल्पज्ञपन इत्यादि विरुद्ध धर्म प्रतीत होते हैं अतः वे मिथ्या हैं; वास्तव में उस शुद्ध चेतन में ईश्वरपन, जीवपन, सर्वज्ञपन अल्पज्ञपन इत्यादि कोई धर्म नहीं है किन्तु स्वरूप की दृष्टि से तो विम्ब और प्रतिविम्ब सत्य हैं; क्योंकि दृष्टान्त में प्रतिविम्ब का असली स्वरूप जो विम्बरूप मुख है, वह दर्पण के हटाने पर भी रह जाता है, इसलिये सत्य है और सिद्धान्त में प्रतिविम्ब का असली स्वरूप विम्बरूप जो चेतन है, वह अज्ञान के हटने पर भी रह जाता है इसलिए सत्य है ।

शंका :—भगवन् ! आपके कथनानुसार यह ज्ञात होता है कि प्रतिविम्ब-वाद के मत में प्रतिविम्ब, विम्ब से भिन्न नहीं है । यदि ऐसा है तो फिर जीव में (जो अज्ञान में ईश्वर का प्रतिविम्ब है) ईश्वर से अलगपन और ईश्वर के धर्मों से उल्टे अल्पज्ञतादि धर्म क्यों दीखते हैं ?

उत्तर :—हे शिष्य ! ये अल्पज्ञ इत्यादि धर्म तुम्हें अज्ञान की उपाधि से ही दीखते हैं । जैसे जो दर्पण में मुख दिखाई देता है वह यद्यपि गर्दन वाले मुख से अलग नहीं है, किन्तु जो उसमें गर्दन वाले मुख से अलगपन उल्टापन और दर्पण में स्थितपन इत्यादि प्रतीत होता है वह दर्पण की उपाधि से ही

प्रतीत होता है, वास्तव में नहीं है; ठीक इसी प्रकार जो अज्ञान में जीवरूप से प्रतिबिम्ब प्रतीत हो रहा है वह यद्यपि बिम्बरूप ईश्वर से भिन्न नहीं है, किन्तु जो उसमें ईश्वर से अलगपन उल्टापन (जैसे ईश्वर है सर्वज्ञ तो जीव प्रतीत होता है अल्पज्ञ इत्यादि धर्मों का उल्टापन) और अज्ञान में स्थित-पन इत्यादि प्रतीत होता है, वह सब अज्ञान की उपाधि से ही प्रतीत होता है, वास्तव में नहीं अर्थात् वास्तव में जीव ईश्वर से भिन्न नहीं है, इसलिये जीव स्वरूप से सत्य है, मिथ्या नहीं। इस प्रकार प्रतिबिम्ब-वाद में प्रतिबिम्ब को स्वरूप से सत्य होने के कारण सत्य कहते हैं और आभास-वाद में आभास का स्वरूप छाया होने के कारण आभास को मिथ्या कहते हैं। यह आभास-वाद और प्रति-बिम्ब-वाद मे भेद है।

शंका:-स्वामीजी ! इन वादों में से मैं किसको सही मानूँ ?

उत्तर:-हे शिष्य ! वाद कहते हैं कथन को अर्थात् समझाने के तरीके को, सो ये सभी वाद (कार्य-कारण-उपाधि-वाद, अवच्छिन्न-अनवच्छिन्न-वाद, दृष्टि-सृष्टि-वाद, अवच्छेद-वाद, प्रतिबिम्ब-वाद आभास-वाद इत्यादि सभी-वाद) आत्मा के अद्वैत-पने को, सत्यपने को, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-पने को ही समझाते हैं। अतः जिस वाद से जिज्ञासु को

आत्मा का बोध हो जाय, वही उसके लिये ठीक है। किन्तु 'वाक्य-वृत्ति' और 'उपदेश-सहस्री' में भाष्यकार श्रीस्वामी शंकराचार्यजी ने आभास-वाद ही लिखा है; इसलिए तथा सरल होने के नाते भी आभास-वाद मुख्य माना जाता है।

इस प्रकार तुमने पहिले कहे तीन वादों के अनुसार जीव (त्वं पद) और ईश्वर (तत् पद) का वाच्य-अर्थ समझा। अब इन दोनों के सारे वाच्य-अर्थ की यदि आपस में एकता करें तो बन नहीं सकती; क्योंकि ईश्वर (तत् पद) का जो वाच्य-अर्थ है वह जीव की तरह प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु परोक्ष है और सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सब का प्रेरक, स्वतन्त्र, माया का स्वामी और बन्धन तथा मोक्ष से रहित है।

तथा त्वंपदवाच्य जीव का जो वाच्य-अर्थ है, वह अल्पशक्तिमान्, अल्पज्ञ, परिच्छिन्न (सीमित, हद में आया हुआ) अनीश (जो प्रेरणा नहीं कर सकता) परतन्त्र (कर्म के आधीन) अविद्या से मोहित, बन्ध मोक्ष वाला और अपरोक्ष (प्रत्यक्ष दीखने वाला; क्योंकि सब अपने आपको प्रत्यक्ष जानते ही हैं) है।

शंका:—स्वामीजी! ये जो आपने जीव और ईश्वर के वाच्य-अर्थ सुनाए इनमें तो सचमुच बहुत विरोध दीखता है फिर चारों वेदों के महावाक्यों में जीव ईश्वर की एकता कैसे बताई गई है?

उत्तर:—हे शिष्य! जब किन्हीं दो शब्दों के अर्थों की आपस में एकता करनी होती है, और वह एकता यदि

वाच्य-अर्थ से नहीं हो सकती तो फिर भाग-त्याग-लक्षणा द्वारा वाच्य-अर्थ के विरोधी भाग को छोड़ कर अविरोधी भाग को ही लिया जाता है। और वह दोनों शब्दों का अविरोधी भाग ही लक्ष्य-अर्थ कहलाता है।

जब महावाक्यों के जीव व ईश्वर-वाचक शब्दों की एकता यदि वाच्य-अर्थ से नहीं बनती तब भाग-त्याग-लक्षणा द्वारा वाच्य-अर्थ के जो विरोधी भाग हैं, उनको निकाल देने से जैसे अविद्या और अविद्या-कृत अल्पशक्ति अल्पज्ञतादिक धर्मों को जीव के वाच्य-अर्थ में से, और माया व माया-कृत सर्वशक्ति सर्वज्ञतादि धर्मों को ईश्वर के वाच्य अर्थ में से निकाल लेने पर अर्थात् बुद्धि से अलग समझने पर (मिथ्या समझने पर) जो शेष शुद्ध चेतन भाग रह जाता है, जो जीव और ईश्वर इन दोनों शब्दों का लक्ष्य-अर्थ है उनकी ही आपस में एकता हो सकती है।

इसलिये चारों वेदों के महावाक्यों में जो जीव और ईश्वर की एकता बताई गई है वह लक्ष्य-अर्थ की (जीव-साक्षी और ईश्वर-साक्षी जोकि शुद्ध चेतन है उसकी) दृष्टि से ही बताई गई है; न कि वाच्य-अर्थ की दृष्टि से।

शंका:—भगवन् ! अब आपकी कृपा से मुझे अच्छी तरह से समझ में आ गया कि जीव का जो असली स्वरूप शुद्ध चेतन है वह ईश्वर के असली स्वरूप शुद्ध चेतन से भिन्न नहीं। किन्तु जिस प्रकार मुझे

अपना स्वरूप प्रत्यक्ष दीखता है उस प्रकार मुझे ईश्वर के असली स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव क्यों नहीं होता और जैसे ईश्वर का असली स्वरूप व्यापक है, उस प्रकार मुझे अपना असली स्वरूप भी व्यापक नजर क्यों नहीं आता ?

उत्तरः--हे शिष्य ! यह अनुभव तुम्हें इसलिये नहीं हो रहा है कि तुमने तो केवल अब तक सुना ही है, जब इस का तुम मनन करोगे तब तुम्हें अपने व्यापकपने का अनुभव और ब्रह्म के प्रत्यक्षपने का अनुभव होने लग जायगा। और मनन करने की विधि यानी ओत-प्रोत-भाव अर्थात् अन्वय और व्यतिहार की विधि में तुम्हें बतलाता हूँ।

ओत प्रोत कहते हैं एक दूसरे को आपस में मिलाना अर्थात् अपने को ब्रह्म का स्वरूप समझना, और ब्रह्म को अपना स्वरूप समझना। जब तुम विचारोगे कि "मैं ब्रह्म (व्यापक) हूँ अर्थात् सब जगह अस्ति भाति प्रिय रूप से मैं (शुद्ध चेतन साक्षी) मौजूद हूँ।" इस प्रकार चिन्तन करने से तुम्हें जो अपने में परि-च्छिन्नपने की (महदूदपने की) भ्रान्ति हो रही है वह नष्ट हो जायगी। और जब यह विचार करोगे कि "जो सर्वत्र व्यापक शुद्ध चेतन ब्रह्म है वही मैं हूँ, जो यहाँ शरीर की उपाधि से साक्षी कहलाता हूँ" तो इस प्रकार चिन्तन करने से तुम्हें जो ब्रह्म के परोक्ष-पने की भ्रान्ति हो रही है वह नष्ट हो जायगी।

इसी ओत-प्रोत-भाव को महावाक्य के शब्दों में

इस प्रकार कहा जाता है। मैं ब्रह्म हूँ:—"अहं ब्रह्म।" "प्रज्ञानं ब्रह्म।" "आत्मा ब्रह्म।" और "त्वँ तत्।" मैं ब्रह्म हूँ:—"ब्रह्म अहम्।" "ब्रह्म प्रज्ञानम्।" "ब्रह्म आत्मा।" और "तत् त्वम्।"

हे शिष्य! जब इस प्रकार सपने में अगृधदेव को गुरु ने उपदेश दिया तब वह अगृधदेव सपने वाले उस गुरुजी को कहने लगा कि "भगवन्! आपने मेरे ऊपर अत्यन्त कृपा करके मेरे असली स्वरूप का मुझे बोध कराया है तथा महावाक्य द्वारा मेरे असली स्वरूप की (आत्मा की) और ब्रह्म की एकता भी समझाई किन्तु फिर भी मैं अपने आपको अब तक इन वन के दुःखों से मुक्त नहीं समझ रहा हूँ। वेद कहता है कि "तरित शोकम् आत्मवित्" अर्थात् आत्मज्ञानी ही शोक के पार हो सकता है। किन्तु मुझे अब तक हर्ष शोक हो रहा है, इसलिये मैं समझता हूँ कि मुझे अब तक पूरा दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्म-ज्ञान नहीं हुआ है। इसलिये कृपा करके और भी कोई साधन हो तो बताइये।

तब गुरुजी कहने लगे कि "हे शिष्य! आत्म-ज्ञान का साधन तो महावाक्य का श्रवण है वे महावाक्य तुमने सुन लिये हैं। इससे और दूसरा कोई आत्मज्ञान का साधन नहीं है। इसलिये जो मैंने तुम्हें अभी महावाक्य के जीव और ईश्वर के वाचक शब्दों का भाग-त्याग-लक्षणा वृत्ति द्वारा संशोधन करके अर्थात् विरोधी भाग को हटा कर अविरोधी शुद्ध-चेतन-भाग की

एकता समझाई है, उस एकता का बार बार ओत-प्रोत-भाव से चिन्तन करते रहो। यह चिन्तन करते करते तुम्हें अपने आप अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव हो जायगा। जैसे पुष्कर पहुँचने की इच्छा वाला जब पुष्कर के रास्ते पर चलने लग जाता है तो चलते चलते पुष्कर अपने आप ही पहुँच जाता है। कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। हाँ धैर्य तो अवश्य चाहिए ही।

इसलिये अब तू महावाक्य के अर्थ को ध्यान में रखते हुए "मैं अगृध (इच्छा रहित आत्मा अर्थात् शुद्ध चेतन) हूँ"। "मैं अगृध हूँ" इस प्रकार कहते रहो और इस प्रकार कहते कहते अपने असली स्वरूप में तल्लीन हो जाओ।

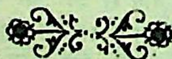
हे शिष्य! अगृध देव यह सुन कर बड़ी श्रद्धा और उत्साह से अपने स्वरूप के चिन्तन का अभ्यास करने लगा। यों अभ्यास करते करते ज्यों ही उसको अपने स्वरूप का दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान हुआ उसी समय उसका सपना टूट पड़ा। और सपने वाले वन के सभी दुःखों से मुक्त हो गया। मुक्त तो वह पहिले ही था किन्तु नींद के दोष से जो उन दुःखों को सच्चा समझ कर अपने में मान रहा था, वह मानना अर्थात् वह भ्रान्ति टूट गई। और इस प्रकार भ्रान्ति के टूटने को ही मोक्ष कहते हैं।

तो हे शिष्य! जिस प्रकार अगृधदेव वाले मिथ्या वन की निवृत्ति मिथ्या गुरु के उपदेश से हो गई, ठीक इसी प्रकार तुम्हारे इस मिथ्या संसार की निवृत्ति

भी मिथ्या वेद और गुरु के उपदेश से ही हो जायगी ।

इस प्रकार का उपदेश सुन कर अर्थात् महावाक्य के लक्ष्य-अर्थ को समझ कर तर्कदृष्टि नामक छोटे भाई कनिष्ठ अधिकारी को आत्मज्ञान हो गया अर्थात् अपने स्वरूप को ब्रह्मरूप से जान लिया ।

इति श्रीविचारसागरदर्पणे गुरुवेदादिसाधनमिथ्यावर्णनं नाम षष्ठस्तरँगः समाप्तः ॥६॥



ॐ

* सप्तमस्तरंगः *

* अथ जीवन्मुक्ति-विदेहमुक्ति-वर्णनम् *

इस प्रकार गुरु ने तीनों राजकुमारों को साथ ही उपदेश किया, तो भी साक्षात्कार केवल उत्तमाधिकारी तत्त्वदृष्टि को ही हुआ। साक्षात्कार होने के बाद जैसे सूका पीपल का पत्ता वायु के आधीन अर्थात् जैसी वायु लगे उसके अनुसार भ्रमण करता रहता है वैसे वह (तत्त्वदृष्टि) प्रारब्ध-कर्मानुसार व्यवहार करता हुआ भ्रमण करने लगा।

क्योंकि ज्ञानी के संचित कर्म (पहिले जन्मों में किये हुये फलारम्भ रहित कर्म अर्थात् जिनका फल अब तक नहीं मिला है वे कर्म) तो ज्ञानरूप अग्नि से जल कर नष्ट हो जाते हैं। भगवान् ने भी गीता के (४) अध्याय के ३७ वें श्लोक में कहा है कि "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा" अर्थात् ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है। और आगामी कर्म (ज्ञान के बाद होने वाले कर्म,) ज्ञानी को आत्मा में कर्तृत्व-भ्रान्ति न होने से निर्बीज होने के कारण

फल नहीं देते । किन्तु प्रारब्ध–कर्म (पहिले जन्मों में किये हुए वर्तमानशरीर के कारणरूप कर्म अर्थात् जिन का फल इस वर्तमान शरीर में मिल रहा है वे कर्म) तो छूटे हुए तीर की तरह अपना भोग पूरा करके ही शान्त होते हैं; इसलिए ज्ञानवान् को प्रारब्ध–कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता है ।

'अपरोक्षानुभूति' व 'विवेकचूडामणि' आदि ग्रन्थों में आया है कि "संचित और आगामी कर्मों की तरह प्रारब्धकर्म भी ज्ञानी के नहीं रहते ।" उसका अभिप्राय यह है कि, ज्ञानी की दृष्टि से, कर्म और उसके फल का संबन्ध आत्मा में नहीं है; किन्तु ज्ञानवान् के शरीर को तो प्रारब्ध–कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता ही है ।

अब यहाँ एक प्रश्न उठता है कि:—कर्म नाना प्रकार के होते हैं । कुछ कर्म ऐसे हैं कि जिनका भोग बहुत जन्मों तक भी चलता है । अब मानलो किसी मनुष्य का ऐसा प्रारब्ध–कर्म फल दे रहा है कि जो आगे तीन जन्मों में जाकर समाप्त होगा और उस व्यक्ति ने वेदान्त के श्रवण-मनन-आदि साधनों द्वारा आत्म-ज्ञान इसी जन्म में ही प्राप्त कर लिया है । अब उसे तीन जन्म आगे लेने पड़ेंगे अथवा उसके शेष प्रारब्ध कर्म नष्ट हो जायँगे ?

इसका सामाधान यह है कि:—वेद कहता है कि "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते" (अथर्ववेद॰ श्रीनृसिंहोत्तर तापनी उपनिषद्) अर्थात्—"[देहान्त

होने पर] उस ज्ञानी के प्राण [अन्यलोकमें वा इस-लोकके अन्यशरीरमें] गमन नहीं करते [किन्तु] यहीं [अन्तःकरण व इन्द्रियसहित] लीन हो जाते हैं।" और प्राण-गमन के विना अन्य शरीर की प्राप्ति हो नहीं सकती, इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानवान् के दूसरे जन्म तो होते ही नहीं हैं। और यह भी नियम है कि प्रारब्ध, बिना फल दिए हुए नष्ट होता नहीं; इसलिये यह मानना पड़ेगा कि जिसका अनेक शरीरों का आरम्भ करने वाला प्रारब्ध, जो कि ज्ञान का प्रति-बन्धक है—[जैसे (१) विषयों में आसक्ति (२) बुद्धि की मन्दता (३) भेदवादियों के वचनों में विश्वास; ये तीनों ज्ञान के प्रतिबन्धक (रुकावट डालने वाले) हैं, उसीप्रकार जन्माँतरका हेतु प्रारब्ध शेष भी ज्ञान का प्रतिबन्धक है] शेष रहता है, उसको तो वेदान्त का श्रवण आदि करने से भी ज्ञान नहीं होता; और जब वह प्रतिबन्धक प्रारब्ध समाप्त हो जाता है तब पहिले जन्मों में किये हुए श्रवणादिकों से उसे अन्तिम जन्म में ज्ञान हो जाता है। जैसे वामदेव के एक जन्म दिलाने वाले प्रारब्ध के शेष रहने पर, वेदान्त के श्रवणादि करने पर भी उसे ज्ञान नहीं हुआ और दूसरे जन्म में उसे गर्भ में ही ज्ञान हो गया। तथा जैसे जड़भरत राजा को ज्ञान की साधन-सामग्री होते हुए भी तीसरे जन्म में जाकर पूर्वजन्मों में किये हुए श्रवणादिक-साधनों से ज्ञान हुआ था।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि:—ज्ञानी के व्यवहार में और किसी कर्म का तो नियम नहीं है, परन्तु निवृत्ति का तो नियम है ही। यदि प्रवृत्ति हो तो केवल शरीर स्थिति के लिये भिक्षा-भोजन व कौपीन-आच्छादन (लङ्गोटी-धारण) मात्र में ही होनी चाहिये; क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति से पहिले जिज्ञासु अवस्था में विषयों में दोषदृष्टि से वैराग्य होता है। वह वैराग्य ज्ञान की उत्पत्ति के बाद भी विषयों में दोषदृष्टि व मिथ्यात्व-बुद्धि से कायम रहता है। अतः संसार में सुखबुद्धि व सत्यबुद्धि के न होने से, राग के न होने के कारण, ज्ञानी की सांसारिक व्यवहारों में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। शरीर-निर्वाह के लिए भोजनादिक में प्रवृत्ति तो राग के बिना, प्रारब्ध कर्म से ही हो जाती है। और चञ्चल मन को कहीं न कहीं लगाने के लिये भी ज्ञानी को किसी प्रवृत्ति की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि ज्ञानी समाधि में स्थित हुआ करता है और समाधि से मन वश में हो जाता है। अतः सदा आत्मस्वरूप में स्थित रहने के कारण ज्ञानी की सांसारिक व्यवहारों में प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

जिस समाधि से मन पर विजय प्राप्त होता है वह समाधि इन आठ अंगों से होती है:—(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान और (८) सविकल्प-समाधि।

यमः—यम पांच होते हैं। जैसे:—(१) अहिंसा अर्थात् किसी को मन, वाणी व शरीर से दुःखी न

करना (२) सत्य (३) अस्तेय अर्थात् चोरी न करना (४) ब्रह्मचर्य* और (५) अपरिग्रह अर्थात् अनावश्यक संग्रह न करना ।

नियमः—नियम पांच होते हैं। जैसे:—(१) शौच अर्थात् शरीर व मन को स्वच्छ रखना (२) संतोष (३) तप (४) स्वाध्याय अर्थात् वेदादि शास्त्रों का पठन व मनन करना। (५) ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् ईश्वर की तरफ मन को लगाना।

आसनः—आसन कई प्रकार के होते हैं। उनमें

---

*स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥

अर्थात्:—(१) स्त्री का चिन्तन व स्मरण (याद) करना (२) श्रृङ्गारपूर्ण गायनादिकों द्वारा स्त्री के रूपादिकों का वर्णन करना (३) स्त्रियों के साथ खेल खेलना (४) किसी की ओर पाप-दृष्टि या चोर-दृष्टि से देखना (५) स्त्रियों से एकान्त में व वैषयिक वार्तालाप करना (६) काम-इच्छा को उत्पन्न करने वाली कल्पनाओं में निमग्न रहना (७) किसी अप्राप्य स्त्री आदि की प्राप्ति के लिये व्यर्थ पाप-पूर्ण प्रयत्न करना और (८) प्रत्यक्ष संभोग, ये अष्ट (आठ) मैथुन कहलाते हैं। इन लक्षणों के बिलकुल विरुद्ध लक्षण अखण्ड ब्रह्मचर्य के होते हैं। यहाँ ब्रह्मचर्य शब्द से, अखण्ड ब्रह्मचर्य व गृहस्थ में ब्रह्मचर्य इन दोनों अर्थों का ग्रहण है।

से (८४) चौरासी आसन योगग्रन्थ में लिखे हैं। उनमें से भी (१) सिंह (२) भद्र (३) पद्म (४) सिद्ध ये चार आसन प्रधान हैं। उन चारों में भी सिद्ध आसन अधिक प्रधान है; क्योंकि कुछ आसन तो रोग को नष्ट करने के लिये किये जाते हैं और कुछ आसन प्राणायामादिक समाधि के अंगों में सहायक पड़ते हैं किन्तु सिद्ध आसन समाधि के समय लगाया जाता है; इसलिये अतिप्रधान है। इसीको वज्रासन, मुक्तासन व गुप्तासन भी कहते हैं।

प्राणायामः—प्राणायाम अनेक प्रकार के होते हैं। जब प्राण को नाक से अन्दर लिया जाता है तो उसे पूरक कहते हैं और बाहर निकालने को रेचक तथा अन्दर वा बाहर रोकने को कुम्भक कहते हैं।

इस प्रकार पूरक, रेचक व कुम्भक द्वारा प्राणों को लम्बा करने व नियम में चलाने को प्राणायाम कहा जाता है। वह प्राणायाम प्रधानतया दो प्रकार का होता है। (१) अगर्भ (२) सगर्भ।

(१) प्रणव (ओम्) के उच्चारण-रहित प्राणायाम अगर्भ कहलाता है। (२) प्रणव के उच्चारण-सहित प्राणायाम सगर्भ कहलाता है।

प्रत्याहारः—विषयों से सभी इन्द्रियों के निरोध (रोकने) को प्रत्याहार कहते हैं।

धारणाः—अपने इष्ट में अन्तःकरण की वृत्ति के बार

वार लगाने को **धारणा** कहते हैं [इष्ट अर्थात् जिसका ध्यान किया जाय; वह यहाँ है अद्वितीय आत्मा (शुद्ध चेतन)]

ध्यानः—उस इष्ट (अद्वितीय ब्रह्म) में अन्तः—करण के अखण्ड प्रवाह को (वृत्ति के न टूटने को) ध्यान कहते हैं।

समाधिः—वह अन्तःकरण का परिणाम (अवस्था विशेष) जिसमें व्युत्थान-संस्कार अर्थात् नामरूपात्मक अनात्म-संस्कार विलीन हो जायँ व निरोध-संस्कार अर्थात् अस्ति-भाति-प्रिय-रूप आत्म-संस्कार प्रकट हो जायँ, उसे समाधि कहते हैं।

पञ्चदशीकार श्रीविद्यारण्य स्वामीजी ने समाधि का वर्णन करते हुए कहा है कि:—

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम् ॥
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥

अर्थात् 'निदिध्यासन' (ध्यान) में तो 'ध्याता' 'ध्यान' तथा 'ध्येय' ये तीनों ही प्रतीत होते रहते हैं; परन्तु जब अभ्यास के प्रभाव से वही चित्त क्रम से 'ध्याता' और 'ध्यान' को छोड़ कर, केवल 'ध्येय' (आत्मस्वरूपब्रह्म) को ही विषय कर लेता है और वायुरहित प्रदेश में रखे हुए दीपक के प्रकाश (लौ) के समान निश्चल हो जाता है, तब वह अवस्था समाधि कहलाती है।

वह समाधि दो प्रकार की है:—(१) सविकल्प-

समाधि (२) निर्विकल्प-समाधि ।

सविकल्पसमाधिः—ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय-रूप त्रिपुटी की प्रतीति के रहते हुए, अद्वितीय ब्रह्म में अन्तःकरण की वृत्ति की स्थिति को सविकल्प-समाधि कहते हैं। इसे संप्रज्ञात-समाधि तथा सबीज-समाधि भी कहा जाता है।

वह सविकल्पसमाधि फिर दो प्रकार की है:—(१) शब्दानुविद्ध अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' शब्द-सहित, (२) शब्दाननुविद्ध अर्थात् शब्द-रहित ।

निर्विकल्प-समाधिः—जिस अवस्था में त्रिपुटी का भान (प्रतीति) न रहे उस अखण्ड ब्रह्माकार अन्तःकरण-वृत्ति की अवस्था को निर्विकल्प-समाधि कहते हैं। उसे असंप्रज्ञात तथा निर्बीज समाधि भी कहा जाता है। निर्विकल्प-समाधि का सविकल्प-समाधि साधन है और निर्विकल्प-समाधि फल है।

साधनरूप जो सविकल्प-समाधि है, उसमें यद्यपि त्रिपुटीरूप द्वैत प्रतीत होता है, तो भी वह द्वैत इस प्रकार ब्रह्मरूप से प्रतीत होता है जैसे विवेकियों को मिट्टी के विकार घटादिकों में केवल मिट्टी की ही प्रतीति होती है अर्थात् उन्हें यद्यपि मिट्टी के विकार घड़ा आदि प्रतीत होते हैं तथापि वे सब मिट्टीरूप ही प्रतीत होते हैं अथवा जैसे सराफ़ को सब सोने के जेवर सोनारूप से ही प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार समाधि में त्रिपुटी द्वैत, ब्रह्मरूप ही प्रतीत होता है।

निर्विकल्प समाधि में भी सविकल्पसमाधि की

तरह त्रिपुटीरूप द्वैत विद्यमान तो रहता है किन्तु उसकी प्रतीति नहीं होती; जैसे जल में पड़ा हुआ नमक, विद्यमान होते हुए भी प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार सविकल्पसमाधि व निर्विकल्पसमाधि का यह भेद सिद्ध हुआ कि:—

(१) सविकल्पसमाधि में ब्रह्मरूप होकर द्वैत की प्रतीति होती है और (२) निर्विकल्पसमाधि में त्रिपुटी-रूपद्वैत की अप्रतीति होती है।

निर्विकल्पसमाधि व सुषुप्ति में भेद यह है कि:- निर्विकल्पसमाधि में ब्रह्माकार वृत्ति तो अन्तःकरण की होती है किन्तु उसका भान नहीं होता और सुषुप्ति में अन्तःकरण की ब्रह्माकार-वृत्ति नहीं होती; क्योंकि वहाँ सुषुप्ति में वृत्ति-सहित अन्तःकरण ही नहीं होता।

निर्विकल्पसमाधि में अन्तःकरण की जो ब्रह्माकार-वृत्ति होती है, उसका कारण सविकल्पसमाधि का अभ्यास है; इसीलिये साधनरूप आठ अंगों में सवि-कल्पसमाधि को भी एक अंग माना गया है। इन आठों अंगों का फल निर्विकल्पसमाधि है।

वह निर्विकल्पसमाधि भी दो प्रकार की है:—(१) अद्वैतभावनारूप (२) अद्वैतावस्थानरूप।

अद्वैतभानवारूप:—जिस समाधि में अद्वैतब्रह्मा-कार अन्तःकरण की अज्ञात वृत्ति रहे वह अद्वैतभावना रूप निर्विकल्पसमाधि कहलाती है।

अद्वैतावस्थानरूप:—जिस समाधि में अधिक

अभ्यास के कारण ब्रह्माकार वृत्ति भी शान्त हो जाय, उस वृत्ति-रहित समाधि को अद्वैतावस्थान रूप निर्विकल्पसमाधि कहते हैं।

जैसे तप्त लोहे पर गिरी हुई जल की बूँद का उस तप्त लोहे में ही प्रवेश (लय) हो जाता है, उसी प्रकार अद्वैतभावनारूप समाधि के दृढ़ अभ्यास से अत्यन्त प्रकाशमान ब्रह्म में वृत्ति का लय हो जाता है।

वह अद्वैतावस्थानरूप निर्विकल्प-समाधि फल है और अद्वैतभावनारूप निर्विकल्पसमाधि उसका साधन है। उस अद्वैतावस्थानरूप समाधि और सुषुप्ति अवस्था में भेद यह है कि:—

सुषुप्ति में वृत्ति का लय अज्ञान में होता है और अद्वैतावस्थान-समाधि में वृत्ति का लय ब्रह्म-प्रकाश में होता है। [वैसे तो कार्य का लय सदा कारण मे ही होता है इस नियमानुसार अद्वैतावस्थान समाधि में वृत्ति का लय तो अपने उपादान-कारण सत्त्वगुण में ही होता है किन्तु ब्रह्मप्रकाश के भानरूप निमित्त से वृत्ति का लय होता है इसलिये उपचार से ब्रह्मप्रकाश में लय कहा है; जैसे—अग्नि से तपे हुए लोहे पर गिरी हुई जल की बूँद का लय होता तो अग्नि में ही है परन्तु उसका औपचारिक प्रयोग (कथन) तप्त लोहे में किया जाता है]

और सुषुप्ति का आनन्द अज्ञान से ढका हुआ होता है किन्तु अद्वैतावस्थान-समाधि में ब्रह्मानन्द का भान

निरावरणरूप से अर्थात् विना किसी पर्दे के स्पष्टरूप से होता है।

निर्विकल्प समाधि में चार विघ्न होते हैं। जिनको हटाने के लिये उनका वर्णन किया जाता है:—(१) लय (२) विक्षेप (३) कषाय और (४) रसास्वाद।

लय :—आलस्य अथवा निद्रा के कारण होने वाले वृत्ति के अभाव को लय कहते हैं। यह अवस्था सुषुप्ति के समान होती है और उस समय ब्रह्मानन्द का भान नहीं होता। इसलिये योगी को उस समय सावधान होकर, निद्रादिकों को रोक कर वृत्ति को जगाना चाहिये। इस प्रकार वृत्ति के जगाने के अभ्यास को श्रीगौडपादाचार्यजी ने चित्तसंबोधन कहा है।

(२) विक्षेप:—जैसे बाज वा बिल्ली से डर कर चटिका (चिडिया) जब घर में प्रविष्ट होकर घोंसले की तरफ दौड़ती है और भय के कारण उसे घोंसला नहीं मिलता तब वह फिर बाहर निकल कर अपने शत्रु को देख कर और अधिक भयभीत होती है अथवा कभी शत्रु के हाथ से मृत्यु को भी प्राप्त हो जाती है; उसी प्रकार अनात्म-पदार्थों को दुःखरूप समझ कर अद्वैतानन्द को प्राप्त करने के लिये वृत्ति अन्तर्मुख होती तो है किन्तु कुछ समय तक की स्थिति के विना तत्काल ही अत्यन्त सूक्ष्म चेतनस्वरूप आनन्द को प्राप्त न करने के कारण वह बहिर्मुख हो जाती है। इस प्रकार वृत्ति के बहिर्मुख होने को विक्षेप कहते हैं।

वृत्ति की स्थिरता के विना स्वरूपानन्द की प्राप्ति नहीं होती; इसलिये अन्तर्मुख वृत्ति होने पर भी जब तक वृत्ति ब्रह्माकार न हो तब तक योगी बाह्य पदार्थों में दोष-भावना रखता हुआ वृत्ति को बहिर्मुख होने नहीं दे, किन्तु अन्तर्मुख रखने का प्रयत्न करे। इस प्रकार के प्रयत्न को श्रीगौडपादाचार्यजी ने सम कहा है।

(३) कषायः—रागादि दोषों को कषाय कहते हैं। अब यहाँ एक प्रश्न उठता है किः—

योगदर्शन में चित्त की पाँच भूमिकाएँ (अवस्थाएँ) बतलाई हैं। (१) क्षेप (२) मूढता (३) विक्षेप (४) एकाग्रता और (५) निरोध।

क्षेपः—लोकवासना [कोई भी मेरी निन्दा न करे किन्तु सभी मेरी स्तुति ही करें, इस आग्रह के दृढ़ संस्कार], देहावासना [स्थूल शरीर के रोगादिकों कोऔषध आदि द्वारा व सूक्ष्म शरीर के पापों को तीर्थाटन आदि द्वारा नष्ट करके, स्थूल शरीर में सुन्दरता-पुष्टि-आदिरूप तथा सूक्ष्म शरीर में पुण्यरूप गुणों का संपादन करूँगा" इस आग्रह के दृढ़संस्कार] शास्त्रवासना [शास्त्रवासना चार प्रकार की है (१) पाठवासना (पाठ अधिक और जल्दी पढ़लूँ) (२) अर्थ-वासना (सभी शास्त्रों के अर्थ को अच्छी तरह समझ जाऊँ और दूसरों को समझालूँ) (३) अनुष्ठान-वासना (वेद शास्त्रों के मन्त्रों को जप द्वारा सिद्ध करके,

मन्त्र-सिद्धि चलाऊँ) (४) वाणी-वासना (मधुर वाणी में कविता आदि बना कर बहुत सारे ग्रन्थ बनालूँ) इस आग्रह के दृढ़संस्कार] इत्यादि रजोगुण के परिणामरूप जो दृढ़ अनात्म-वासनाएँ हैं, उन्हें क्षेप कहते हैं।

(२) मूढता:— निद्रा आलस्य आदि तमोगुण के परिणामों को मूढता कहते हैं।

(३) विक्षेप:—ध्यान में लगे हुए चित्त के बहिर्मुख होने को विक्षेप कहते हैं

(४) एकाग्रता:— अन्तःकरण के अतीव व वर्तमान परिणामों (वृत्तियों) के समानाकार होने को अर्थात् जब अन्तःकरण की सभी वृत्तियाँ एक ब्रह्माकार होने लग जायँ, उस अवस्था को एकाग्रता कहते हैं।

(५) निरोध:- उस एकाग्रता की वृद्धि को निरोध कहते हैं।

इन पाँच भूमिकाओं सहित अन्तःकरण के क्रमसे ये पाँच नाम हैं:—(१) क्षिप्त (२) मूढ (३) विक्षिप्त (४) एकाग्रता और (५) निरुद्ध। उनमें क्षिप्त और मूढ अन्तःकरण का तो समाधि में अधिकार नहीं है किन्तु विक्षिप्त अन्तःकरण का अधिकार है; और एकाग्र व निरुद्ध अन्तःकरण तो समाधि के समय रहते ही हैं।

इस प्रकार योगदर्शन के कथनानुसार रजोगुण के परिणाम दृढ़ अनात्मवासनाएँ अर्थात् रागादिकदोषरूप क्षेप (कषाय) जब अन्तःकरण में हों तब उस क्षिप्त

अन्तःकरण का तो समाधि में अधिकार ही नहीं है, फिर रागादिदोषरूप कषाय को समाधि का विघ्न कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि जैसे जिस पुरुष को राजा के पास जाने का अधिकार हो, उसके लिये तो यह कहा जा सकता है कि द्वारपाल ने उसके जाने में विघ्न डाला; किन्तु जिसको वहाँ जाने का अधिकार ही नहीं है, उसके लिये द्वारपाल विघ्नरूप कैसे बन सकता है ? ठीक इसी प्रकार क्षिप्त (रागादिदोषसहित) अन्तःकरण का यदि समाधि में अधिकार होता तो उसके लिये समाधि में रागादिदोषरूप कषाय विघ्न बन सकते किन्तु जब क्षिप्त (रागादिदोष सहित) अन्तःकरण का समाधि में अधिकार ही नहीं है, तो फिर उसके लिये रागादिदोषरूप कषाय समाधि के विघ्न कैसे बन सकते हैं ।

इसका उत्तर यह है कि—रागादिदोष तीन प्रकार के हैं । (१) उद्युक्त (२) आशारूप और (३) वसनारूप ।

(१) उद्युक्तः—बाह्यप्रवृत्ति के हेतु स्त्री पुत्र धन आदि जिनके विषय वर्तमान हों वे उद्युक्त अथवा बाह्य रागादि कहलाते हैं ।

(२) आशारूपः—भूत अथवा भावी का चिन्तन-रूप जो मनोराज्य है उसे आशारूप अथवा आन्तर रागादि कहते हैं ।

(३) वासनारूपः—जन्मांतरों में पूर्व अनुभव

किये हुए जो रागादि हैं उनके संस्कार वासनारूप रागादिक कहलाते हैं।

इन तीन प्रकार के रागादिक दोषों में से पहिले के दो रागादिक दोष (उद्युक्त व आशारूप) क्षेप कहलाते हैं और अन्तिम तीसरा वासनारूप रागादि दोष कषाय कहलता है।

इसलिये नहीं क्षिप्त अन्तःकरण का समाधि में अधिकार है और नहीं क्षेप (उद्युक्त व आशारूप रागादि दोषों) को समाधि का विघ्न ही माना जाता है, किन्तु वासनारूप रागादि दोष (कषाय) तो विक्षिप्त आदि अन्तःकरण में भी रहते हैं, क्योंकि जब तक अन्तःकरण रहता है तब तक रागद्वेष आदिकों के सूक्ष्म संस्कार (कषाय) तो रहते ही हैं; परन्तु उन वासनारूप रागद्वेषादिकों में भी उद्भूत (प्रकट) संस्कार समाधि के विरोधी हैं, न कि अनुद्भूत (अप्रकट) संस्कार।

विक्षेप और कषाय में यह भेद है:—बाह्यविषयाकार वृत्ति को विक्षेप कहते हैं, और योगी के प्रयत्न से वृत्ति, अन्तर्मुख होने पर भी जिन रागादिकों के उद्भूत संस्कारों से रुक जाय अर्थात् ब्रह्म को विषय न कर सके, उन्हें कषाय कहते हैं।

अतः समाधि में प्रवृत्त योगी को यदि रागद्वेषादिकों के संस्कारों की प्रकटता हो तो उसी समय विषयों में दोष-दृष्टि करके दबा देना चाहिये।

(४) रसास्वादः—जैसे भार उठाने वाले पुरुष

का जब भार उतर जाता है तो उस समय उस भार उठाने से होने वाले दुःख की निवृत्ति से भी उसे एक आनन्द प्रतीत होता है, उसी प्रकार योगी को समाधि में विक्षेप से होने वाले दुःख की निवृत्ति से जो आनन्द का अनुभव होता है उसे रसास्वाद कहते हैं।

यदि दुःख की निवृत्ति मात्र से होने वाले उस आनन्द के अनुभव से ही योगी संतोष कर लेगा तो सकलउपाधि-रहित ब्रह्मानन्दाकार वृत्ति के अभाव से उसे समाधि में ब्रह्मानन्द का अनुभव नहीं हो सकता; इसलिये दुःख की निवृत्ति से होने वाले आनन्द का अनुभवरूप रसास्वाद भी समाधि में विघ्न है।

जिस वस्तु की इच्छा हो उसकी प्राप्ति के बिना विरोधी की निवृत्ति से भी आनन्द की उत्पत्ति होती है; इस विषय में दूसरा दृष्टान्तः—जैसे पृथिवी में कहीं कोई ऐसा निधि (खज़ाना) हो जिस पर कोई बड़ा विषधर सर्प रहता हो, तो उस निधि (खज़ाने) की प्राप्ति से पहिले, निधि-प्राप्ति के विरोधी सर्प की निवृत्ति से भी एक आनन्द प्राप्त होता है। अब उस सर्पनिवृत्ति के आनन्द में ही यदि संतोष किया जाय तो उद्यम त्यागने से निधि प्राप्ति का परमानन्द प्राप्त नहीं हो सकता; इसी प्रकार अद्वैत ब्रह्म रूप निधि (खज़ाना) है। शरीरादि अनात्मपदार्थों की प्रतीतिरूप विक्षेप सर्प है। विक्षेपरूप सर्प की निवृत्ति मात्र से उत्पन्न होने वाले आनन्द रूपी रस का आस्वादन (अनुभव) निधि रूपी अद्वैतब्रह्म की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाले महान् आनन्द

की प्राप्ति का प्रतिबन्धक (रुकावट डालने वाला) होने के कारण विघ्न कहलाता है ।

सविकल्पसमाधि के आनन्द को भी रसास्वाद कहते हैं; क्योंकि सविकल्पसमाधि के सोपाधिक (त्रिपुटीरूप-उपाधि-सहित) आनन्द में भी संतोष कर लेने से निर्विकल्प-समाधि का महान् आनन्द प्राप्त नहीं होता ।

अतः विक्षेप की निवृत्ति से उत्पन्न होने वाला आनन्द का अनुभव और सविकल्प-समाधि के आनन्द का अनुभव इन दोनों विघ्नरूपी रसास्वादों को त्यागना चाहिये ।

इस प्रकार निर्विकल्पसमाधि के आरम्भ में ये चार विघ्न होते हैं । जो विद्वान् सावधान होकर इन चारों विघ्नों को रोक कर निर्विकल्पसमाधि में परमानन्द का अनुभव करता है उसीको जीवन-मुक्त कहते हैं ।

इस प्रकार ज्ञानी का मन बाहर सांसारिक व्यवहारों में कहीं नहीं जा सकता; क्योंकि समाधि के समय तो मन सत्त्वगुण में लीन रहता है और जब प्रारब्ध-वशात् समाधि टूटती है, तो भी समाधि में अनुभव किये हुए परमानन्द की स्मृति (याद) रहती ही है; इसलिये उस समय भी ज्ञानी का मन कहीं और जगह नहीं जाता । ज्ञानवान् की जो भोजनादि में प्रवृत्ति होती है वह केवल प्रारब्धवशात् ही होती है। परन्तु भोजनादि व्यवहार में भी ज्ञानी खेद (दुःख) मान कर प्रवृत्त होता है; क्योंकि भोजनादि में प्रवृत्ति भी समाधि के सुख की विरोधी है । अतः जिसे

भोजनादिक शरीरनिर्वाह की प्रवृत्ति भी दुःखरूप प्रतीत होती है उसकी अधिक प्रवृत्ति (सांसारिक व्यवहारों में प्रवृत्ति) तो हो ही नहीं सकती। और जीवन्मुक्ति का आनन्द भी बाह्यप्रवृत्ति में प्राप्त नहीं होता किन्तु निवृत्ति में ही होता है; अतः जीवन्मुक्ति के सुखार्थी ज्ञानवान् की बाह्यप्रवृत्ति कभी हो ही नहीं सकती। इस प्रकार कई आचार्यों ने इसी पक्ष को लिखा है।

किन्तु इस प्रकार ज्ञानवान् के लिये निवृत्ति का नियम कहना ठीक नहीं; क्योंकि ज्ञानी के लिये वेद ने कहीं निवृत्ति अथवा प्रवृत्ति का विधान (आज्ञा) तो किया ही नहीं है, जिससे ज्ञानी के व्यवहार में कोई नियम सिद्ध हो सके; अतः ज्ञानी निरंकुश है, उसका व्यवहार प्रारब्ध से होता है। जिस ज्ञानी का प्रारब्ध भिक्षा-भोजन-मात्र फल का हेतु है उसकी भिक्षा-भोजन-मात्र में ही प्रवृत्ति होती है, और जिसका प्रारब्ध अधिक भोग का हेतु है उसकी अधिक प्रवृत्ति होती है।

और जो यह कहते हैं कि:-जिसका प्रारब्ध भिक्षा भोजन मात्र का हेतु हो, उसी को ही ज्ञान हो सकता है, किन्तु जिसका प्रारब्ध अधिक व्यवहार में प्रवृत्त कराने वाला हो तो उसे ज्ञान नहीं होगा, इसलिये भिक्षा भोजन आदि व्यवहार से अधिक व्यवहार ज्ञानी का नहीं होता और जिसकी अधिक प्रवृत्ति हो वह ज्ञानी ही नहीं है। यह उनका कहना ठीक नहीं;

क्योंकि याज्ञवल्क्य जनकादिकों क ज्ञानी कहा जाता है। उनमें श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने सभाविजय द्वारा धन-संग्रह-व्यवहार तथा राजा जनक ने राज्य-पालन आदि व्यवहार भी किये थे । 'योगवासिष्ठ' में अनेक ज्ञानी पुरुषों के व्यवहार नाना प्रकार के बतलाए हैं। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानी की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का कोई नियम नहीं है।

यद्यपि श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने सभा-विजय के बाद विद्वत्संन्यासरूप निवृत्ति धारण किया है और प्रवृत्ति में ग्लानि के हेतु नाना दोष भी बतलाए हैं; तो भी 'याज्ञवल्क्य को विद्वत्संन्यास से पहिले ज्ञान नहीं था' यह कहना तो बन ही नहीं सकता; क्योंकि ज्ञान तो उन्हें पहिले भी था परन्तु विद्वत्संन्यास से पहिले जीवन्मुक्ति का आनन्द प्राप्त नहीं हुआ था। अत: जीवन्मुक्ति के आनन्द के लिये उसने सर्वसंग्रह का त्याग किया। श्रीयाज्ञवल्क्य का प्रारब्ध कुछ समय तक अधिक भोग का हेतु था और बाद में न्यून (कम) भोग का हेतु रहा। इसीलिये पहिले तो याज्ञवल्क्य को बिना ग्लानि के ही अधिक भोग और बाद में ग्लानि से सभी भोगों का त्याग हुआ है।

राजा जनक का प्रारब्ध मरणपर्यन्त राज्यपालन व भोग का हेतु रहा था, इसलिये सदा त्याग का अभाव ही रहा तथा भोगों में ग्लानि भी नहीं हुई।

वामदेव आदिकों का प्रारब्ध न्यून (कम) भोग का हेतु रहा था; इसलिये सदा भोगों में ग्लानि और

उस ग्लानि से प्रवृत्ति का अभाव ही रहा।

'योगवासिष्ठ' में तो ऐसा प्रसंग भी आया है कि शिखरध्वज की ज्ञान के बाद तो और अधिक ही प्रवृत्ति हुई।

इस प्रकार नाना प्रकार के विलक्षण व्यवहार ज्ञानी पुरुषों के बतलाए हैं, उन सभी को ज्ञान और उस ज्ञान का फल मोक्ष दोनों समान ही हुए हैं। इस विषय पर यह एक सांप्रदायिक श्लोक भी है:—

कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी राजानौ जनकराघवौ।
वसिष्ठः कर्मकर्त्ता च त एते ज्ञानिनः समाः॥

अर्थात् कृष्ण भोगी हुआ है, शुकदेव त्यागी हुआ है, जनक और श्रीरामचन्द्र दोनों राजा हुए हैं और वसिष्ठ मुनि कर्मों का कर्त्ता हुआ है। इस प्रकार इनका प्रारब्ध के भेद से विलक्षण (भिन्न भिन्न) व्यवहार हुआ है; तो भी वे और ये (वर्तमान) ज्ञानी सभी समान ही हैं।

इसी बात को श्रीविद्यारण्य स्वामीजी ने पंचदशी के चित्रदीप में लिखा है कि:—

आरब्धकर्मनानात्वाद्बुद्धानामन्यथान्यथा।
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः॥२८७॥
स्वस्वकर्मानुसारेण वर्तन्तां ते यथा तथा।
अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः॥२८८॥

अर्थात्—प्रारब्ध कर्मों के नाना प्रकार के होने से ज्ञानियों का भी व्यवहार परस्पर भिन्न होता है। अतः उनके भिन्न भिन्न वर्तावों को देख कर पण्डित-

जनों को, दृढज्ञान से मोक्ष के प्रतिपादक शास्त्र के अर्थ में भ्रान्त नहीं होना चाहिये। [क्योंकि ज्ञानी के शरीर के रोग वा भूख आदि जैसे उसके प्रारब्ध के फल होते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी के अन्य व्यवहार भी तो उसके प्रारब्ध कर्मों के ही फल हैं। अतः वे अन्य सांसारिक व्यवहार, रोग आदि की तरह ही, ज्ञानी की मुक्ति में कोई रुकावट नहीं कर सकते।]

इसलिये सब लोगों को यह निश्चय कर लेना चाहिये कि वे ज्ञानी लोग अपने अपने प्रारब्ध कर्मों के अनुसार जैसा तैसा बर्ताव करते हैं तो करते रहें। किन्तु उन सब को जो अपने ब्रह्मत्व का ज्ञान होता है वह तो सब का एक समान ही होता है और मुक्ति भी उनकी समान ही होती है। (वे सभी शुद्ध ब्रह्म रूप से स्थित हो जाते हैं) यही स्थिति (शास्त्र और विद्वानों का निश्चय) है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि:—जो जीवन्मुक्ति के सुख को त्याग कर अन्य व्यवहारों में व विषय भोगों में प्रवृत्त होता है वह विदेहमोक्ष को भी त्याग कर वैकुण्ठादि लोकों की इच्छा रख कर उन लोकों में गमन कर लेगा। किन्तु यह उनका कहना ठीक नहीं; क्योंकि जीवन्मुक्ति के सुख का त्याग व भोगों में प्रवृत्ति तो ज्ञानी की प्रारब्ध-वशात् ही होती है। और विदेहमोक्ष का त्याग व परलोक को गमन भी नहीं बन सकता; क्योंकि श्रुति कहती है कि "ज्ञानी के प्राण बाहर कहीं नहीं जाते किन्तु यहीं लीन हो

जाते हैं" अतः प्राणों के बाहर नहीं जाने के कारण, ज्ञानी का परलोक को गमन तो बन ही नहीं सकता। और (२) विदेहमोक्ष का त्याग भी असंभव है; क्योंकि ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होकर प्रारब्ध भोगों के समाप्त होने के बाद, स्थूल व सूक्ष्म शरीर के आकार को धारण करने वाले अज्ञान का चेतन में लय हो जाना ही विदेहमोक्ष कहलाता है। वह अवश्य ही होता है। यदि मूल-अज्ञान शेष रहता अथवा नष्ट हुए अज्ञान की फिर उत्पत्ति हो जाती, तब तो विदेहमोक्ष का अभाव हो सकता था; किन्तु मूल-अज्ञान के विरोधी ज्ञान के होने पर अज्ञान शेष नहीं रहता, तथा वेद के महावाक्यरूप प्रबल प्रमाण से नष्ट ए अज्ञान की फिर उत्पत्ति नहीं होती; अतः ज्ञानी के विदेहमोक्ष का अभाव तो हो ही नहीं सकता।

और (३) विदेहमोक्ष के त्याग में तथा परलोक के गमन में ज्ञानी की इच्छा भी नहीं बन सकती; क्योंकि ज्ञानी को इच्छा केवल प्रारब्ध से ही होती है। जितनी सामग्री के बिना प्रारब्ध का भोग नहीं बन सकता, उतनी सामग्री को ही प्रारब्ध कर्म रचते हैं; और इच्छा के बिना भोग हो ही नहीं सकता, इसलिये ज्ञानी की इच्छा भी प्रारब्ध का ही फल है। और प्रारब्ध समाप्त होने के बाद, इच्छा का अभाव होने से, विदेहमोक्ष के त्याग व परलोकगमन की इच्छा का ज्ञानी के लिये तो प्रश्न ही नहीं उठता।

यदि कोई कहे कि:—जैसे ज्ञानी को विदेहमोक्ष के

त्याग व परलोक-गमन की इच्छा नहीं होती, वैसे विदेहमोक्ष की प्राप्ति की भी इच्छा नहीं होगी; फिर बिना इच्छा के ज्ञानी को विदेहमोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी ?

इसका उत्तर यह है कि:—जो भ्रान्ति जिस अधिष्ठान के अज्ञान से उत्पन्न होती है वह भ्रान्ति उस अधिष्ठान के अज्ञान के नष्ट होने पर स्वतः बिना चाहे ही नष्ट हो जाती है। जो रस्सी में कल्पित सर्प, जिस रस्सी के अज्ञान से प्रतीत होता है, वह कल्पित सर्प उस रस्सी के अज्ञान के नष्ट होने पर अर्थात् उस रस्सी के जानने पर, स्वतः बिना इच्छा किये ही नष्ट हो जाता है, ठीक इसी प्रकार जो स्थूल व सूक्ष्म शरीर रूप कल्पित संसार, जिस अधिष्ठान (आत्म स्वरूप ब्रह्म) के अज्ञान से प्रतीत होता है, वह कल्पित संसार, उस उधिष्ठान के अज्ञान के नष्ट होने पर अर्थात् अपने असली स्वरूप ब्रह्म को जानने पर, स्वतः बिना इच्छा के ही नष्ट हो जाता है। अतः दृढ़ अपरोक्ष ज्ञानवान् मोक्ष की इच्छा से रहित होता हुआ भी मुक्त हो जाता है। भाष्यकार श्रीस्वामी शंकराचार्यजी ने भी लिखा है कि:—

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम्।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते॥

अर्थात्—"जैसे अज्ञानियों को "मैं मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, मैं यज्ञदत्त हूँ" इस प्रकार शरीर में दृढ़ आत्म-बुद्धि होती है, उसी प्रकार जिसे, शरीर में

आत्मबुद्धि को नष्ट करने वाला ज्ञान से अभिन्न आत्मा में दृढ़ रूप से हो जाय अर्थात् "मैं (मेरा वास्तविक स्वरूप साक्षी) ब्रह्म हूँ" इस प्रकार जिसको आत्मा में (अपने आप में) दृढ़ ब्रह्म-बुद्धि (दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान) हो जाय, वह वृक्ष से छूटे हुए हाथ वाले की तरह न चाहता हुआ भी मुक्त हो जाता है।" इससे सिद्ध हुआ कि-विना इच्छा के ज्ञानी का विदेहमोक्ष निश्चित है। और स्वप्न से जगे हुए पुरुष को जैसे स्वप्न-भ्रान्ति की निवृत्ति के त्याग में तथा स्वप्न के परलोक के गमन में इच्छा नहीं होती, ठीक इसी प्रकार ज्ञानी को बन्ध-भ्रान्ति (भ्रान्ति रूप संसार) की निवृत्तिरूप विदेहमोक्ष के त्याग में और स्वर्गादि परलोक के गमन में भी इच्छा नहीं होती।

बाकी जीवन्मुक्ति के विरोधी वर्तमान शरीर में अधिक भोगों की इच्छा तो भिक्षा-भोजनादिकों की तरह, जनकादिकों को भी हुई है।

यदि कोई कहे कि:—गीता में भगवान् ने ज्ञानी का लक्षण बताते हुए कहा है, "उदासीनवदासीनः" अर्थात् जो सदा उदासीन की तरह रहता है वही ज्ञानी है अतः ज्ञानी को व्यवहार छोड़ कर सदा उदासीन ही रहना चाहिये। तो यह उनका कहना ठीक नहीं; क्योंकि भगवान ने व्यवहार छोड़ कर उदासीन रहने के लिये नहीं कहा है किन्तु व्यवहार करते हुए भी उदासीन की तरह रहने के लिये कहा है। इस मर्म

को तो स्वयं भगवान् ने इसी श्लोक में स्पष्ट करते हुए कहा है किः—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥

अर्थात्—'तटस्थ के समान साक्षीरूप से दूर रहने वाला जो ब्रह्मज्ञानी प्रकाश (रसास्वाद) आदि सात्त्विक गुणों से, रागादि प्रवृत्तिरूप राजस गुणों से और मोह आदि तामस गुणों से विचलित नहीं होता अर्थात् अपने असली स्वरूप साक्षी को नहीं भूलता और 'गुण ही गुणों में बर्तते हैं अर्थात् शरीर इन्द्रियादि ही विषयों में प्रवृत्त होते हैं आत्मा नहीं' ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्म स्वरूप आत्मा (अपने आप) में स्थित रहता है एवं उस स्थिति से चलायमान नहीं होता [वह गुणातीत कहलाता है] (गीता अ० १४ श्लो० २३) ।

यदि कोई कहे कि ज्ञान होने पर ऐसी अवस्था हो जाती है कि ज्ञानी के शरीरादिकों से कुछ भी व्यवहार नहीं हो सकता तो हमें इस बात पर हँसी आती है कि ज्ञानी के शरीर को अशक्त कर देने वाला वह ज्ञान क्या हुआ ? वह तो एक रोग ही हुआ । जो महाबुद्धि तत्त्वज्ञान को एक प्रकार का क्षयरोग मानते हैं कि तत्त्वज्ञानी के हाथ, पैर उठते ही नहीं, उनकी बुद्धि के विषय में हम क्या कहें ? वे जो चाहें कह सकते हैं । किन्तु उनका कथन उनके पास रहे तो ही अच्छा है ।

यदि कहा जाय कि 'जडभरत आदि महात्मा लोग कुछ भी नहीं करते थे' इस प्रकार का वर्णन पुराणों में आया है; अतः ज्ञानियों को कुछ भी व्यवहार नहीं करना चाहिये, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि उन जडभरतादिकों की तो प्रारब्ध ही निवृत्ति-प्रधान थी इसलिये वे अपना भोजनादिक व्यवहार करके, लोगों के संग-दोष से दूर रह कर उदासीन रहते थे।

किन्तु जिन ज्ञानियों की प्रारब्ध प्रवृत्ति-प्रधान होती है उनके लिये तो श्रुति स्वयं कहती है कि—"जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा वयस्यैर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्।" (छा० ८-१२-३) अर्थात् खाता, खेलता, गृहस्थधर्म पालन करता, सवारियों पर बैठता, अपने जाति वालों व समान अवस्था वालों से उनके योग्य व्यवहार करता हुआ भी वह ज्ञानी जनसमुदाय के समीप वर्तमान इस शरीर को याद न करता हुआ अर्थात् "मैं कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ" इस प्रकार अज्ञानियों की तरह शरीर-इन्द्रियादिकों में आत्म-बुद्धि न करके अपने असली स्वरूप साक्षी को न भूलता हुआ, [प्रारब्ध कर्म समाप्त होने पर विदेह-मुक्त हो जाता है।]

यदि कोई कहे कि—यह सिद्धान्त है कि "विमुक्तश्च विमुच्यते" अर्थात् जीवन्मुक्तों को ही विदेहमुक्ति प्राप्त होती है; फिर जो ज्ञानी सांसारिक व्यवहारों में

लगे हुए नज़र आते हैं उनका विदेहमोक्ष कैसे हो सकता है ?

तो उसका उत्तर यह है कि-ज्ञानी का व्यवहार अर्थात् बाह्य-प्रवृत्ति जीवन्मुक्ति की विरोधी नहीं, किन्तु जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द की ही विरोधी है; क्योंकि आत्मा नित्यमुक्त है, उसमें जो बन्धन की भ्रान्ति हो रही है वह केवल अज्ञान के कारण ही। अतः जब ज्ञान होता है तब उसी समय अज्ञान के साथ साथ बन्ध-भ्रम (आत्मा में कर्त्ता-भोक्तापन आदि संसार रूप भ्रान्ति) भी नष्ट हो जाता है। ज्ञान होने के बाद फिर बन्ध-भ्रान्ति नहीं होती। और शरीर रहते रहते आत्मा में बन्ध-भ्रान्ति (कर्त्तापनादि संसार रूप भ्रान्ति) के अभाव को ही जीवन्मुक्ति कहते हैं। और ज्ञानी को देह इन्द्रियादिकों की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति में बन्ध-भ्रान्ति आत्मा में नहीं होती, अतः बाह्य-प्रवृत्ति होने पर भी जीवन्मुक्ति दूर नहीं होती है। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानी की बाह्य-प्रवृत्ति अर्थात् प्रारब्ध-वशात् सांसारिक व्यवहारों में प्रवृत्ति होते हुए भी वह जीवन्मुक्त ही है, और 'विमुक्तश्च विमुच्यते' इस सिद्धान्ताऽनुसार उसका विदेहमोक्ष निश्चित ही है।

हाँ यह बात अवश्य है कि बाह्य-प्रवृत्ति में जीवन्मुक्त को वह विलक्षण आनन्द प्राप्त नहीं होता; क्योंकि वह अनोखा ब्रह्मानन्द तो तभी प्राप्त होता है, जब अन्तःकरण एकाग्र हो। वह एकाग्रतारूप अन्तः-

करण का परिणाम, बाह्यप्रवृत्ति में नहीं होता। अतः जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द सभी ज्ञानियों को एक जितना प्राप्त नहीं होता; क्योंकि सभी की प्रारब्ध भिन्न भिन्न होने के कारण, ज्ञानी पुरुषों के व्यवहार भी अनेक प्रकार के होते हैं। परन्तु जिसका प्रारब्ध अधिक प्रवृत्ति का हेतु होता है उसका दुष्ट अथवा निकृष्ट प्रारब्ध माना जाता है; क्योंकि अधिक प्रवृत्ति एकाग्रता की विरोधी है और एकाग्रता के विना त्रिपुटी रूप-उपाधि-रहित वह अद्वैतानन्द प्रतीत नहीं होता। जैसे विशाल राज्य को प्राप्त किया हुआ पुरुष भी शिथिल प्रारब्ध से उत्पन्न होने वाले सुसाध्य अथवा कष्टसाध्य रोग की तो औषध आदि प्रयत्नों से निवृत्ति कर लेता है, परन्तु तीव्रतर प्रारब्ध से उत्पन्न होने वाले असाध्य रोग की तो निवृत्ति उससे भी नहीं हो सकती, इसी प्रकार शिथिल प्रारब्ध के फलस्वरूप बाह्य-प्रवृत्ति को तो ज्ञानी जीवन्मुक्ति के सुख के लिए किये हुए रागद्वेषादि वासनों को हटाने के प्रयत्न से दूर कर लेता है; किन्तु तीव्रतर प्रारब्ध की फलस्वरूप बाह्य-प्रवृत्ति तो ज्ञानी से भी दूर नहीं हो सकती। इसलिये ज्ञानी की अधिक प्रवृत्ति की हेतु तीव्रतर प्रारब्ध को दुष्ट वा निकृष्ट प्रारब्ध कहते हैं।

यदि कोई कहे कि:—ज्ञानवान् को सभी अनात्म पदार्थों में मिथ्या बुद्धि होने से, राग नहीं होता इसलिये उसकी सांसारिक व्यवहारों में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। और यदि ज्ञानी में रागादि माने जायंगे

तो शास्त्र से विरोध हो जायगा; क्योंकि शास्त्र तो कहता है कि "रागो लिंगमबोधस्य" अर्थात् 'राग अज्ञान की निशानी है'। अतः यह मानना चाहिये कि जो रागादि के न होने के कारण सांसारिक व्यवहारों में प्रवृत्त नहीं होता वही ज्ञानी है। तो यह उनका कहना ठीक नहीं है; क्योंकि जैसे 'शरीर मिथ्या है' ऐसा ज्ञान होते हुए भी उस मिथ्या शरीर को बनाए रखने के लिये प्रारब्धवशात् ज्ञानी की भिक्षा-भोजन व जल-पान आदिकों में प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार जिस ज्ञानी का प्रारब्ध अधिक भोगों को देने वाला होता है, उस ज्ञानी की अधिक प्रवृत्ति भी हुआ करती है। अथवा जैसे सिनेमा या बाजीगर के खेल को मिथ्या जानते हुए भी लोगों की उसे देखने में प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार सभी पदार्थों में ज्ञानी को मिथ्या बुद्धि होने पर भी प्रवृत्ति बन सकती है। और यह जो शास्त्र कहता है कि 'राग अज्ञान की निशानी है' इसका तात्पर्य यह है कि दृढ़ राग अज्ञान की निशानी है अर्थात् ज्ञानी में अज्ञानी की तरह दृढ़ राग नहीं होता। इसी तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए दूसरा शास्त्र कहता है कि, "रागादयः सन्तु कामं न तद्भावोऽपराध्यते" अर्थात् ज्ञानी में रागादि हैं तो हुआ करें, उनके होने से ज्ञानी के ज्ञान को कोई आंच नहीं लगती; क्योंकि तत्त्व-ज्ञानी का राग दृढ़ नहीं होता। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानी में भी प्रारब्ध-वशात् अदृढ़ रागादि हो सकते हैं और उनसे उनकी

बाह्य-प्रवृत्ति भी बन सकती है।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि:—जिसको जिस पदार्थ में दोष-दृष्टि हो जाती है, वह पुरुष फिर उस पदार्थ में प्रवृत्त नहीं होता और ज्ञानी को सभी अनात्म पदार्थों में दोष-दृष्टि होती है, अतः ज्ञानी की बाह्य-प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। यह उनका कहना ठीक नहीं; क्योंकि जैसे रोगी के बार बार बीमार पड़ने से उसे यह निश्चय हो जाता है कि अपथ्य सेवन करने से बीमारी बढ़ती है, फिर भी वह जैसे प्रारब्ध-वशात् अपथ्य-सेवन कर लेता है, उसी प्रकार सभी पदार्थों में दोष-दृष्टि रखता हुआ ज्ञानी भी तीव्रतर-प्रारब्ध-वशात् व्यवहार में प्रवृत्त हो जाता है।

किन्तु इस शास्त्र के रहस्य को न समझने वाले जो लोग यह कहते हैं कि:—प्रारब्ध का फल सर्वथा अनिवार्य है अतः पुरुषार्थ करना ही व्यर्थ है यह उनका कहना ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा मानने से निष्काम ऋषियों द्वारा लिखे हुए वैद्यशास्त्र, मन्त्र-शास्त्र और योगशास्त्र आदिक मानसिक व शारीरिक रोगों को हटाने के उपायों को बतलाने वाले सभी शास्त्र व्यर्थ हो जायंगे और प्रत्यक्ष फल को देने वाले उपायों को बतलाने वाले उन शास्त्रों को व्यर्थ कहना नहीं बन सकता।

और हमने जो कहा था कि प्रारब्ध का फल अनिवार्य है, वह तीव्रतर प्रारब्ध के लिये कहा था; क्योंकि प्रारब्ध तीन प्रकार की है:—

(१) मन्द (२) तीव्र (३) तीव्रतर।

मन्द-प्रारब्धः—जिसका फल भिक्षा के अन्न की तरह अधिक प्रयत्न से प्राप्त हो और जिसका अकस्मात् प्राप्त हुआ अनिष्ट (अनचाहा) फल सुसाध्य रोग की तरह थोड़े से ही प्रयत्न से निवृत्त हो जाय उस प्रारब्ध को मन्द-प्रारब्ध कहते हैं।

तीव्र-प्रारब्धः—जिसका फल निमन्त्रण के अन्न की तरह थोड़े ही प्रयत्न से प्राप्त हो और जिसका अकस्मात् प्राप्त हुआ अनिष्ट (अनचाहा) फल कष्टसाध्य रोग की तरह अधिक प्रयत्न से ही निवृत्त हो, उस प्रारब्ध को तीव्र-प्रारब्ध कहते हैं।

(३) तीव्रतर प्रारब्धः—जिसका फल घर बैठे ही प्राप्त हुए अन्न की तरह बिना प्रयत्न के अपने आप ही प्राप्त हो जाय, और जिसका बलपूर्वक (जबरदस्ती) प्राप्त हुआ अनिष्ट फल बैल के डाम की तरह, किसी भी प्रयत्न से निवृत्त न हो सके, उस प्रारब्ध को तीव्रतर-प्रारब्ध कहते हैं।

इन तीन प्रकार के प्रारब्धों में से पहिले के दो प्रारब्ध तो तीव्र व तीव्रतर प्रयत्न से हट सकते हैं किन्तु तीव्रतर प्रारब्ध अपना भोग अवश्य ही देता है। इसलिये पुरुषार्थ (प्रयत्न) सदा करते ही रहना चाहिये; जिससे प्रारब्ध कर्म यदि मन्द वा तीव्र होंगे तो वे दूर होते जायंगे और यदि तीव्रतर होंगे तो भोग भुगा कर नष्ट हो जायंगे।

इस प्रकार ज्ञानी के व्यवहार प्रारब्ध-आधीन होने के कारण, उनमें कोई नियय नहीं है अर्थात् ज्ञानी को निवृत्ति-प्रधान होना चाहिये अथवा प्रवृत्ति-प्रधान ऐसा कोई नियम नहीं किया जा सकता; क्योंकि नियम होता है स्वाधीन कार्य में, पराधीन कार्य में नियम नहीं बन सकता। अतः हाथ से छूटे हुए बाण की तरह प्रारब्ध (जिनका प्रारम्भ हो चुका हो उन) कर्मों के आधीन ज्ञानी के शरीर के व्यवहार का नियम नहीं बन सकता।

यद्यपि रागादि वासनाओं को रोक कर मन को वश में करने वाले ज्ञानी-जन, मन्द वा तीव्र प्रारब्ध के फलरूप शरीर के व्यवहार को नियम में रखते हैं किन्तु तीव्रतर प्रारब्ध के फलरूप शरीर के व्यवहार का नियम तो ज्ञानी से भी नहीं बन सकता।

भगवान् ने भी गीता के (३) अध्याय के (३३) श्लोक में कहा है कि—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

अर्थात्:—क्योंकि सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं, अर्थात् पूर्वकृत पुण्य-पाप आदि के संस्कार जो वर्तमान जन्मादि में प्रकट होते हैं, उनके अनुसार सभी प्राणी परवश होकर कर्म करते हैं, ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है, फिर इसमें किसी का हठ क्या करेगा।

इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानी का व्यवहार अपनी

प्रकृति के अनुसार होने के कारण उसमें कोई नियम नहीं है। अत एव तत्त्वदृष्टि जिसे ज्ञान हो चुका था, वह भी अपने प्रारब्धानुसार व्यवहार करता हुआ भ्रमण करने लगा, और प्रारब्ध समाप्त होने पर उसके प्राण यहीं लीन हो गये [अर्थात् वह विदेह-मुक्त हो गया] क्योंकि प्रारब्ध-भोग के बाद ज्ञानी के प्राण कहीं और जगह गमन नहीं करते किन्तु जैसे जगने पर सपना साक्षी में लीन हो जाता है उसी प्रकार यहीं स्वस्वरूप ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। तथा ज्ञानी के शरीर-त्याग में काल-विशेष देश-विशेष, आसन-विशेष अथवा किसी अवस्था-विशेष की कोई आवश्यकता नहीं होती, अर्थात् ज्ञानी सर्वथा मुक्त ही है; क्योंकि जब ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है उसी समय से ज्ञानी मुक्त है। इस पर एक सांप्रदायिक श्लोक भी आता है कि:—

देहः पततु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेऽथवा।
ज्ञानसंप्राप्तिसमये सर्वथा मुक्त एव सः॥

अर्थात्—'ज्ञानी का शरीर चाहे काशी में छूटे अथवा चांडाल के घर में छूटे किन्तु ज्ञान-प्राप्ति के समय में बन्ध-भ्रान्ति (भ्रान्ति रूप संसार) की निवृत्ति हो जाने से वह ज्ञानी सर्वथा मुक्त ही है।

जैसे ज्ञानी को शरीर छोड़ने में किसी विशेष देश काल आदि की कोई आवश्यकता नहीं होती उसी प्रकार ज्ञान के लिये वेदान्त-श्रवण में भी किसी विशेष देश काल आदि की कोई आवश्यकता नहीं

होती, किन्तु उपासक को इन देश काल आदिकों की आवश्यकता रहती है।

यद्यपि भीष्म आदि ज्ञानी थे और भीष्म ने उत्तरायण बिना शरीर का त्याग नहीं किया, तथापि भीष्म आदि अधिकारी पुरुष माने जाते हैं; अतः उपासकों को उपदेश देने के लिये उन्होंने काल-विशेष की प्रतीक्षा की थी और वसिष्ट भीष्मादि अधिकारी होने के कारण उनके अनेक जन्म माने जाते हैं; क्योंकि अधिकारी पुरुषों का एक कल्प तक प्रारब्ध होता है। बिना कल्प की समाप्ति के उनका विदेह-मोक्ष नहीं होता और कल्प के बीच में उनके इच्छा-अनुसार शरीर होते रहते हैं तो भी आत्म स्वरूप में उनको जन्म मरण की भ्रान्ति नहीं होती; इसीलिये वे जीवन-मुक्त कहलाते हैं। उन अधिकारी पुरुषों का व्यवहार दूसरों के उपदेश निमित्त ही होता है किन्तु उन अधिकारी पुरुषों से अन्य ज्ञानियों के व्यवहार में कोई नियम नहीं है इसी अभिप्राय से तत्त्वदृष्टि के शरीर छूटने का कोई विशेष देश काल आदि नहीं बताए।

दूसरा अदृष्टि नामक शिष्य जिसे निर्गुण ओंकार की अहँग्रह उपासना का उपदेश मिला था वह गंगा के किनारे किसी पवित्र व एकान्त स्थान में बैठ कर निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करने लगा; क्योंकि ध्यान (उपासना) में उत्तमदेश, निरंतर काल व सिद्ध आदि आसनों की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार वह अदृष्टि ओंकार

का ध्यान करता हुआ, प्रारब्ध समाप्त होने पर, शास्त्र-रीति अनुसार [क्योंकि उपासक को शरीर छोड़ते समय उत्तम देश व उत्तम उत्तरायण-काल आदिकों की आवश्यकता रहती है] शरीर छूटने पर ब्रह्मलोक को जाकर, वहाँ के संकल्प-सिद्ध दिव्यपदार्थों को भोग कर प्रलयकाल में आत्मज्ञान होने के बाद विदेहमोक्ष को प्राप्त हो गया।

और तीसरे तर्कदृष्टि नामक शिष्य ने गुरु द्वारा उपदेश को सुन कर, उस सुने हुए अर्थ में दूसरे शास्त्रों का विरोध दूर करने के लिये, सभी शास्त्रों का अभिप्राय विचार कर यह निश्चय किया कि:—

(१) सभी शास्त्रों का परम प्रयोजन मोक्ष है।
(२) मोक्ष का साधन ज्ञान है।
(३) वह ज्ञान अद्वयनिश्चय रूप है।
(४) भेद-निश्चय यथार्थ ज्ञान नहीं।
(५) सभी शास्त्र साक्षात् अथवा परंपरा से ब्रह्म-ज्ञान के ही हेतु हैं।

संस्कृत विद्या के अष्टादश (१८) प्रस्थान (अंग) हैं:—चार वेद, चार उपवेद, छः वेद के अंग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र।

चारवेदः—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

चार उपवेदः—आयुर्वेद [इसमें शरीर आदि की चिकित्सा (इलाज) संबन्धी वर्णन है], धनुर्वेद [इसमें युद्ध संबन्धी शस्त्रादिकों का वर्णन है],

गान्धर्ववेद [इसमें स्वर, ताल, मूर्छना सहित गीत, नृत्य और वाद्य आदि का निरूपण है] और अर्थवेद [नीति शास्त्र, अश्व शास्त्र, शिल्प शास्त्र, सूपकार शास्त्र आदि धन प्राप्ति के उपाय वतलाने वाले शास्त्रों को अर्थवेद कहा जाता है]।

छः वेद के अंग:–(१) शिक्षा (२) कल्प (३) व्याकरण (४) निरुक्त (५) ज्योतिष और (६) पिंगल।

(१) शिक्षा:–यह पाणिनिजी का वनाया हुआ है और इसमें वेद के शब्दों के अक्षरों के स्थानों का तथा उदात्त, अनुदात्त व स्वरित स्वर इत्यादि का वर्णन है।

(२) कल्प:–वेद के वताए हुए कर्मों के अनुष्ठान की रीति कल्पसूत्रों में वताई गई है। इन के कर्त्ता कात्यायन आश्वलायन आदि मुनि हुए हैं।

(३) व्याकरण:–इससे लौकिक व वेद के शब्दों की शुद्धता का ज्ञान होता है। यह 'अष्टाध्यायी' नामक सूत्ररूप व्याकरण पाणिनी मुनि ने वनाया है।

(४) निरुक्त:–यास्क नामक मुनि ने त्रयोदश (१३) अध्यायरूप निरुक्त वनाया है। इसमें वेद के मन्त्रों में जो अप्रसिद्ध पद हैं उनके अर्थ को समझाने के लिये उनके पर्याय–वाची नामों का निरूपण आया है। निघँटु व अमरकोष आदि संज्ञा–बोधक कोष भी इसी के अन्तर्गत माने जा हैं।

(५) ज्योतिषः–इनके कर्त्ता आदित्य व गर्गादिक ऋषि हुए हैं। इसमें वैदिक कर्मों के उपयोगी कालादिकों का वर्णन है।

(६) पिंगलः–पिंगल नामक मुनि ने सूत्रों में अष्ट (८) अध्यायों से छन्दों का निरूपण किया है, जिससे वेद के गायत्री आदि छन्दों का ज्ञान होता है।

पुराणः–इनके कर्त्ता श्रीवेदव्यासजी हैं। ये कुल अठारह (१८) हैं, जैसे–(१) ब्रह्म (२) पद्म (३) वैष्णव (४) शैव (५) भागवत (६) नारदीय (७) मार्कण्डेय (८) आग्नेय (९) भविष्य (१०) ब्रह्मवैवर्त (११) लैंग (१२) वाराह (१३) स्कंद (१४) वामन (१५) कौर्म (१६) मात्स्य (१७) गारुड और (१८) ब्रह्मांड।

भागवत दो हैं:—(१) वैष्णव भागवत (२) भगवती भागवत। दोनों की संख्या अष्टादश सहस्र (अठारह हजार) हैं और दोनों के स्कन्द भी द्वादश (१२) हैं। परन्तु इनमें एक पुराण है और दूसरा उपपुराण है। दोनों व्यासजी के बनाए हुए हैं।

जैसे व्यासजी ने पुराण बनाए हैं वैसे उपपुराण भी कुछ व्यासजी ने बनाये हैं और कुछ पराशर आदि मुनियों के किये हुए हैं।

न्यायः–पांच अध्यायों में न्याय सूत्र गौतमजी ने बनाए हैं। इनमें युक्ति प्रधान है। कणाद मुनि के दश अध्यायों में बनाए हुए वैशेषिक सूत्रों का भी

इसी में अन्तर्भाव किया जाता है।

मीमांसाः-इस के दो भेद हैं-(१) धर्म-मीमांसा अर्थात् पूर्व-मीमांसा (२) ब्रह्म- मीमांसा अर्थात् उत्तर-मीमांसा। धर्ममीमांसा के (१२) अध्याय हैं। इसके कर्त्ता जैमिनि हैं और इसमें कर्म के अनुष्ठान की रीति का प्रतिपादन किया गया है।

ब्रह्ममीमांसा (ब्रह्मसूत्र) के चार अध्याय हैं। इसके कर्त्ता वेदव्यासजी हैं। एक एक अध्याय के चार चार पाद हैं। इसके पहिले अध्याय में बताया गया है कि सभी उपनिषद् ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। उपनिषद् वाक्यों का मन्द-बुद्धि पुरुषों को जो आपस में विरोध प्रतीत होता है, उसका परिहार दूसरे अध्याय में किया है। तीसरे अध्याय में ज्ञान और उपासना के साधनों का विचार किया गया है। और चौथे अध्याय में ज्ञान और उपासना का फल बताया है।

यह ब्रह्म-मीमांसा रूप शारीरक शास्त्र ही सभी शास्त्रों में प्रधान माना जाता है। मुमुक्षु को यही उपादेय है। इस पर कई व्याख्याएँ की गई हैं किन्तु श्रीस्वामी शंकराचार्यजी का किया हुआ भाष्यरूप व्याख्यान ही सबसे श्रेष्ठ है।

धर्मशास्त्रः—मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु, यम, अंगिरा, वसिष्ठ, दक्ष, संवर्त्त, शातातप, पराशर, गौतम, शंख, लिखित, हारीत, आपस्तंब, शुक्र, बृहस्पति, व्यास, कात्यायन, देवल और नारद आदि मुनियों के बनाये हुए स्मृति नामक ग्रन्थों को धर्मशास्त्र कहते हैं। इनमें वर्णों

आश्रम के कायिक, वाचिक व मानसिक धर्मों का निरूपण आया है। व्यासकृत महाभारत व वाल्मिकि-कृत रामायण भी धर्मशास्त्र के ही अन्तर्गत है। तथा देवता-आराधन के निमित्त जो मन्त्रशास्त्र हैं व सांख्य-शास्त्र, योग शास्त्र, वैष्णवतन्त्र, शैवतन्त्रादि भी धर्म-शास्त्र के अन्तर्भूत हैं; क्योंकि इनमें भी उपासनारूप मानस धर्म का निरूपण है।

वाममार्ग और (१) आध्यात्मिक (२) योगाचार (३) सौत्रांतिक (४) वैभापिक (५) चार्वाक और (६) दिगम्बर ये वेद को प्रमाण नहीं मानने वाले छः नास्तिक मतों के ग्रन्थ भी यद्यपि संस्कृत वाणी में हैं, तथापि वेद-बाह्य हैं; अतः वेद के अनुसारी विद्या के प्रस्थान (अंग) अष्टादश (१८) ही हैं।

इन सबको पढ़ कर तत्त्वदृष्टि ने यह निश्चय किया कि ये सभी शास्त्र ब्रह्मज्ञान द्वारा मोक्ष के हेतु हैं। कोई साक्षात् ज्ञान का हेतु है, कोई परम्परा से ज्ञान का हेतु है; क्योंकि जो शास्त्र कर्म का प्रतिपादन करते हैं, उनका भी कर्मों से ज्ञान-प्राप्ति के योग्य शुद्ध अन्तःकरण को प्राप्त करके ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्ति में ही तात्पर्य है, जो शास्त्र उपासना का वर्णन करते हैं, उनका भी उपासना से शुद्ध अन्तःकरण करके, ज्ञान द्वारा मोक्ष में ही तात्पर्य है तथा जो ब्रह्मसूत्र आदि शास्त्र ज्ञान का निरूपण करते हैं उनका तो साक्षात् ज्ञान द्वारा मोक्ष में तात्पर्य है ही। किन्तु जिज्ञासुओं को अन्य शास्त्रों में शिरपच्ची न करके केवल उत्तरमीमांसा

आदि साक्षात् ज्ञान के प्रतिपादक शास्त्रों का ही अध्ययन करना चाहिये।

फिर दूसरे विद्वानों के साथ मिलने से जब तर्कदृष्टि को यह निश्चय हो गया कि जो मेरा निश्चय है वही विद्वानों व ब्रह्मज्ञानियों का निश्चय है तब उसके सभी संशय नष्ट हो गए और अपने असली स्वरूप ब्रह्म का प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया।

तत्पश्चात् उस तर्कदृष्टि की शेष प्रारब्ध प्रवृत्ति-प्रधान होने के कारण उसे अपने वृद्ध माता पिता को देखने की इच्छा हुई। तब वह घर पहुँचा। पिता पुत्र दोनों मर्यादानुसार व बड़े प्रेम से आपस में मिले। पिता को कुछ चिन्तित देख कर पुत्र ने उस चिन्ता का कारण पूछा। तब उस राजा शुभसंतति ने कहा, "हे पुत्र ! अब तो मुझे केवल अपने कल्याण की ही चिन्ता है; अतः अब मुझे यह बताओ कि उपासना किसकी करनी चाहिये ? विष्णु के उपासक तो दूसरे देवताओं में दोष बता कर केवल विष्णु की ही महिमा गाते हैं और शिव के उपासक शिव को उपास्य बतलाकर विष्णु आदि अन्य देवताओं की निन्दा करते हैं। इसी प्रकार देवी आदिकों के उपासक दूसरे देवताओं की निन्दा करते हैं और अपने अपने इष्ट की ही बढ़ाई करते हैं। पुराणों में भी यही देखा गया है। स्कन्द पुराण में जगत् की उत्पत्ति शिव से बताई है और विष्णु आदिक शिव के भक्त हैं, ऐसा वर्णन आया है। और विष्णु पुराण पद्म

पुराण में फिर सृष्टि का कारण विष्णु को कहा है। इस प्रकार हे पुत्र ! ये भिन्न भिन्न देवताओं के उपासक तो अपने अपने इष्ट को ही उपास्य (उपासना करने योग्य) बतलाते हैं, अतः मैं कुछ निश्चय नहीं कर पाता कि किसकी उपासना करूँ, अब तुम मुझे बताओ कि वास्तव में उपासना किसकी करनी चाहिये, तो मैं उसकी उपासना में प्रवृत्त हो जाऊँ।"

यह सुन कर तर्कदृष्टि बोले "पिताजी ! यद्यपि सभी पुराणों के कर्त्ता एक व्यासजी ही हैं और उन्होंने स्कन्द पुराण में शिव के स्वतंत्रादि ईश्वरधर्म बतलाये हैं, और दूसरे देवताओं के लिये कहा है कि उन्होंने शिव की कृपा से ही सारी विभूति को प्राप्त किया है अतः वे शिव से भिन्न दूसरे देवता, जीव कोटि में हैं। तथा विष्णु पुराण व पद्म पुराण में फिर विष्णु को ही ईश्वर बतलाया है। इस प्रकार किसी को पुराण में किसी को उपपुराण में ईश्वर बताते हुए, गणेशादि दूसरे देवताओं को भी ईश्वर बताया है। इसी कारण ही वेदव्यासजी के वाक्यों में उपरि दृष्टि से विरोध प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में विरोध नहीं है; क्योंकि वस्तुतः विष्णु, शिव, गणेश, देवी, सूर्य ये सभी ईश्वर हैं। जिस प्रकरण में एक को ईश्वर बता कर व दूसरों के जीव इत्यादि धर्म कह कर जो उनकी निन्दा की है, वहाँ उनकी निन्दा करके, उनकी उपासना के त्याग में व्यासजी का अभिप्राय नहीं है, किन्तु विष्णु पुराण में शिवादिकों की निन्दा

और विष्णु की स्तुति, केवल विष्णु के भक्तों को विष्णु की उपासना में अधिक श्रद्धा से प्रवृत्त कराने के लिये ही की है। वैसे शिवपुराण में विष्णु आदिकों की निन्दा भी उपासना के त्याग के लिये नहीं किन्तु शिव के भक्तों को शिव की उपासना में अधिक श्रद्धा से प्रवृत्त कराने के लिये ही की है। यदि एक प्रकरण में दूसरे देवताओं की निन्दा, उनकी उपासना को छोड़ने के लिये मानी जायगी, तो यों तो सभी देवताओं की उपासना छूट जायगी। फिर तो कोई उपास्य देवता ही नहीं रहेगा और वेद का सारा उपासना काँड निरर्थक हो जायगा। अतः दूसरे देवताओं की निन्दा एक की स्तुति के लिये है, न कि उनकी उपासना को छोड़ने के लिये।

जैसेः—वेद में अग्निहोत्र के दो काल (समय) बतलाए हैं। एक सूर्य-उदय से पहिले और दूसरा सूर्य-उदय के बाद का काल। वहाँ उदय-काल के प्रसंग में अनुदय-काल (सूर्य उदय होने से पहिले के समय) की निन्दा की है और अनुदय-काल के प्रसंग में उदय-काल (सूर्य-उदय होने के बाद के समय) की निन्दा की है। अब वहाँ निन्दा का तात्पर्य यदि त्याग में माना जाय तो क्रमशः दोनों कालों में होम का त्याग हो जायगा; किन्तु नित्य कर्म का त्याग नहीं हो सकता; अतः यह मानना पड़ेगा कि उदय-काल की स्तुति के लिये ही अनुदय-काल की निन्दा है और अनुदय-काल की स्तुति के लिये

उदय-काल की निन्दा है। इसी प्रकार एक देव की उपासना के प्रसंग में जो दूसरे देवताओं की निन्दा की गई है, उसका तात्पर्य उस एक की स्तुति में है न कि दूसरों की निन्दा में।

जैसे शाखा-भेद से कोई उदय-काल में होम करता है तो कोई अनुदय-काल में, किन्तु फल दोनों को समान ही मिलता है। इसी प्रकार इच्छा-भेद से पांचों में से किसी की भी उपासना करने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है; अर्थात् पांचों देवताओं की उपासना का फल समान ही है। और वहाँ ब्रह्मलोक में भोग भोगने के बाद, विदेहमोक्ष की प्राप्ति होती है।

यद्यपि पुराणों में विष्णु आदिकों की उपासना से वैकुण्ठ आदि प्राप्ति का वर्णन आता है, न कि ब्रह्मलोक का, तथापि शास्त्र का यह कथन है कि, जो उत्तम उपासक (कारण ब्रह्म की अभेद उपासना करने वाले) विदेह-मुक्ति के अधिकारी हैं, वे सभी देव-यान-मार्ग से ब्रह्मलोक को ही जाते हैं। परन्तु वह एक ही ब्रह्मलोक विष्णु के उपासकों को वैकुण्ठरूप से प्रतीत होता है, तथा वहाँ के सभी लोकवासी उसे चतुर्भुज पार्षद रूप से प्रतीत होते हैं, और स्वयं को भी वह चतुर्भुजरूप से ही देखता है, इसी प्रकार शिव के उपासकों को वही ब्रह्मलोक शिवलोक प्रतीत होता है, और वहाँ के लोकवासी तथा वह स्वयं, सभी त्रिनेत्र-मूर्ति-रूप से उसे प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार सभी उपासकों को, ब्रह्मलोक ही अपने उपास्य देवता का

लोक प्रतीत होता है; क्योंकि यह नियम है कि:—बिना देव-यान-मार्ग के, जो उपासक दूसरे मार्ग से जाते हैं, उनका फिर संसार में आगमन (आना) हो जाता है, और देवयान मार्ग द्वारा गया हुआ उपासक ब्रह्मलोक को ही प्राप्त करता है; अतः विदेह-मोक्ष के योग्य सभी उपासक ब्रह्मलोक को ही जाते हैं। उस ब्रह्मलोक की ऐसी अद्भुतमहिमा है कि वह ब्रह्मलोक उपासक की इच्छा के अनुसार ही सारी सामग्री सहित होकर उसे प्रतीत होता है। इस प्रकार पांचों देवों के उपासकों को ब्रह्मलोकरूप एक समान ही फल मिलता है।

यदि कोई ऐसी शंका करे कि:—पांचों देवों के नाम व रूप भिन्न भिन्न हैं किन्तु ईश्वर तो एक है। एक ईश्वर के अनेक नाम रूप कैसे बन सकते हैं? तो उसका समाधान यह है कि:—वास्तव में परमात्मा में कोई नाम-रूप हैं ही नहीं; केवल मन्दबुद्धि मनुष्यों को उपासना में प्रवृत्त कराने के लिये ही नाम-रूप-रहित परमात्मा के माया-कृत कल्पित नाम-रूप बताए गये हैं; अतः एक परमात्मा में माया द्वारा किये हुए कल्पित नाम रूप अनेक बन सकते हैं। इस प्रकार सभी पुराणों के वाक्यों का आपस में विरोध नहीं है।

पुराण वाक्यों में विरोध शंका का मुख्य उत्तर तो यह है कि:—जैसे माया-विशिष्ट कारण को ब्रह्म कहते हैं और हिरण्यगर्भ जो कार्य है उसे भी ब्रह्म कहते हैं, इसी प्रकार विष्णु, शिव, गणेश, देवी और

सूर्य ये पांचों नाम कारण ब्रह्मतथा कार्य-ब्रह्म इन
दोनों को बोधन करते हैं (बतलाते हैं) । ऐसे इन
पांचों नामों के जो नारायण, नीलकंठ, विघ्नेश, शक्ति,
भानु इत्यादि अनेक पर्याय (समान अर्थ वाले शब्द)
हैं, वे सभी, प्रसंगानुसार कहीं कारण ब्रह्म को, कहीं
कार्य ब्रह्म को, दोनों को बोधन करते हैं । जैसे सैन्धव
पद घोड़े व नमक दोनों को बताता है । भोजन के
प्रसंग में सैन्धव पद नमक को बताता है और कहीं
जाने के प्रसंग में वही सैन्धव पद घोड़े को बताता
है । इसी प्रकार वैष्णव पुराण में विष्णु नारायण
आदि पद कारण-ब्रह्म के बोधक हैं और शिव गणेश
सूर्य आदि पद कार्य-ब्रह्म के बोधक हैं; अतः वैष्णव
ग्रन्थों में विष्णु की स्तुति और शिव आदिकों की
निन्दा से वेदव्यासजी का तात्पर्य यह है कि कारण-
ब्रह्म उपास्य (उपासना करने योग्य) है और कार्य-ब्रह्म
उपास्य नहीं है । इसी प्रकार स्कन्दपुराण आदि शैव
ग्रन्थों में शिव महेश आदि पद कारण-ब्रह्म के बोधक हैं
और विष्णु गणेश देवी सूर्य आदि पद कार्य-ब्रह्म के
बोधक हैं; अतः उनमें भी कारण-ब्रह्म की स्तुति और
कार्य-ब्रह्म की ही निन्दा है । ऐसे गणेशपुराण में गणेश
पद कारण-ब्रह्म का वाचक है और विष्णु शिव आदि
पद कार्य-ब्रह्म के वाचक हैं, अतः कारण की स्तुति
और कार्य की निन्दा है । इसी प्रकार काली पुराण में
भी काली देवी आदि पद कारण-ब्रह्म के बोधक और
विष्णु, शिव, गणेश सूर्य आदि पद कार्य-ब्रह्म के

बोधक हैं। अतः काली-पद-वाच्य कारण की स्तुति और विष्णु शिव आदि पदों के वाच्य कार्य-ब्रह्म की निन्दा है। ऐसे सौरपुराण में सूर्य भानु आदि पदों का वाच्य जो कारण-ब्रह्म है, उसकी स्तुति और अन्य पदों के वाच्य कार्य-ब्रह्म की निन्दा है। इस प्रकार सभी पुराणों में कारण-ब्रह्म की उपासना उपादेय (करने योग्य) है और कार्य-ब्रह्म की उपासना हेय (छोड़ने योग्य) है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सभी पुराण एक कारण-ब्रह्म को ही उपास्य (उपासना करने योग्य) बताते हैं; अतः उनका आपस में विरोध नहीं है।

यद्यपि विष्णु की चतुर्भुज, शिव की त्रिनेत्र, गणेश की सतुण्ड, काली देवी की अष्टभुजादि जो मूर्तियाँ हैं, वे माया के परिणाम व चेतन के विवर्त होने के कारण कार्य हैं और उनकी भी उपासना का वर्णन आया है, तथापि उन चतुर्भुज आदि मूर्तियों का जो माया-विशिष्ट-चेतन कारण है, उससे उनका वास्तव में कोई भेद नहीं है; अतः यह समझना चाहिये कि उन मूर्तियों की उपासना का तात्पर्य, उन आकारों को बाध कर, कारणरूप से उनकी उपासना करने में ही है; क्योंकि आकार कार्य होने से तुच्छ हैं और कारण सत्य है। किन्तु जिसकी बुद्धि मन्द है और वह आकार में ही चित्त को लगा सकता है तो उसे शास्त्र-उक्त आकार की ही उपासना करनी चाहिये;

जिससे उसकी बुद्धि निश्चल होने के बाद फिर कारण ब्रह्म की उपासना में लग सके।

कारण-ब्रह्म की उपासना इस प्रकार की जाती है:—ब्रह्म जगत् का कारण है, सत्यकाम, सत्यसंकल्प, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र, सब का प्रेरक तथा कृपालु है; इस प्रकार ईश्वर के धर्मों का चिन्तन करना चाहिये। मूर्ति-चिन्तन में शास्त्र का तात्पर्य नहीं है।

शास्त्रों में जो मूर्तियों का वर्णन आता है वह उपासना के निमित्त नहीं, किन्तु यह बताने के लिये कि सभी मूर्तियाँ कारण-ब्रह्म की उपलक्षण हैं। जो जो वस्तु जिसके एकदेश में हो और सदा न रहे किन्तु कभी रहे, तथा व्यावर्त्तक (दूसरों से अलग करके जनवाने वाला) हो उसे उपलक्षण कहते हैं। जैसे कोई कहे कि, "वह कौवे वाला घर देवदत्त का है" तो इस वाक्य में कौवा देवदत्त के घर का उपलक्षण है, क्योंकि कौवा उस घर के एक देश में बैठा हुआ है, वह भी सदा के लिये नहीं, किन्तु कुछ समय के लिये है, तथा दूसरे घरों से देवदत्त के घर का व्यावर्त्तक है अर्थात् दूसरे घरों से देवदत्त के घर को अलग करके जनवाता है; इसी प्रकार जगत् का कारण जो ब्रह्म है उसके एक देश में मूर्तियाँ होती हैं, वह भी सदा के लिये नहीं किन्तु कुछ समय के लिये ही, तथा वे (माया द्वारा कल्पित) चतुर्भुजादिक सभी मूर्तियाँ कारण-ब्रह्म में ही हैं न कि किसी अन्य में अतः व्यावर्त्तक (कारण-ब्रह्म को कार्य-ब्रह्म से अलग

करके जनवाने वाली) भी हैं, इससे सिद्ध हुआ कि सभी मूर्तियाँ कारण-ब्रह्म की उपलक्षण हैं।

उपलक्षण का केवल यही प्रयोजन होता है कि उससे विशेष्य-वस्तु (उपलक्षण जिस वस्तु के सहारे रह कर, उसे दूसरी वस्तुओं से अलग करके जनवाता है, उस वस्तु) के स्वरूप का ज्ञान हो, जैसे कौवे से देवदत्त के घर का ज्ञान होता है; और कोई दूसरा प्रयोजन वहाँ कौवे से सिद्ध नहीं होता, इसी प्रकार चतुर्भुज आदि आकारों (मूर्तियों) से निराकार कारण-ब्रह्म का ज्ञान होता है। बस इसी प्रयोजन को लक्ष्य करके ही शास्त्रों ने उपासना के लिये मूर्तियों का वर्णन किया है। मूर्तियों को बतलाने का इससे दूसारा कोई और प्रयोजन नहीं है।

किन्तु मन्द बुद्धि वाले लोग शास्त्र के अभिप्राय को न समझ कर आपस में एक दूसरे की निन्दा करके लड़ते ही रहते हैं। वैष्णव ग्रन्थों में शिव आदि नामों से कार्य-ब्रह्म की ही निन्दा की है, इस अभिप्राय को न समझ कर शिव आदि के उपासक दुःखी होते हैं और शैव ग्रन्थों में विष्णु आदि नामों से कार्य-ब्रह्म की निन्दा को न जान कर विष्णु आदि के उपासक दुःखी होते हैं। अतः बुद्धिमान् मनुष्यों को केवल मूर्तियों में आग्रह न करके पुराणों के इस वास्तविक तात्पर्य को समझना चाहिये कि कारण-ब्रह्म उपास्य है और कार्य-ब्रह्म त्याज्य है। माया-विशिष्ट को कारण-ब्रह्म कहते हैं और माया द्वारा रचे हुए

कार्य-विशिष्ट-चेतन को 'कार्य-ब्रह्म' कहते हैं। अतः पिताजी ! आपको अब इन कार्य-ब्रह्म के उपासकों के भिन्न भिन्न मतों को छोड़ कर केवल एक कारण-ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिये।

तब शुभसन्तति कहने लगे—"पुत्र ! अब मुझे यह समझ में आगया कि पुराणों का आपस में विरोध नहीं है और कारण-ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिये; किन्तु इन छः शास्त्रों में भी आपस में विरोध प्रतीत होता है, इन सब में कौनसा शास्त्र वेद-सम्मत अर्थात् सही है जिसका अध्ययन करना चाहिये।

तर्कदृष्टि बोले—"पिताजी ! यद्यपि छहों शास्त्रों के कर्त्ताओं को सर्वज्ञ कहते हैं। (१) सांख्य का कर्त्ता कपिल (२) योगदर्शन का कर्त्ता पतंजलि (३) न्याय का कर्त्ता गौतम (४) वैशेषिक शास्त्र का कर्त्ता कणाद (५) पूर्व-मीमांसा का कर्त्ता जैमिनि (६) उत्तर-मीमांसा का कर्त्ता व्यास। इन सबका माहात्म्य प्रसिद्ध है, अतः इनके वचनरूप शास्त्र भी सभी एक जैसे प्रमाण होने चाहियें, तथापि सभी वाक्यों में प्रबल प्रमाण वेद-वाक्य हैं; क्योंकि वेद का कर्त्ता सर्वज्ञ ईश्वर है। उसमें भ्रम, संदेह, विप्रलिप्सा (बहकाने की इच्छा) ये दोष नहीं हैं। और इन शास्त्रों के कर्त्ता जीव हैं उनमें ऊपर कहे हुए भ्रमादि दोष हो सकते हैं। यद्यपि शास्त्रकार भी सर्वज्ञ कहलाते हैं

किन्तु उनको सर्वज्ञता योग-माहात्म्य से हुई है, इसलिये वे युंजान-योगी हुए हैं और ईश्वर की सर्वज्ञता स्वभाव-सिद्ध है अतः वे युक्त-योगी हैं। जिसको चिन्तन करने से पदार्थों का ज्ञान हो उसे युंजान-योगी कहते हैं और जिसे सदा एक रस सभी पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतीत होते रहते हैं उसे युक्त-योगी कहा जता है, ऐसे केवल ईश्वर हैं।

युक्तयोगी के रचे हुए वेद-वचन प्रबल हैं और युंजानयोगी के रचे हुए शास्त्र-वचन दुर्बल हैं। अतः वेद के अनुसारी शास्त्र प्रमाण है और वेद-विरुद्ध शास्त्र अप्रमाण है। इससे सिद्ध हुआ कि वेद के विरुद्ध सांख्य आदि पांच शास्त्र अप्रमाण हैं, और उत्तर मीमांसा (ब्रह्मसूत्र) जो किसी अंश में भी वेद के विरुद्ध नहीं है, वही प्रमाण है। यद्यपि उत्तर-मीमांसा वेदव्यासजी ने सूत्रों में ही बनाया है, और उसका व्याख्यान भी अनेक पुरुषों ने नाना प्रकार से किया है, किन्तु पूज्यचरण श्रीस्वामी शंकराचार्यजी का किया हुआ व्याख्यान ही वेद-अनुसारी है, और नहीं।

और जो मन्द-बुद्धि पुरुष द्वैत-वादियों के वचनों में विश्वास करके अन्य शास्त्रों में प्रविष्ट हो जाते हैं वे पुरुषार्थ सुख से रहित होकर जन्ममरणरूप महा दुःख का अनुभव करते रहते हैं। अतः वेद-अनुसारी उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त का अध्ययन करके अपने असली स्वरूप उस अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके,

इस जन्म मरण के चक्कर से छूट कर, परमानन्द को प्राप्त करना चाहिये।

इस प्रकार तर्कदृष्टि के वचन सुनने के बाद शुभसन्तति की सभी शंकाएँ नष्ट हो गईं, और तर्क-दृष्टि को गुरु मान कर सारा राज्य उसे गुरु-दक्षिणा में दे दिया। यद्यपि तर्कदृष्टि शुभसन्तति का पुत्र था, तो भी उत्तम उपदेश करने के कारण गुरु-पदवी को प्राप्त हुआ। यह ब्रह्म-विद्या का माहात्म्य है।

फिर वह राजा बड़े उत्साह व लग्न से कारण-ब्रह्म की उपासना में प्रवृत्त हो गया। इस प्रकार उपासना करते करते प्रारब्ध समाप्त होने के बाद, शरीर के छूटने पर उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति हुई।

उपासक के मृत्यु में किसी विशेष देशकाल की आवश्यकता नहीं होती; इसीलिये राजा के मृत्यु का कोई विशेष देशकाल नहीं बताया; क्योंकि उपासक चाहे दिन में मरे अथवा रात्रि में दक्षिणायन में मरे अथवा उत्तरायण में, पवित्र भूमि में अथवा अपवित्र में, सर्वथा उपासना के बल से देव-यान-मार्ग द्वारा उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो जाती है। और अदृष्टि के प्रसंग में जो पहिले देशकाल आदि की आवश्यकता बताई थी वह योग-सहित उपासक के लिये बताई थी। केवल ईश्वर-शरण-उपासक को किसी विशेष देश-काल की आवश्यकता नहीं है। सूत्रकार श्रीवेदव्यासजी तथा भाष्यकार श्रीस्वामी शंकराचार्यजी ने इस बात का स्पष्ट रूप से कथन किया है।

तत्त्वदृष्टि फिर गुरु दक्षिणा में मिले हुए उस राज्य को अपनी तीव्रतर प्रारब्ध का फल समझ कर राजा जनक की तरह, कर्त्तापन व भोक्तापन के अभिमान को छोड़ कर सारे राज्य के कार्य को चलाने लगा। इस प्रकार राज्य के कार्य को चलाते चलाते उसे कोई विषयों का रंग नहीं लगा; क्योंकि उसे अपने असली स्वरूप अकर्त्ता अभोक्ता ब्रह्म का दृढ़ अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान हो चुका था। एवं अपना व्यवहार करते करते, प्रारब्ध समाप्त होने पर उसके प्राण यहीं लीन हो गए और आत्मा परमात्मा का आपस में अभेद हो गया। यद्यपि कूटस्थ आत्मा का परमात्मा से तो सदा ही अभेद रहता है परन्तु जो उपाधि के कारण भेद प्रतीत होता है बस उसकी ही केवल निवृत्ति होती है।

परमात्मा से अभेद का तात्पर्यः—विदेहमोक्ष में ईश्वर से अभेद होता है, न कि शुद्ध चेतन ब्रह्म से; [क्योंकि साक्षी और शुद्ध चेतन का तो सदा ही अभेद है] यह बात शारीरक-भाष्य (ब्रह्मसूत्र के भाष्य) के चौथे अध्याय में कही गई है। वहाँ यह प्रसंग है:—(१) विदेह-मुक्ति में सत्यसंकल्पादिरूप की प्राप्ति जैमिनि के मत से बताई है।

(२) औडुलोमि के मत से सत्यसंकल्पादिकों का अभाव बताया है।

(३) सिद्धान्त मत में सत्यसंकल्पादिकों का भाव अभाव दोनों बताए हैं। उसका तात्पर्य यह है कि-

जब ईश्वर से अभेद होता है अर्थात् विदेह-मोक्ष होता है तब अन्य जीवों को उस मुक्त में ईश्वर के सत्य संकल्प आदि प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में वह ईश्वर शुद्ध है, उसमें कोई गुण नहीं किन्तु निर्गुण ही है, इसलिये सत्यसंकल्पादिकों का अभाव है।

यद्यपि संसार-दशा में भी जीव वास्तव में निर्गुण व शुद्ध है, तो भी जीव को संसारदशा में अविद्या से कर्त्तापन व भोक्तापन प्रतीत होता है। ईश्वर को कभी भी आत्मा में अथवा अन्य में संसार प्रतीत नहीं होता, अतः वह सदा असग, निर्गुण व शुद्ध है, इसलिये ईश्वर से जो अभेद है वही शुद्ध से अभेद है।

यदि ईश्वर से बताए हुए अभेद को शुद्ध ब्रह्म से अभेद नहीं माना जाय तो ईश्वर को शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति कभी भी नहीं होगी; क्योंकि जीव की तरह ईश्वर को उपदेशजन्य ज्ञान व विदेहमोक्ष तो कभी होते ही नहीं हैं। और सदा प्राप्त जो उसका माया-विशिष्ट रूप है वह शुद्ध है नहीं, अतः जीव से भी न्यून ईश्वर सदा बद्ध है, ऐसा सिद्ध हो जायगा। अत एव यह मानना ठीक है कि :—(१) ईश्वर को आवरण नहीं है और इसी कारण उसे उपदेश-जन्य ज्ञान की आवश्यकता भी नहीं है। (२) आवरण के अभाव के कारण भ्रान्ति भी नहीं है; अतः वह नित्य-सर्वज्ञ व नित्य-मुक्त है। (३) उसे माया और उसका

कार्य, आत्मा में (अपने आप में) प्रतीत नहीं होता; अतः सदा असंग है, और असंग होने से शुद्ध है। इसी कारण ईश्वर से अभेद ही शुद्ध चेतन से अभेद है।

दृष्टान्त से भी ईश्वर से ही अभेद सिद्ध होता है। जैसे किसी मठ (मकान) में कोई घट (घड़ा) फूट जाय तो मठाकाश में घटाकाश का लय हो जाता है, न कि महाकाश में। इसी प्रकार विद्वान् का शरीर ईश्वर के रचे हुए ब्रह्मांड में ही नष्ट होता है और ब्रह्मांड सारा ईश्वर के शरीररूप माया के ही अन्तर्गत है। विद्वान् का आत्मा विदेहमोक्ष में ब्रह्मांड के बाहर गमन नहीं करता। अतः ईश्वर से ही अभेद होता है। परन्तु जैसे जिस मठाकाश से घटाकाश का अभेद होता है वह मठाकाश महाकाश से भिन्न नहीं किन्तु महाकाशरूप ही है; ठीक इसी प्रकार जिस ईश्वर से अभेद होता है वह ईश्वर शुद्ध ब्रह्म ही है; अतः विदेहमोक्ष में शुद्ध ब्रह्म की ही प्राप्ति होती है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानवान् की दृष्टि से विदेह-मोक्ष से पहिले भी वास्तव में ब्रह्मांडादि जगत् कुछ है ही नहीं केवल एक शुद्ध ब्रह्म ही है। अतः उसकी दृष्टि से तो शुद्ध ब्रह्म से ही अभेद होता है; उसी को शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति कहते हैं। और अज्ञानियों की दृष्टि से ब्रह्मांड आदि जगत् ज्यूँ का

त्यूँ प्रतीत होता है, अतः उनकी दृष्टि से ज्ञानी का ईश्वर से (ईश्वर के देहरूप ब्रह्मांड से) अभेद होता है। वह ईश्वर भी वास्तव में शुद्ध ब्रह्म ही है, अतः इस दृष्टि से भी ज्ञानी को विदेहमोक्ष में शुद्ध ब्रह्म की ही प्राप्ति होती है।

इति श्रीस्वामिलीलाशाहपूज्यपादशिष्यश्री-
मनोहरलालब्रह्मचारिविरचिते पूज्यवर-
ब्रह्मनिष्ठपंडितवर्यश्रीमन्निश्चलदासकृत
श्रीविचारसागरस्थगम्भीरभावदर्शे-
के श्रीविचारसागरदर्पणे जीव-
न्मुक्तिविदेहमुक्तिवर्णनं नाम स-
प्तमस्तरङ्गः समाप्तः ॥ ७ ॥

समाप्तं चेदं श्रीविचारसागरदर्पणम्



समर्पण

मुझे जो कुछ संस्कृत की योग्यता प्राप्त हुई है, उसका श्रेय श्रीदादूमहाविद्यालय (जयपुर) को है। जो कुछ भी मेरी हृदय-वाटिका में खिले हुए संस्कृत वाङ्मय पुष्प, अन्य जनों को सुगन्ध पहुँचा रहे हैं; वे सभी गुरु-जनों का प्रसाद ही है। इनके अतिरिक्त मुझ दास के पास है ही क्या, जो उन गुरुजनों को अर्पण कर सकूँ। हाँ, इतना अवश्य है कि इन पुष्पों को कुसुम-स्तबक (गुलदस्ते) का रूप दे सकता हूँ। अतः उन्हीं की कृपा से प्राप्त हुए संस्कृत वाङ्मय पुष्पों को 'श्रीदादू महाराज की जीवनी' रूपी पुष्पगुच्छ (गुलदस्ते) का रूप देकर उन्हीं के चरण कमलों में सादर समर्पित करता हूँ।

मनोहरलाल ब्रह्मचारी

निष्कामज्ञानिभक्तः श्रीदादूः

पोडशे शतके जाता, अष्टम्यां फाल्गुनस्य वै ।
साधवोऽहमदाबादे, श्रीदादूरिति संज्ञिताः ॥ १ ॥

भक्तवर्यमहाभागा, जीवब्रह्मैक्यगायकाः ।
सदा लोकोपकारायो, त्कास्तत्संलग्नमानसाः ॥ २ ॥

लोदीरामो द्विजो नाम्ना, नागरब्राह्मणः पुरा ।
सन्तत्यभावखिन्नोसा,- वासीद्व्याकुलमानसः ॥ ३ ॥

मञ्जूषामेकदापश्यत्, प्लवमानां स वाडवः* ।
श्रीसाबरमतीनद्यां, तां निःसारितवानथ ॥ ४ ॥

दृष्ट्वा ज्योतिर्मयं तत्र, हसन्तं बालकं तदा ।
आनीतवान् स्वभार्यायै, सानन्दं त्वरितं गृहे ॥ ५ ॥

तस्य भार्यापि तं गत्वा, भगवत्कृपयाऽऽगतम् ।
महाप्रेम्णा कृतं तस्य, पालनं पोषणं तदा ॥ ६ ॥

तस्याश्च स्तनयोः क्षीरं, स्यन्दमानमभूत् तदा ।
एवं लालनपोषाभ्या,- मतरच्छैशवं वयः ॥ ७ ॥

* वाडवः=ब्राह्मणः

आगत्य वृद्धरूपेण, साक्षात् श्रीकृष्ण एकदा ।
तमेकादशवर्षीयम्, तत्त्वं बोधितवान् स्वयम् ॥ ८ ॥

ज्ञानवैराग्यनिष्पन्नास्, ते दादूनामसाधवः ।
सत्संगार्थं गृहं त्यक्त्वा, स्वल्पायुष्येव निर्गताः ॥ ९ ॥

कृत्वानुगमनं तस्या,-ऽऽनीतः स स्वगृहे तदा ।
उद्वाहितः पितृभ्यां च, वडग्रामीयकन्यया ॥१०॥

विषयऽगृहबद्धोऽसौ, नाभूत् जातु महामनाः ।
ऊनविंशतिवर्षीयः, प्रव्रज्यायै गृहात् गतः ॥११॥

देशाद्देशं भ्रमन् सोऽथ, सांबरं नगरं ययौ ।
समा द्वादश तत्रासौ, तन्तुवायस्य कर्मणि ॥१२॥

तत्परो गोपनं स्वस्य, चकारविधिवन्मुनिः ।
भक्तिज्ञानविरागैश्च, जीवनं चरितार्थयन् ॥१३॥

चिरं कालं तपस्तप्त्वा, लेभे साफल्यमुत्तमम् ।
संप्राप्यापि वचःसिद्धिं, सोऽभूत् ख्यातिपराङ्-
मुखः ॥१४॥

निष्कामज्ञानिभक्तस्य, तस्य सिद्धान्त उच्यते ।
संसाराम्भोधिमग्नानां, जिज्ञासूनां विमुक्तये ॥१५॥

चतुःसाधनसंपन्नः, साधुगुर्वन्तिकं व्रजेत् ।
प्राप्नुयान्मुक्तिदं ज्ञानं, गुरोः सेवां विधाय च ॥१६॥

ततस्तच्छ्रुतज्ञानस्य, कृत्वाऽभ्यासं मुहुर्मुहुः ।
विधायान्तर्मुखां वृत्तिं, पश्येदात्मानमव्ययम् ॥१७॥

आसुरीं सम्पदं त्यक्त्वा, दैवसंपदमाश्रयेत् ।
आत्मज्ञानं सुसंपाद्य, बोधयेदितरानपि ॥१८॥

योऽनासक्तः स्वयं भूत्वा, भजेन्निष्कामभावनाम् ।
समाधिनिरतो योगी, स साधूत्तम उच्यते ॥१९॥

सिद्धान्तोऽयमुपर्युक्तः, श्रीदादूसम्मतो नरैः ।
मुक्तिकामनयात्यर्थं, पालनीयो यथाविधि ॥२०॥

संप्रदायविचारेभ्यः, स्वयमासीत् स दूरतः ।
वृद्धया तच्छिष्यसंख्यायाः,पन्थाः कश्चन निर्मितः॥२१॥

स ब्रह्मसंप्रदायश्च, पूर्वमासीदनामकः ।
ग्रन्थेऽपि लिखितं स्वस्य, केनचित् भक्तसाधुना ॥२२॥

ब्रह्मणः संप्रदायोऽयं, विद्यते लोकविश्रुतः ।
मोक्षकांक्षिणां यत्र, सदा द्वारमपावृतम् ॥२३॥

परं नासीदिदं नाम, लोके प्रचलितं तदा ।
संप्रदायोऽधुनाऽयं तु, दादूपन्थेति कथ्यते ॥२४॥

दादूमहात्मनस्त्वास,-न्नेवं शिष्याः सहस्रशः ।
मुख्यतस्तु प्रसिद्धास्ते, द्वापञ्चाशत् शतं तथा ॥२५॥

तेषां मध्ये शतं शिष्याः, प्राप्ता वैराग्यमुत्तमम् ।
शिष्याथसथनिर्माणं, कृतवन्तो न जातुचित् ॥२६॥

द्वापञ्चाशच्च शिष्यास्ते, थांभाधारीति नामकाः।
महन्तेत्यपरोपाह्वाः, शिष्यादीन् निर्ममुः सदा ॥२७॥

दादूर्महानुभावोऽस्य,-मासीदुद्वाहितः खलु।
द्वौ पुत्रौ कन्यके द्वे च,-त्यासीत्तस्य तु संततिः ॥२८॥

तेषां दादूदयालूनां, तपोनिष्ठमहात्मनाम्।
मोक्षमार्गप्रयाणं च, नरेणानगरेऽभवत् ॥२९॥

इदं स्थानं प्रधानं तत्,-संप्रदायावलम्बिनाम्।
उच्यते तत्र वै तेषां, महन्तोपाधिधारिभिः ॥३०॥

महान्ति सन्ति स्थानानि,दर्शनीयानि तत्र वै।
साधोर्महात्मनस्तस्य, दादूद्वारेतिनामकम् ॥३१॥

स्थानमस्ति मनोहारि, श्वेतप्रस्तरनिर्मितम्।
द्वापञ्चाशत्सुसाधूनां, महन्तोपाधिधारिणाम् ॥३२॥

आत्मचिन्तनलग्नानां, सदा निष्कामसेविनाम।
दादूद्वाराणि रम्याणि, विराजन्ते मठेषु च ॥३३॥

सर्वत्र भारते वर्षे, दादूमार्गावलम्बिनः।
दृष्टिगोचरमायान्ति, प्रसृता नैकसंख्यकाः ॥३४॥

राज्ये जयपुरे रम्ये, दादूवर्त्मानुयायिनाम्।
नागेतिसंज्ञको भागो, वर्ततेऽनल्पसंख्यकः ॥३५॥

साधवोऽस्य विभागस्य, विद्यन्ते वीरमानसाः।
सर्वेऽन्ये रक्तवस्त्राणि, धारयन्ति हि साधवः ॥३६॥

किन्त्वेते साधवो नागा, धवलाम्बरधारिणः ।
साधवः कृष्णवस्त्राणि, धारयन्त्यपि केचन ॥३७॥

दादूपन्थिमहात्मान, आत्मनिर्भरजीवनाः ।
ज्ञानिनो वीरविद्वांसः समयं प्राप्य सन्ति ते ॥३८॥

अधुना चापि दृश्यन्ते, विद्वत्तागुणभूपिता. ।
आयुर्वेदे च मर्मज्ञाः, कलाकाराश्च सज्जनाः ॥३९॥

द्वापञ्चाशत्सुशिष्याणां, मध्ये लब्धप्रसिद्धयः ।
आसन् ये तेऽधुना सर्व, उल्लिख्यन्ते ह्यधो मया॥४०॥

श्रीमान् गरीबदासः, सुन्दरदासस्तपस्विपूत्कृष्टः ।
श्रीजगजीवनरज्जब-बनवारीदासचतुर्भुजाः ॥४१॥

मोहनदासचपंना-जैमलचौहानकछवाहाः ।
सुन्दरजनगोपालौ, तथैव जग्गाजगन्नाथौ ॥४२॥

श्रीमद्दादूमहाभागा, नरेणानगरे शुभे ।
षष्ट्युत्तरे षोडशे वे, शतके निर्वृतिं गताः ॥४३॥

गरीबदासनामानः, ज्ञानध्यानपराः सदा ।
ज्ञानिभक्तेन्दुदादूनां, ज्येष्ठपुत्रा गुणान्विताः ॥४४॥

स्वावस्थायां यथा स्वप्नः, सत्यो हि प्रतिभासते ।
तस्य जाग्रति मिथ्यात्वं, तथा निश्चीयते जगत् ॥४५॥

नानाविचित्रचित्राणि, दृश्यन्ते यानि तत्र वै ।
सर्वप्रकाशरूपाणि, सन्ति चित्रपटे यथा ॥४६॥

एवमेवात्र संसारे, यत्किञ्चिद्नेत्रगोचरम्।
ब्रह्मरूपं च तत्सर्वं,—मित्यासीद्दादुडिंडिमः ॥४७॥

सिद्धान्तमनुसृत्येमं, गरीबदाससाधवः।
जगच्चित्रपटं ज्ञात्वा—ऽभवन्नात्मरताः सदा ॥४८॥

दादूस्थानमलंकृत्य, प्रसार्यांशु च तन्मतम्।
ध्वनन्तो रामरामेति, जाता अज्ञाननाशकाः ॥४९॥

एतदुक्तं समासेन, चरितं तन्महात्मनः।
मोचनं सर्वपापानां, स्मरतां जपतां तथा ॥५०॥

श्रीमनोहरलालेन, नित्यं तद्भक्तिमिच्छता।
लिखितं तत् शुभैः पद्यैः, स्तवनं पापनाशनम् ॥५१॥



२०१५
२०३०
श्रा वि

२६४४श्रा वि र व २६५२ २६५४
२६५८ २६६२ग २६६४ग २६६६
२६६७।
तृतीय श्रेणी—२६३६ २६४७
२६६८।

धर्मसिहवा

प्रथम श्रेणी—२६१३ग अ श्रा वि

तृतीय
३१९७
३२००
द्वितीय श्रे
३२३२ ३-३३
तृतीय श्रे

तृतीय श्रेणी—२२१५ २२२४ २२२८
२२४३ २२५५ग।

कुसीना कलां

प्रथम श्रेणी—२२७७ग श्रा वि।
द्वितीय श्रेणी

१०२२ १०८४

भरतवारी

श्रेणी—१२०२ आ वि १२६५

चुड़ेपुर

कठेला ग्राण्ट

इंधरी

[illegible]

तृतीय श्रेणी—[illegible]

खाँड़ खुर्द

द्वितीय श्रेणी—२५०२ग २५०४ ।

तृतीय श्रेणी—२५०६ग २५१२ २५१७ ।

नन्दौर

द्वितीय श्रेणी—२५२८ २५३१ २५३४ २५३५ग २५३७ २५३८ २५४० २५४२ २५४४आ वि २५४७ २५४९ २५५०आ वि ।

तृतीय श्रेणी—२५२९ २५३९ २५५० २५५८ ।

सिरटीकर

द्वितीय श्रेणी—२५६१ २५६७ २५७० २५७१ २५७४ २५८४ग २५८७ २५८८ २५९० २५९३ग २५९४ ।

तृतीय श्रेणी—२५६३ २५६६ २५७४ २५७९ २५८८ २५९६ ।

मेंहदूपार

प्रथम श्रेणी—२६२०ग आ वि ।

द्वितीय श्रेणी—२६०३ २६०१ग २६०३ग २६०७ग २६०८ २६०९ग २६१२ग २६१४ २६१५ २६१६ २६१७ २६२२ग २६२४ [illegible] ।

[illegible]

तृतीय श्रेणी—[illegible]

डुमरी उग्रसेनपुर

[illegible]

द्वितीय श्रेणी—[illegible]

धनघटा

[illegible]

तृतीय श्रेणी—[illegible]

कसौली

द्वितीय श्रेणी—३०७[illegible] ३०७८ ३०७९ग ३०८० [illegible] ३१०२ ३१०४ ३१०७ग [illegible] ३११८ग अ ३१२० ३१२[illegible] ३१२६ग ।

तृतीय श्रेणी—३०७७ ३०८३ ३०८५ ३०८६ ३०९१ ३०९३ ३०९६ ३१०१ ३१०८ ३११२ [illegible] ३१२१ ३१२२ ३१२३ ।

कुरहुटा

द्वितीय श्रेणी—३१४[illegible] ३१४८ग [illegible] ३१५४ग ३१५७ [illegible] ३१६६ ३१८३ ३१८४ ।

तृतीय श्रेणी—३१८९ ३१८२ ।

मगहरा